

नोंदणी क्रं. एफ.१६०९४(मुंबई)





महाराष्ट्र शासन
मराठी भाषा विभाग
राज्य मराठी विकास संस्था
एल्फिन्स्टन तांत्रिक विद्यालय, ३, महापालिका मार्ग,
धोबीतलाव, मुंबई - ४००००१ दूरध्वनी : (०२२) २२६३१३२५ / २२६५३९६६
संकेतस्थळ https://rmvs.marathi.gov.in इ-पत्ता rmvs_mumbai@yahoo.com

निवेदन

महाराष्ट्र राज्याचे सांस्कृतिक धोरण २०१० अंतर्गत मराठी भाषेतील प्रतिमुद्राधिकाराची (कॉपीराइटची) मुदत संपलेले दुर्मिळ ग्रंथ महाजालावर उपलब्ध करून द्यावे असे म्हटले आहे. त्यानुसार मराठी भाषा विभागाच्या आदेशाप्रमाणे (शासननिर्णय क्र. रासांधो १०१२/ प्र. क./२०१२/भाषा-३ दि. २८ मार्च २०१३) राज्य मराठी विकास संस्थेद्वारे असे ग्रंथ आणि नियतकालिके महाजालावर उपलब्ध करून देण्याचा प्रकल्प राबवण्यात येत आहे. त्याच बरोबर प्रतिमुद्राधिकाराच्या कक्षेत येणारी काही साधनेही प्रतिमुद्राधिकारधारकांची उचित अनुमती प्राप्त झाल्यास संस्थेद्वारे संगणकीकृत करून अभ्यासकांसाठी उपलब्ध करून देण्यात येत असतात.

चित्रकार दीनानाथ दलाल ह्यांनी सन १९४७ ते १९७१ दरम्यान प्रसिद्ध केलेल्या दीपावली ह्या नियतकालिकाच्या अंकांचे संगणकीय स्वरूपात जतन करण्याबाबतचा प्रस्ताव चित्रकार दीनानाथ दलाल मेमोरिअल समिती, मुंबई ह्या संस्थेद्वारे राज्य मराठी विकास संस्थेस प्राप्त झाला होता. सदर प्रस्तावानुसार दुर्मिळ मराठी ग्रंथांचे संगणकीकरण ह्या प्रकल्पांतर्गत दीपावली नियतकालिकांचे अंक संगणकीकरण करून ते सार्वजनिकरीत्या आणि विनामूल्य उपलब्ध करून देण्यासंदर्भात राज्य मराठी विकास संस्थेद्वारे सहमती दर्शविण्यात आली.

चित्रकार दीनानाथ दलाल मेमोरिअल समिती, मुंबई ह्या संस्थेद्वारे सदर अंक संगणकीकरणासाठी उपलब्ध करून देण्यात आले. सदर संस्थेच्या सहकार्यामुळेच आपल्याला ही सामग्री संगणकीय स्वरूपात उपलब्ध होत आहे.

या अंकांच्या पीडीएफ प्रती आपण विनामूल्य उतरवून घेऊ शकता. असे करताना खालील सूचना लक्षात घेऊन त्यांचे पालन करावे.

१. सदर ग्रंथांच्या पीडीएफ प्रती या वैयक्तिक वापरासाठी विनामूल्य उतरवून घेता येतील तसेच इतरांनाही विनामूल्य देता येतील. पण कोणत्याही कारणासाठी त्याचा व्यावसायिक वापर करता येणार नाही.
२. सदर ग्रंथांचे दुवे इतरांना देताना त्यासाठी कोणतीही रक्कम आकारता येणार नाही.
३. पीडीएफ प्रतींवर असलेली राज्य मराठी विकास संस्था, मुंबई व चित्रकार दीनानाथ दलाल मेमोरिअल समिती, मुंबई यांची मुद्रा आपणास काढता येणार नाही.
४. आपल्या अभ्यासासाठी, संशोधनासाठी या सामग्रीचा उपयोग करताना आपण योग्य तो श्रेयनिर्देश केला पाहिजे.

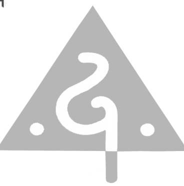
वरील अटींचा भंग झालेला आढळल्यास कायदेशीर कारवाई करण्यात येईल.

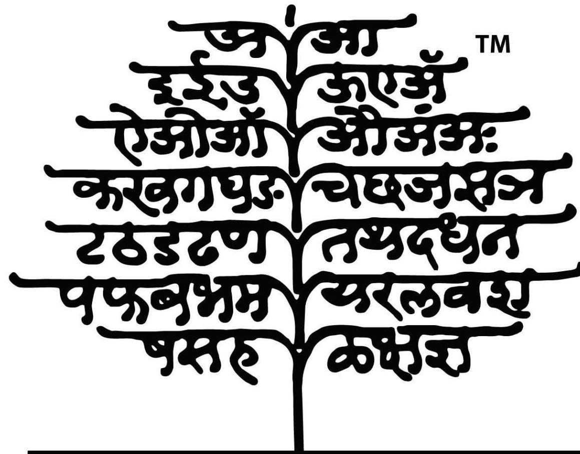
स्पष्टीकरण : सदर सामग्री ही केवळ ऐतिहासिक दस्तऐवज म्हणून उपलब्ध करण्यात आली असून या सामग्रीतून व्यक्त होणारी मते, विचारसरणी इ. त्या त्या लेखक, संपादक इ. कर्त्यांची आहे. त्यांपैकी कोणतेही मत, विचारसरणी इ. यांचा पुरस्कार महाराष्ट्र शासन, मराठी भाषा विभाग, राज्य मराठी विकास संस्था व चित्रकार दीनानाथ दलाल मेमोरिअल समिती, मुंबई यांपैकी कुणीही करत नसून त्या त्या मताचे वा विचारसरणीचे दायित्व उपरोक्त विभागांवर/ संस्थांवर असणार नाही.

सदर अंक केवळ अभ्यासकांच्या सोयीसाठी संगणकीय स्वरूपात उपलब्ध करण्यात येत असून अंकांतील सामग्रीचे (लेखन, मांडणी, छायाचित्रे, रेखाचित्रे इ.) प्रतिमुद्राधिकार त्या त्या लेखकांकडे अथवा प्रकाशकांनी त्या त्या वेळी केलेल्या व्यवस्थेनुसार आहेत ह्याची नोंद घेण्यात यावी. त्या सामग्रीसंदर्भातील कोणतेही अधिकार वा दायित्वे राज्य मराठी विकास संस्था, मराठी भाषा विभाग किंवा महाराष्ट्र शासन ह्यांच्याकडे असणार नाहीत.

अनुक्रमणिका







मराठीचा विकास : महाराष्ट्राचा विकास

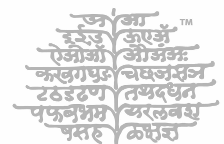
राज्य मराठी विकास संस्थेद्वारे
संगणकीकृत

अनुक्रमणिका

दीपावली

लाल आर्ट स्टुडिओ प्रकाशन

अनुक्रमणिका







दीपावलि शुभचिंतन
'यह
दिवाली
और नूतन वर्ष
हमारे ग्राहकोंको
तथा हितचिंतकोंको
सुखसमृद्धी और
आनंद दे.'
किर्लोस्कर ऑईल एंजिन्स् लिमिटेड, पुना-३ (भारत)
TOM & BAY
KOEL. M-12:63



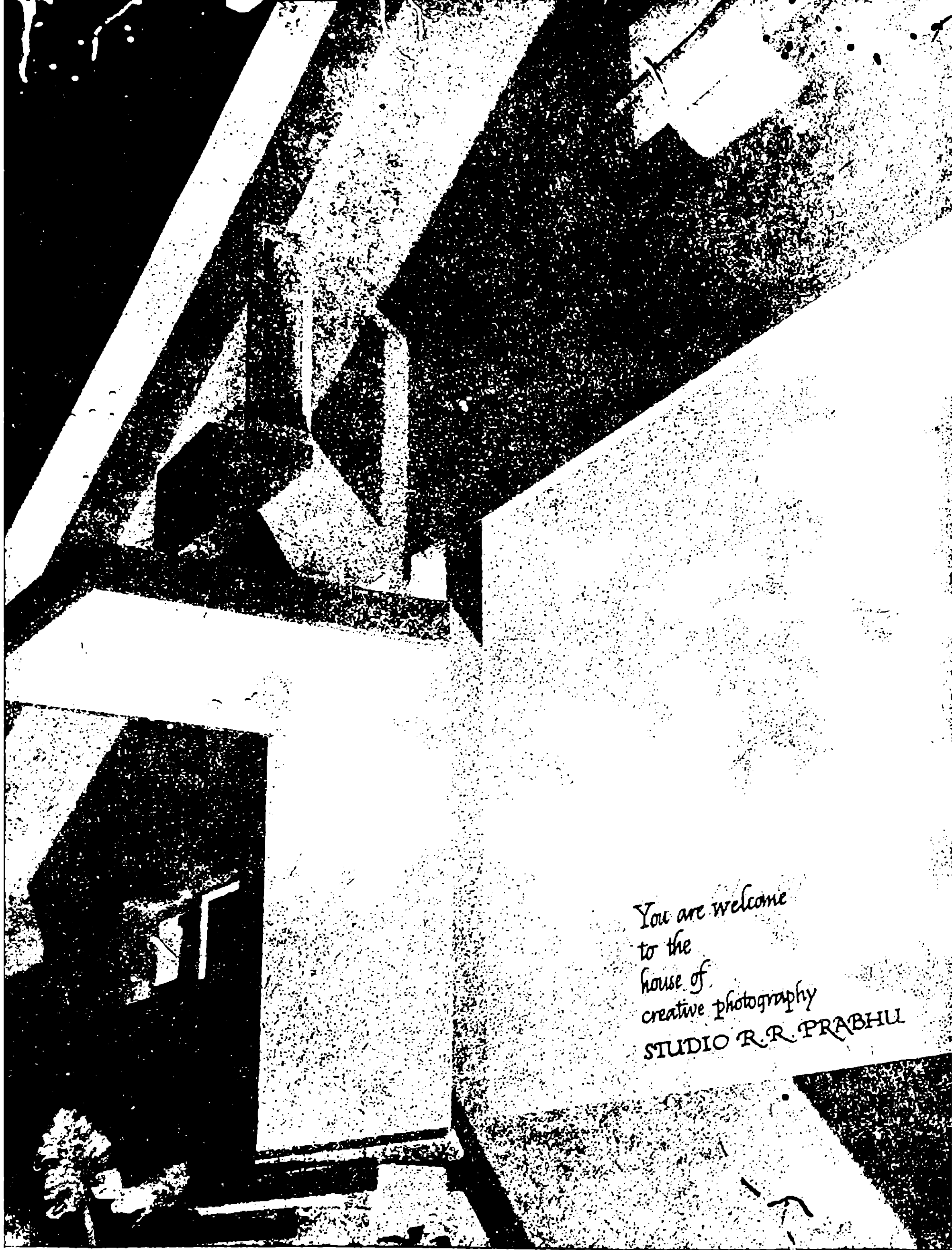


अनुक्रमणिका

राज्य मराठी विकास संस्थेद्वारे संगणकीकृत



दीनानाथ दलाल मेमोरिअल ट्रस्ट


You are welcome
to the
house of
creative photography
STUDIO R.R. PRABHU

दस वर्षों से हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में तहलका मचा देनेवाला

दलाल आर्ट स्टूडिओका अभिमानास्पद प्रकाशन





दीपावली

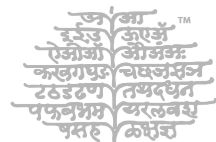
राष्ट्रीय हिंदी-वार्षिक

वर्ष ग्यारहवाँ
१९६३



श्रेयनामावलि

संपादक : दीनानाथ दलाल
कार्य. संपादक : सुधाकर तोरणे







हृद्गत!

दीपावली राष्ट्रीय हिंदी–वार्षिक का यह ग्यारहवाँ संकलन हमारे प्रिय पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ी खुशी हो रही है। गत वर्ष के चीनी आक्रमण की छाया आज तक भारत पर कायम है। हमारी उत्तरी सीमा के हिमगिरीपर शहीदों के खून के दाग आज भी हमें उनकी याद दिला रहे हैं।

भारतीय जवान भारतीय-संस्कृति के, भारतीय एकता के प्रतीक हैं। साहित्य, संगीत, कला ये हमेशा जवानों की ताकत बढ़ाते हैं। दीपावली हिंदी राष्ट्रीय वार्षिक नत होकर साहित्य-कला का अपूर्व संकलन प्रतिवर्ष सादर करता है।

गत दस वर्षोसे नव-नवीन प्रयोग करनेकी चेष्टा दीपावली-वार्षिक करता आया है। इस वर्ष दो रंगीन व्यंग्य-चित्र-मालाएँ पेश करके साहित्य–क्षेत्रमें खलबली मचा देनेका कार्य दीपावली-वार्षिक करना चाहता है। साथ-साथ ज्येष्ठ साहित्यिकों की उत्कृष्ट रचनाएँ तथा नवीन साहित्यिकोंकी श्रेष्ठ–कृतियाँ भी प्रकाशित करनेका हमारा मरसक प्रयत्न है।

इस वर्ष अंक छपाने की जिम्मेदारी स्टेट्स पीपल प्रेस ने उठायी थी। हमारे कामगार साथियों ने हमारा काम बड़ी लगन से किया है। इसलिए साथी प्रभाकर देव तथा प्रेस के सभी कामगार साथियों के प्रति हम कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

मेसर्स टॉम एण्ड बे के साथी गणेशराव ताम्बे तथा साथी दामोलकर हमें प्रतिवर्ष सहयोग देते आये हैं। हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं।

बॉम्बे प्रोसेसं के संचालक साथी मोहनराव कामत तथा शंकर एण्ड कंपनी के साथी विष्णुपंत कडव इस अंक की शोभा बढ़ाने में हमेशा हमारा हाथ बँटाते हैं।

इस अंक की रंगीन छपाई प्रिमिअर ऑफसेट वर्क्स, आशा प्रिंटरी तथा जगदीश्वर प्रिंटिंग प्रेस में हुआी है। इनके मालिक, सर्वश्री शहा, मालपेकर तथा मालचंद्र पाठक इनके हम आभारी हैं।

सम्पादन कार्य में साथी मनोहर चंदावरकर का सहयोग आरंभ से अंत तक रहा है। आपका सहयोग शब्दों में अंकित करना हमारे लिए असंभव है। साथी प्रताप सिंह गिल, बाबासाहब परुळेकर, अँण्टोनी डिसोझा तथा साथी मधुकर कोसारे की सहायता भी अनमोल है। इनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अत्यंत आवश्यक है।

यह दीपावली तथा नूतनवर्ष हमारे रसिकों, पाठकों, लेखकों विज्ञापनदाताओं तथा हितैषियों को सुखसमृद्धि का हो।

—सम्पादक

रंगीन छपाई : प्रिमिअर ऑफसेट वर्क्स, बंबई. जगदीश्वर प्रिंटिग प्रेस तथा आशा प्रिंटरी, बंबई.

यह वार्षिक, मालिक, संपादक, मुद्रक तथा प्रकाशक श्री दीनानाथ दलाल ने स्टेट्स पीपल प्रेस, जन्मभूमि भवन, घोगा स्ट्रीट, फोर्ट. बंबई-१, में छपाकर दलाल आर्ट स्टूडियो, ४०/४२ केनेडी ब्रिज, बम्बई-४, में प्रकाशित किया।







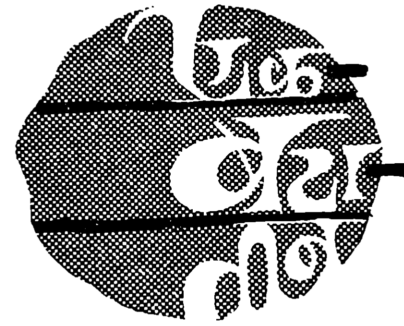
भारतीय संस्कृति में 'जिजीगिषु' का तत्व सम्मिलित है। दूसरों को जिन्दा रहने देना और खुद जिन्दा रहना यही हमारे भारतीयों का महान तत्व है। पुरातन कालसे इसी धारणा तथा भावना को लेकर हम प्रगति पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। इस भावना को जब कभी आँच आयी तब हम भारतीयों ने एकता को अपनाया। एकता ही बल है। एकता के बलपर ही हम अपने शत्रुओं पर मात करते आये हैं। हमारा इतिहास इसका साक्षी है। पुरातन काल में ऐसी ही परिस्थिति जब कभी निर्माण हुआें तब देवों की शरणमें जाकर उनसे आशीर्वाद और मदद की मांग की गयी थी। पुराण काल में ऐसी ही एक कथा प्रचलित है कि नरकासुर का नाश करने के लिये रुद्र का आवाहन किया गया था। सर्वशक्तिमान शंकर ने नरकासुर का वध किया। उस काल में समस्त भक्तगण शिवशंकर के पार्श्व में खड़े अपनी भावना तथा एकता को दर्शाते थे।

आज भी वैसी ही परिस्थिति हमारे सम्मुख है। हम आज तक सोच रहे थे कि महान हिमालय हमारी उत्तरी सीमाओंका संरक्षण भली भांति कर पाएगा, लेकिन आज हमारा वह विश्वास डगमगा गया है। आज फिर एक बार भावनात्मक एकता की आवश्यकता आ पड़ी है। हमारी एकता रूपी चट्टानपर हम अपने सर्वप्रिय पंतप्रधान को खड़ा करनेकी इच्छा रखते हैं। चीनियों के आक्रमण से जो नरकासुर हमारी अखंडता को तोड़ने की कोशिश कर रहा है उसे हमारे 'रुद्र' अवश्य नाश करेंगे। यह हमारा विश्वास है।

--प्रतापसिंह

अनुक्रमणिका





—मोहनसिंह सेंगर

उस दिन सुबह जब पप्पू ने न तो दूध पिया और न टोस्ट ही छुए, तो प्रभा बड़ी उद्विग्न हुई। झल्ला कर बोली—"अच्छा बाबा, आज जरूर ले चलूंगी तुझे प्रदर्शनी दिखाने। ग़लती हुई, माफ़ कर दे। सच कहती हूं, आज जरूर ले चलूंगी।"

सहसा मुंह फुलाए बैठे पप्पू का चेहरा खिल उठा। उसकी आंखों में शरारत-भरी हँसी झाँक उठी और उछलकर वह माँ के गले से लिपट गया। बोला— "मेरी अच्छी मम्मी, तुम सचमुच बहुत अच्छी हो।"

"बस, बस रे, बहुत हो चुका।"—कहते हुए प्रभा ने उसे फुसला कर अपने से अलग करते हुए कहा— "एक साथ इतना प्यार नहीं किया करते मम्मी को। अच्छा, अब चट् से नाश्ता तो कर ले। फिर चलते हैं प्रदर्शनी देखने।"

"हाँ जरूर, अभी लो।"—कह कर पप्पू धम्म—से ज़मीन पर बैठ गया और जल्दी-जल्दी टोस्ट खाने और हर ग्रास के साथ दो-एक घूंट दूध पीने लगा।

"ज़रा धीरे-धीरे आराम से खा। ऐसी भी आखिर क्या जल्दी है?"

"अच्छा, यह लो।"—कह कर पप्पू ने विनोद-भाव से दांतों से टोस्ट का बिल्कुल ज़रा-सा टुकड़ा काटा और दूध का प्याला मुंह से छुआकर फिर नीचे रख दिया।

इस पर झुंझलाहट के बावजूद प्रभा अपनी हँसी नहीं रोक सकी। बोली—"देख पप्पू, तुझे किसी चीज़ की कमी तो है नहीं। तेरे लिए मैं क्या नहीं करती? पर कभी-कभी तू जो फिजूल की ज़िद पकड़ता है, तो सच कहती हूं, बस, मेरा जी ही जल जाता है।"

"जला करे मेरी बला से!"—बड़ी लापरवाही से हँस कर पप्पू ने कहा—"लेकिन आज तो चाहे तुम्हारा जी जले या और कुछ हो तुम्हें मुझे प्रदर्शनी दिखानी ही होगी। बस, चलो, जल्दी करो। मैं और कोई बात नहीं सुनूंगा, हाँ।"

"न सुन। पर आ, तेरे हाथ-मुंह धोकर कपड़े तो बदल दूं। इन कपड़ों से भी कहीं कोई राजा बेटा प्रदर्शनी देखने जाता है?"

"अच्छी बात है। तो चलो, जल्दी करो।"

प्रभा पप्पू को बाथरूम में ले गई। उसके हाथ-पाँव धुलवा कर उसने उसके कपड़े बदले। बाल ठीक किए। मौजे-जूते पहनाए। फिर स्वयं कपड़े बदल कर उसे साथ ले बस के अड्डे की तरफ़ चल पड़ी।

आज छुट्टी का दिन था। फिर प्रदर्शनी की धूमधाम के क्या कहने? सो अड्डे पर खासी बड़ी लाइन लगी थी। प्रभा और पप्पू भी उसी में जा खड़े हुए।

बसें काफ़ी देर के बाद आ रही थीं और इतनी भरी होती थीं कि सिर्फ़ चार छः लोगों को ही लेकर चल पड़ती थीं। काफ़ी लम्बी प्रतीक्षा के बाद प्रभा और पप्पू का नम्बर आया। पप्पू को घसीटती हुई प्रभा जल्दी से एक बस में चढ़ने ही लगी थी कि सामने की सीट पर परितोष को लिली के साथ बैठा देख उसका पाँव ऊपर उठने के बजाय वापस नीचे खिसक आया।

अनुक्रमणिका

काश, लिली को भी कल ऐसे ही सोचना और पूछना .....
पता नहीं, इन पुरुषों में यह क्या मर्ज है? पता नहीं, ये नारी में आखिर चाहते क्या हैं? और नारी?
वह सचमुच क्या इतनी बुध्दू है कि ऐसे भुलावों में आकर इतनी आसानी से
एक दूसरी नारी की सौत बनने को तैयार हो जाती है?

परितोष ने उसे शायद नहीं देखा था, पर लिली की आंखें उससे चार होते ही उसने दूसरी तरफ मुंह फेर लिया था। प्रभा फौरन बस की सीढ़ी पर से पांव हटाकर बस ही की ओट में एक ओर हो गई।

पप्पू की कुछ समझ में नहीं आया। उसने प्रभा का हाथ खींचते हुए विरक्ति-भरे स्वर में कहा— "मम्मी, चलो न। यह तुम किधर जा रही हो? देखो न, सब तो जा रहे हैं।"

पर प्रभा ने उसकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। वह पप्पू को घसीटती हुई-सी क्यू से दूर हटकर खड़ी हो गई। सहसा उसका चेहरा विवर्ण हो गया था। रह-रह कर वह आंखें मूंद लेती थी।

सवारियां पूरी होते ही कंडक्टर ने घंटी बजाई और ठहरा कर बस चल पड़ी। पप्पू ने फिर बिलख कर कहा— "यह तुम्हें हो क्या गया है, मम्मी? तुमने वह बस छोड़ क्यों दी?"

एक क्षण सूनी दृष्टि से पप्पू की ओर देखते रहने के बाद प्रभा ने कहा— "आज मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं है रे। फिर कभी चलेंगे प्रदर्शनी देखने।"

"नहीं, मैं तो आज ही जाऊंगा।"— प्रभा का हाथ खींचते हुए पप्पू ने कहा।

"तो जा मेरी बला से चूल्हे में!"— कह कर प्रभा ने उसका हाथ झटक दिया और खिन्न होकर तेज़ी से आगे बढ़ते हुए बोली— "चलना हो, तो जल्दी से चल। मैं तो घर जाती हूं।"

पप्पू ने मां का ऐसा रूप पहले कभी भी नहीं देखा था। उसकी आंखें भर आईं। वहीं बुत बना खड़ा-खड़ा वह डबडबाई आंखों से मां को घर की ओर जाते देखता रहा। पता नहीं, कब तक वह इसी तरह वहां खड़ा रहा।

★ ★ ★ ★

घर पहुंच कर प्रभा ने जल्दी से ताला खोला और निढाल होकर एक आरामकुर्सी पर जा गिरी। उसे ज़ोर-ज़ोर से सांस चलने के साथ ही जैसे कंपकंपी-सी भी आ रही थी—। सहसा उसे याद आया वह दिन, जिस दिन वह परितोष के साथ रेस्त्रां में बैठ कर चाय पी रही थी और सहसा उसकी पहली पत्नी गार्गी ने आकर खीझकर कहा था— "इस दुष्ट के चंगुल में फंस कर तुम भी सुख नहीं पाओगी, रानीजी। याद रखना, हां! आखिर तुममें ऐसा क्या है, जो मुझमें न था?" और फिर हवा के तेज़ झोंके की तरह वह जिस आकस्मिकता और तेज़ी के साथ आई थी, उसी से वहां से चली भी गई। प्रभा के मन में संदेह का एक अंकुर कौंध-सा गया था उस समय।

पर दूसरे क्षण परितोष ने उसका हाथ अपने दोनों हाथों में लेकर कोमलता से दबाते हुए उसकी आंखों में आंखें डाल कर कहा था— "रानी, अब तुम्हीं बताओ कि ऐसी असभ्य, अव्यावहारिक और कर्कशा के साथ मैं अपने जीवन का एक क्षण भी कैसे बिता सकता हूं? इसीलिए तो इसे तलाक देने को बाध्य हुआ हूं।" और प्रभा कुछ कहे, इससे पहले ही परितोष मूड खराब होने का बहाना बनाकर वहां से प्रभा को उठा लाया था फिर दोनों एकान्त की खोज में शहर के किसी दूर के बाहरी हिस्से में जाकर बड़ी देर तक टहले थे। न जाने कितनी बातें हुई थीं दोनों में और प्रभा सचमुच परितोष की उन बातों में आ गई थी।

• • •

फिर सहसा उसे ख़याल आया कि उसने भी आज यों चुपचाप चले आकर अच्छा नहीं किया था। परितोष की पहली पत्नी की तरह बस में ही लिली से कुछ कह कर वह कर्कशा चाहे न बनती, पर उन दोनों का सामना तो कर ही सकती थी। दोनों को नए शुभ परिणय पर बधाई तो दे ही सकती थी। देखती तो सही कि वे दोनों उसे देखकर कैसा व्यवहार करते हैं। पर नहीं, इतना आत्मविश्वास शायद उसमें नहीं था। इतना काबू

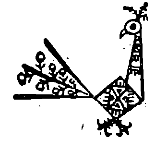


अनुक्रमणिका



यह महिला बिना झिझक के खरीदती है

हैंडलूम हाउस की
साडियाँ,
विविध परिधान, लिनन
और सजावट के साजसामान
सब बेजोड,
आधुनिकता के साथ परंपरागत
सुरुचिपूर्ण मेलवाली डिजाइनें,
क्या बुनावट और क्या बनावट।
कीमतें भी ऐसी कि सबको लुभायें
शुद्ध हाथ करघे से बने वस्त्र।



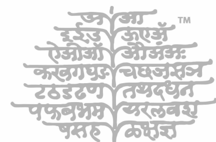
हैंडलूम हाउस,
२२१, डा. दादाभाई नौरोजी रोड,
बम्बई १-बी. आर.





तपस्विनी
गंगा
दीपावली १९६३

अनुक्रमणिका





अपने आप पर उसका शायद नहीं था। और इसमें थोड़ी सी भी कमी होने पर पता नहीं, वह क्या कह या कर बैठती? उसके दिमाग में तो रह-रह कर एक ही बात घूम रही थी कि आखिर लिली में ही ऐसा क्या है, जो उसमें नहीं है।

इसी समय गार्गी का चेहरा उसकी आँखों के सामने तैर आया। वह भी मानो परितोष से पूछ रही हो कि प्रभा में आखिर ऐसा क्या है, जो मुझ में नहीं है? फिर सहज ही उसके अधरों पर एक कुंचित-सी मुस्कान खेल गई– काश, लिली को भी कल ऐसे ही सोचना और पूछना पड़े। पता नहीं, इन पुरुषों में यह क्या मर्ज है? पता नहीं, ये नारी में आखिर चाहते क्या हैं? और नारी? वह क्या सचमुच इतनी बुद्धू है कि ऐसे भुलावों में आकर इतनी आसानी से एक दूसरी नारी की सौत बनने को तैयार हो जाती है?

पता नहीं, आज उसे कहाँ-कहाँ जाना था और क्या-क्या करना था। पर अब तो उसका मूड ऐसा खराब हो गया था कि वह सब-कुछ भूल गई थी। यहाँ तक कि उसे पप्पू की सुधि नहीं रही थी।

थोड़ी देर बाद पलँग पर लेट कर वह एक पुस्तक उठाकर पढ़ने की कोशिश करने लगी। पर पढ़ने में आज उसका जी बिल्कुल नहीं लग रहा था। पुस्तक एक ओर पटक कर वह न जाने क्या-क्या सोचते हुए करवटें बदलने लगी। इसी स्थिति में पता नहीं कब उसकी आँख लग गई।

★ ★ ★ ★

दरवाज़े पर ज़ोर ज़ोर से किसी के दस्तक देने की आवाज़ से जब प्रभा की नींद टूटी, तो उसने देखा कि काफ़ी अँधेरा हो चुका है। सहसा उसे ध्यान आया पप्पू का– पता नहीं वह इतनी देर तक कहाँ और कैसे रहा होगा?

दस्तक फिर हुई। प्रभा ने सोचा, अवश्य ही यह पप्पू है। उसने दौड़कर बत्ती जलाई और दरवाज़ा खोलते हुए बड़े व्यग्र-स्वर में कहा–– "पप्पू मेरे प्यारे लाल! तू कहाँ था अब तक?"

पर दरवाज़ा खुलने के साथ ही उसे दिखाई दिया परितोष। वह पप्पू को गोद में लिए था और उसके सिर को अपने कंधे से लगाए था। एक क्षण उसे देखकर प्रभा सन्न-सी रह गई– जैसे उसकी कुछ समझ में ही न आ रहा हो। फिर तुनक कर पूछा– "तुम यहां कैसे?"

"अपनी इच्छा से नहीं, पप्पू ही खींच लाया मुझे यहां तक।" –धीर-गंभीर स्वर में परितोषने कहा।

"पप्पू खींच लाया? यह कहाँ मिला तुम्हें?"

"प्रदर्शनी में। मालूम होता है, बहुत घूमने से वह बेहद थक गया। इसीसे उसे बुखार भी हो आया है।"

"क्या कहा, बुखार?"

"हाँ, देखो न, उसका शरीर बिल्कुल तवे-सा तप रहा है।"

"तो लाओ, मुझे दो उसे।"– कह कर प्रभा ने उसे अपनी गोद में लेने के लिए दोनों हाथ बढ़ा दिए।

"नहीं, जरा ठहरो।"–कह कर परितोष ने खुद ही आगे बढ़कर उसे पलँग पर लिटा दिया और पास पड़ी चादर खींच कर उसे ओढ़ाते हुए कहा– "कोई खास बात नहीं है, थकान से बुखार हो गया लगता है। जरा आराम करने से ठीक हो जायगा।"

"अच्छी बात है। इस कष्ट और कृपा के लिए तुम्हें अनेक धन्यवाद।"

"धन्यवाद किस बात का? यह औपचारिकता भला किस लिए? क्या तुम्हारे ही जितना पप्पू पर मेरा अधिकार नहीं है?"

"सो मैं क्या जानूं?"

"नहीं, तुम और मैं दोनों ही इस बात को खूब जानते हैं। हां अगर धन्यवाद देकर तुम मुझे विदा ही करना चाहती हो, तब दूसरी बात है।"

"और नहीं तो क्या तुम यहां धरना देने आए हो?"

"धरना तो शायद नहीं, पर हां, जब आ ही गया हूं, तो तुम से कुछ कहना जरूर चाहता हूं।"

"क्या अभी भी कहने को कुछ बाकी बच रहा है?"

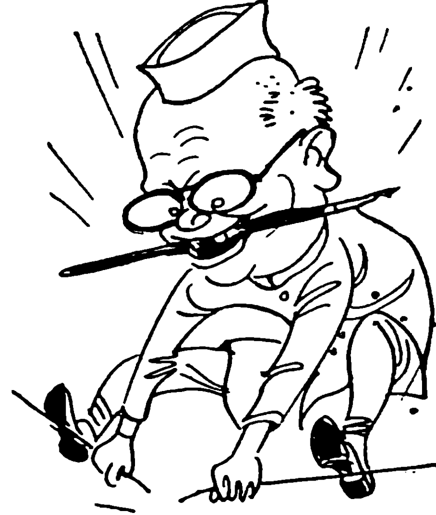
"हाँ, शायद बहुत कुछ।"

"तो उसे अगले जीवन या अपनी चौथी प्रेयसी के लिए रख छोड़ो।"– आवेश में आकर प्रभा ने कह तो दिया, पर दूसरे ही क्षण उसे लगा जैसे वह व्यंग्य शायद बहुत तीखा हो गया है।

परितोष ने एक उखड़ी हुई-सी दृष्टि प्रभा के चेहरे पर डाली और फिर तनिक गंभीर हो कर कहा– "तुम्हें सब कुछ कहने का अधिकार है, प्रभा। और चूंकि दोषी या अपराधी मैं ही हूं, मैं सब-कुछ सुनने को भी तैयार हूं। पर इससे भला लाभ क्या होगा? हम किस नतीजे पर पहुंचेंगे?"

"हम से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? अगर इससे तुम्हारा आशय मुझसे और अपने-आप दोनों से है, तो हम तो कभी के अपने स्वाभाविक नतीजे पर पहुंच चुके हैं।"

हमारे लेखक :



राजकीय लेखक-कसरतबाज़





"लेकिन वही तो अन्तिम नहीं है। फिर यह तो तुम भी स्वीकार करोगी कि आदमी से जैसे भूल या ग़लती हो सकती है, वैसे ही वह उसे सुधार भी तो सकता है।"

"शायद।"

"तो बस, मैं आज तुमसे यही कहने आया हूं कि मुझ से जीवन में एक बहुत बड़ी भूल हुई है और एक वार नहीं दो बार, बल्कि तीन बार। पर आज मैं उसे सुधारने में तुम्हारी सहायता एवं सहयोग चाहता हूं।"

"मुझ से कैसी सहायता और सहयोग? मैं समझी नहीं तुम्हारा मतलब।"

"इसमें ऐसी रहस्यपूर्ण बात ही क्या है, जो तुम नहीं समझोगी? मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि क्या यह सम्भव हो सकता है कि हम लोग पिछली बातों को एकदम भूल जायँ और फिर नए सिरे से अपनी ज़िन्दगी शुरू करें?"

"तुम क्या इसे इतना आसान समझते हो, परितोष? जीवन क्या निरा गुड्डे-गुड़िया का खेल-भर ही है?"

"काश, वह वैसा ही होता। कभी-कभी हम लोग व्यर्थ ज़रूरत से ज्यादा गंभीर हो जाते हैं। पर जो-कुछ भी हो, मेरी बात का साफ़-साफ़ जवाब दो-चाहे अभी, और चाहे बाद में सोच कर।"

"मेरे पास तुम्हें देने लायक कोई जवाब नहीं है अब।"

"ख़ैर, तुम्हारी मर्जी। पर एक बार फिर सोच देखना। अगर कभी तुम मेरी भूलों को क्षमा कर तथा अपने मन के संदेह और अविश्वास से ऊपर उठकर सही ढंग से सोच कर कोई निर्णय कर सको, तो मुझे सूचना देना।"

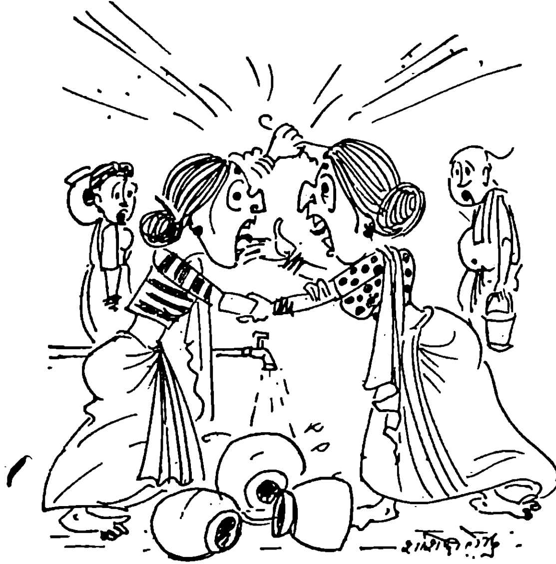
एक क्षण प्रभा चुप रही। फिर विरक्ति-भरे स्वर में कहा-"अच्छी बात है।" यह कह कर उसने सिर झुका लिया।

★ ★ ★ ★

कई दिनों बाद परितोष को दफ्तर में किसी ने फ़ोन किया-"क्यों जी, तुम भी बड़े अजीब आदमी हो? उस दिन पप्पू को इतने बुखार में छोड़ गए थे। फिर कभी आकर उसकी खबर तक न ली। वह तुम्हें बड़ा याद कर रहा है। कई बार पूछ चुका है। अब तुम्हीं बताओ, भला मैं क्या कहूं उससे?"

परितोष की बाछें खिल गई। उसने बड़ी मुश्किल से अपनी खुशी और हँसी पर काबू पाने की कोशिश करते हुए सहज भाव से कहा — "जो तुम चाहो। मैं अभी आया।" ● ● ●

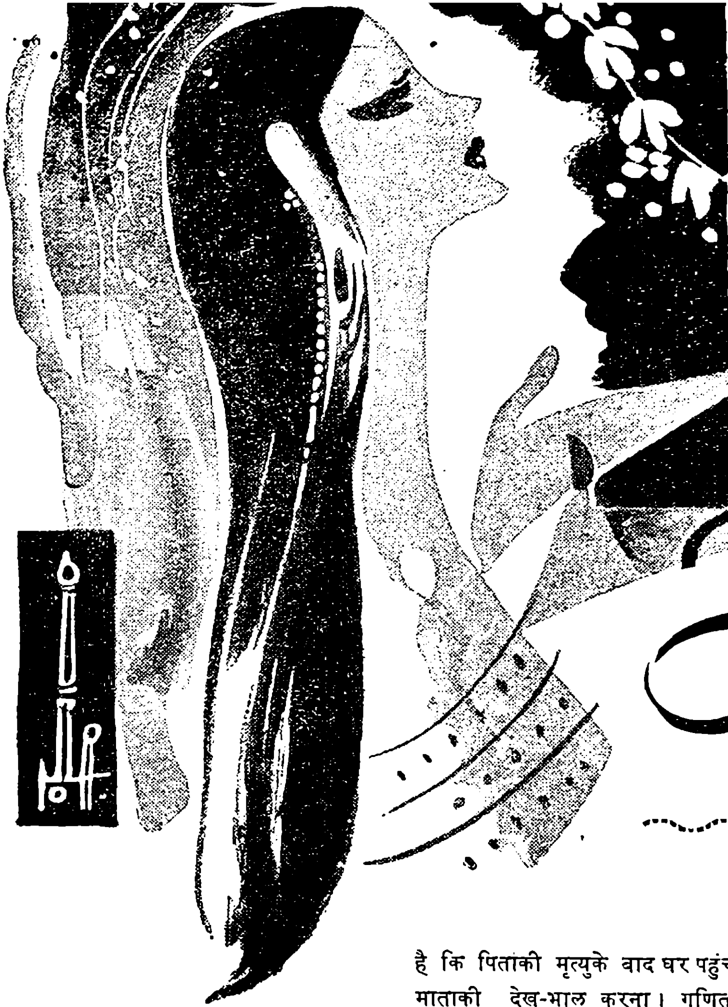
वहाँ युद्ध और यहाँ भी......



तोपखाना



अंडे टमाटरों की वर्षा



एक का रंग नाइजीरिया के राष्ट्रपति से मिलता जुलता था। किसी का रंग गेंदे के फूल के समान था तो वह केवल विद्याविनोदिनी पास थी। एक एम्. ए. थी और रंग भी सेब के समान था तो उसकी कमर में और रेलवे इंजन के ब्यालर के व्यास में कम ही अन्तर था।

आंखों का फेर

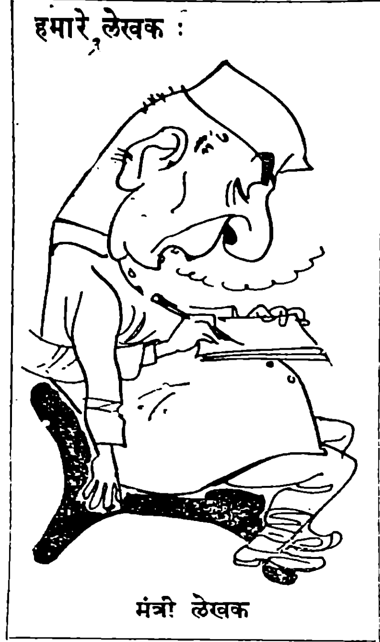
—बेढब बनारसी

रजनीकान्त जब इंगलैंडमें पी. एच. डी. कर रहे थे उसी समय उनके पिता वहां चले गये जहांका यात्री अभी तक लौटा नहीं। सूर्यकान्त निर्धन नहीं थे तो धनी भी नहीं थे। विधवा स्त्रीके समान जो अविवाहिता भी नहीं और पतिवाली भी नहीं। परीक्षाको एक साल रह गया था, जब उन्होंने पिताकी मृत्यका समाचार सुना। विचलित हो गये। माता अकेली थीं। रिश्ते-नातेके लोग बरसातकी धूप होते हैं। अभी आयी अभी चली गयी। उनकी माताने किसी कालेजमें शिक्षा नहीं पायी थी मगर थीं समझदार। उन्होंने पत्र लिखा-जो होना था सो हो गया तुम पढ़ाई छोड़ कर न आना। नहीं तो आज तक का पैसा बरबाद हो जायगा। दो-तीन दिनों तक रजनीकान्त सोचते रहे कि पी. एच. डी. अधिक उपयोगी है कि पिताकी मृत्युके बाद घर पहुंचना और माताकी देख-भाल करना। गणित में वह रिसर्च कर रहे थे। सोचना स्वाभाविक था। उन्होंने इक्वेशन लगाया एक ओर पी. एच. डी. की डिगरी दूसरी ओर पिताकी मृत्यु। माताकी आज्ञा भी पहली ही ओर थी इस लिये वही अधिक बड़ा निकला। रुक जाना और डिगरी प्राप्त करना अधिक उचित, उपयोगी और व्यावहारिक जान पड़ा। उन्होंने यह भी सोचा कि गणितकी समस्याएं सुलझानेमें लोगोंकी जिन्दगी बीत जाती है एक साल बिताना कौन कठिन है।

विलायती सेंटकी महकके समान एक साल बातकी बातमें बीत गया। रजनीकान्तको डिगरी मिल गयी और वह भारत लौट आये। मातासे मिलन हुआ। दोनों सावन-भादों बने। अब रजनीकान्तको नौकरी की चिन्ता हुई। रजनीकान्तकी माताने किसी प्रकार पढ़ाया मगर वह रिजर्व बैंक की मालकिन नहीं थी। रजनीकान्त अच्छी नौकरी चाहते थे उनकी माता शीघ्रता की अनुगामिनी थीं। भारतीय माताओं की अभिलाषाएं संक्रामक रोग होती हैं। बढ़ती हैं। वह चाहती थीं किसी प्रकार कोई नौकरी मिल जाय फिर घरमें वधू आ जाय और एक सालके अन्दर नन्हा-मुन्ना खिलौना आ जाय तो उनका बुढ़ापा सफल हो जाय। यों तो पौत्रके बाद उनकी अभिलाषा यह थी कि उसके सिरपर भी मौर बंध जाय तो धरतीपर ही स्वर्ग मिल जाय। परन्तु विज्ञान की इतनी उन्नति होनेपर भी जिन्दगी अनन्त नहीं बन पायी।

रजनीकान्त विलायतसे लौटे थे, भारतके पी. एच. डी. तो सेकंडरी स्कूलों में भी पढ़ा लेते हैं यद्यपि अभी प्राइमरी स्कूलों तक की नौबत नहीं आयी। मगर इंगलैंडका डाक्टर विश्वविद्यालयसे कम में क्या नौकरी कर सकता है? और इस में समय लगता है। दौड़-धूप, कनवासिंग, सिफारिशी पत्र लिखवाना, हाजिरी देना...इन सबमें समय लगता है। हर साल युनिवर्सिटियां खुल रही हैं फिर

हमारे लेखक :



मंत्री लेखक

मी अभी उस अनुपातमें नहीं खुलीं जिस अनुपातमें डाक्टर बन रहे हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता था माता और पुत्र चिंताके सागरमें डूबने लगे।

तीन महीनों की दौड़-धूपके बाद हिन्दू विश्वविद्यालय में दो साल के लिये अस्थायी रूपसे रजनीकान्त को लैक्चररकी जगह मिल गयी। तीसरे दर्जेमें जब यात्री घुस जाता है तब बैठने की जगह बना ही लेता है। अस्थायीसे स्थायी होना तीन बातों पर निर्भर करता है। एकाडमिक कौंसिल के सदस्योंका पता लगाना, अपने अध्यक्षके घर जानेके लिये सवेरे-शाम समय निकालना और कक्षाको पढ़ाना। रजनीकान्तको पहले तो नवागन्तुका वधूकी भांति झिझक हुई। इंगलैंडसे लौटे थे और अपनी योग्यतापर गर्व था। यह सब होते हुए स्थायी होने के लिये ऊपर लिखे उपचारों की आवश्यकता पड़ती ही है। सुन्दरी होते हुए दहेजकी व्यवस्था न हो तो कन्याका विवाह कठिन हो जाता है। रजनीकान्त को भी इस संकरी गलीमें चलना ही पड़ा।

पहले मासका वेतन आते ही उनकी माता विवाहका खयाल अलापने लगीं। रजनीकान्त थायी होनेपर इस बंधनमें फंसना चाहते थे। उनकी माता जीवनको स्थायी बनाना चाहती थीं। इतने बड़े कवि तुलसीदास झूठ कैसे लिखते। "अतिशय रगड़ करै जो कोई, अनल प्रकट चन्दन ते होई।" माता सफल हुई। रजनीकान्त राजी हो गये। अब बात कौन चलाये। उनके फूफा थे मुन्शी गुलजारी लाल। वही बुलाये गये और यह शुभ कार्य उन्हींके सुपुर्द किया गया। मुन्शी गुलजारी लाल लखनऊ के रहनेवाले थे। वहांकी रहन-सहन, बातचीत, चाल-ढाल होना स्वाभाविक था। उन्होंने इन्हें आश्वासन दिया कि बातकी बातमें विवाह ठीक किये देता हूं। ऐसी दुलहिन लाऊंगा कि हजार-दो हजार में एक हो। न पद्मिनी या नूरजहां हुई तो क्या समाजमें ऐसी चमकेगी जैसे समाचार-पत्र में मिनिस्टरों की फोटो चमकती हैं। इधर चुपकेसे रजनीकान्तने एक अंग्रेजी और एक हिन्दी पत्रमें सुन्दर पत्नीके लिये विज्ञापन दे दिया। इधर गुलजारी लाल संदेश लाने लगे। उधर चित्र समेत अविवाहिता कन्याओं के पिता पत्र भेजने लगे। रजनीकान्त की माता दुलहिन चाहती थीं, गुलजारी लाल बिरादरीमें अपनी कार्यकुशलता दिखाना चाहते थे, और रजनीकान्त कीट्स और बायरनके देशके अनुसार जीवन संगिनी चाहते थे और साथमें पी. एच. डी. का विनिमय भी हो जाय तो बेजा न होगा। कार तो आवश्यक थी ही, रेडियो, रेफरिजरेटर, कमरेकी सजावटका सामान भी मिल जाना ही चाहिये। सोफा सेट तो ससुर देगा ही, चांदीका टी-सेट भी मिल जाय तो ठीक होगा। गुलजारी लालने कोई कसर उठा न रखी। किन्तु उन्होंने जितनी लड़कियों की बात चलायी रजनीकान्तको जंची नहीं। कोई एम. ए. थी तो पता चला उसका रंग नाइजीरियाके राष्ट्रपति से मिलता-जुलता था। किसीका रंग गेंदेके फूलके समान था तो वह केवल विद्याविनोदिनी पास थी। एक लड़की एम. ए. थी और रंग भी सेवके समान था तो उसकी कमरमें और रेलवे इंजनके ब्यालर के व्यासमें कम ही अन्तर था। और रजनीकान्त वहांसे लौटे थे जहां मोटापा वैसा ही समझा जाता था जैसे सैनिक में अहिंसा।

इसी बीच बरेलीसे एक पत्र मिला। उसमें एक लड़कीका चित्र भी था। पिताने लिखा था-लड़की एम. ए. है; अवस्था बाईस सालकी है। यह भी लिखा कि रंग तो सांवला है मगर जैसा चित्रसे पता चलेगा गढ़न बहुत सुंदर है। तसवीर सचमुच बहुत सुंदर थी। चेहरेकी कटान यूनानी मूर्तियों के समान थी। लड़कीके गुणोंके संबंधमें लिखा था कि जो कपड़ा वह सी देती है पता नहीं चलता कि हाथका काम है कि मशीन का। सदरीसे लेकर अचकन तक और लाउंज सूटसे लेकर ड्रेसिंग गाउन तक ऐसा काट सकती है कि फ्रान्सके दरजी झखमारें बुशशर्ट ऐसा सी देती है मानो शरीरपर रख कर कपड़ा काटा गया है। दहेज भी दिया जायगा।

इस पत्र को पढ़कर रजनीकान्तका मन कुछ ऐसा हुआ जैसे गंगाको देखकर भीष्म का हुआ होगा। इन्होंने उत्तरमें लिखा कि यदि लड़कीको दिखाने के लिये आप तैयार हों तो आगे बात चल सकती है। और दहेजका तो मैं पक्षपाती नहीं हूं। पढ़े-लिखे लोगोंको ऐसी बातें शोभा नहीं देतीं मगर मेरे फूफाजी कहते हैं कि हमारे यहां परंपरा चली आयी है कि बिना तिलक और दहेजके विवाह नहीं होता। वह कहते हैं कि हम लोग तो पुराने आदमी हैं पुरानी ही बात चलायेंगे। तुम लोग जब अपने मनका करना तब करना। बड़ोंका कहना न मानूं तब भी नहीं बनता। हमारे देशकी शालीनता है कि बड़ोंका कहना मानना चाहिये। कुछ कहते नहीं बनता। आप तो कहते ही हैं कि दहेज दिया जायगा तब तो मामला सरल हो गया। क्या कुछ संकेत कर सकेंगे कि कितना आप दे सकेंगे। मालूम होनेपर फूफाजीसे चर्चा करूं।

उत्तर आ गया। कन्याको दिखलानेमें कोई बाधा नहीं है। कन्या पसन्द आने पर लेन-देनकी बात तय हो जायगी। रजनीकान्तने दिन निश्चित किया। घरपर किसीसे बताया नहीं। सोचा सब कुछ तय होनेपर बताऊंगा। आनन्दका समाचार एका-एक मिलता है तब अधिक आनन्द आता है।

अनुक्रमणिका

नदीमें नित्य पानी वहता है कोई नहीं देखता। एकाएक बाढ़ आनेपर दुनिया देखनेके लिये टूट पड़ती है। विश्वविद्यालयके कामका वहाना करके रजनीकान्त वरैली पंहुचे। ससुराल ही होनेवाली थी खातिरदारी क्यों न होती। विमलानन्दन साहव धनी जान पड़ते थे। रहन-सहनमें भी रुचि अच्छी थी। अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी सम्यता मिली-जुली थी। जैसे कटलट हो और आलूका। रजनीकान्तको छै वजेकी गाड़ीसे लौटना था इस लिये चार वजे इंटरव्यू था। अन्दरके एक कमरेमें रजनीकान्त वैठाये गये। दस मिनट के वाद चायका ट्रे लेकर नन्दिनी आयी पीछे-पीछे विमलानन्दन आये। रजनीकान्तने नन्दिनी को देखा। रंग तो सांवला था। किंतु चेहेरेकी गढ़न सचमुच व्रह्माने हाथमें छैनीले गढ़कर बनायी थी। रेखा वरावर भी कोई दोप नहीं निकाल सकता था। आंखें तो ऐसी काली थीं मानों विपमें वुझाई गयी हों। दांत क्या थे वसरेके मोतीकी लड़ियां। रजनीकान्त को यह भी वहुत भाया कि न तो पाउडर न लिपस्टिक। प्रकृतिकी निखारी और गढ़ी वह खड़ी थी। रजनीकान्तने वैठनेके लिये कहा। एक कुरसीपर मुख नीचा किये वह वैठ गयी। उसके एक हाथमें दो सोनेकी चूड़ियां और दूसरेमें डेढ़ दर्जन सितारों भरी कांचकी चूड़ियां। सादगीका श्रृंगार था। भोलेपनके आभूषण थे। माथेपर विन्दी ऐसी लग रही थी मानों कुंआरके आकाशमें चन्द्रमा।

रजनीकान्त कुछ वात आरंभ करें उसके पहले विमलानन्दन वोले—अरे नन्दिनी वह मालकोसकी गत जो तूने तैयार की सुना। वाबू साहव परिष्कृत रुचिके आदमी हैं, संगीत और कलाके प्रेमी तो होंगे ही। फिर विलायतमें बरावर ओपरा देखते रहे होंगे संगीत सुनते रहे होंगे। तेरा अभ्यास भी जरूर रुचेगा। और रजनीकान्तकी ओर देखकर वोले विटिया ऐसा सितार बजाती है कि क्या तारीफ करूं। रविशंकरने एक बार सुनकर कहा था कि यह तो मेरी शिष्या होने के लायक है। रजनीकान्तके लिये मालकोस वैसा ही था जैसे तुलसीदासके लिये होमर। किन्तु सुनना ही पड़ा।



मेरे हिमालय के पासबानों !

—नी र ज

मेरे हिमालय के पासबानों ? मेरे गुलिस्ताँ के बागबानों ।
उठो कि सदियों की नींद तजकर, तुम्हें वतन फिर पुकारता है !

लिखो बहारों के नाम खत वो
कि फूल बन जायें खार सारे,
वे रोशनी की लगाओ कलमें
जमीं पै उगने लगे सितारे,
वदल दो पिघले हिसाब ऐसे, उलट दो गम के नक़ाब ऐसे
कि जैसे सोई कली का घूंघट सुबह को भौंरा उघारता है !
मेरे हिमालय के पासबानों !

गरीबी जो बनके रोज ईंधन
उदास चूल्हों में जल रही है
वो जो पसीने की बूँद गिरकर
जमीं का नक्शा बदल रही है
तुम उसके माथे मुकुट सजा दो, मुकुट सजाकर दुल्हन बना दो
जो आँसुओं को उबारता है वह जिन्दगी को सँवारता है।
मेरे हिमालय के पासबानों !

है जोरो-जुल्मत का दौर ऐसा
मना है फूलों को मुस्कुराना
इधर है मजहब का जेलखाना
उधर है तोपों का कारखाना
मिटा दो फिरकापरस्ती जग से, गिरा दो नफरत की हर हवेली,
कि एक शोला धधके सारे मकाँ की सूरत बिगाड़ता है !
मेरे हिमालय के पासबानों !

बहे न आदम का खून फिर से
न भूख दुनिया की उम्र खाये
करीब मन्दिर के आये मस्जिद
न फिर कोई घर को बाँट पाये
नहीं यह सोने का वक्त भाई ! नहीं झगड़ने की यह घड़ी है
वह देखो केसर की क्यारियों को गँवार पतझर उजाड़ता है !
मेरे हिमालय के पासबानों !

वह यह कैसे साबित होने देते कि मैं कला-विहीन प्राणी हूं। वह मालकोस बजा रही थी कि बिलावल इन्हें पता न था। पर बड़ी देर तक सुनते रहे और नियमानुसार सिर हिलाते रहे। वाह-वाह भी बीचमें कह उठते थे। चलने लगे तो विमलानन्दनने कहा—आपको कुछ कहना नहीं होगा। जो मांगियेगा दिया जायगा। लड़की मुझे बहुत प्रिय है। इसकी सुशीलता और इसके गुण आपने देख ही लिये।

रजनीकान्त गाड़ीमें यही सोचते रहे कि पत्नी बुरी तो न होगी। रंग तो नहीं है रूप है, शृंगार तो है बनाव नहीं है। सोचा मेरा ही रंग कौन शिवजीका रंग है। और एम. ए. है, सितार बजाती है। जब मैं कैलकुलस लगाते-लगाते थक जाऊंगा तब इसके सितार की झनकार अनारके शरबतका काम देगी।

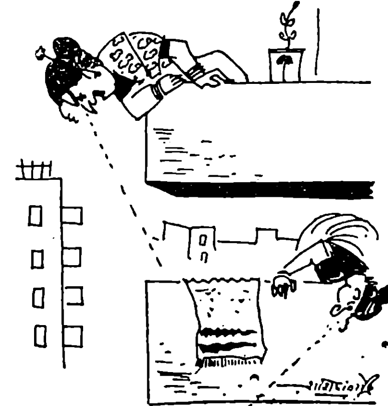
दूसरे दिन अपनी माता से बोले—मैंने विवाह तो तय कर लिया है। माता चौंकी किंतु रजनीकान्तने घर-द्वारका पता बताया, और लड़कीकी प्रशंसा की मानो कालिदासका अनुवाद कर रहे हों। और अंतमें यह कहकर कि दहेज भी अच्छा मिलनेवाला है मुहर कर रजिस्टरी कर दी। गुलजारीलालको तो बिजलीका करंट लग गया। उनकी आशाएं झुलस गयीं। किंतु क्या करते। विमलानन्दन पत्रोंका उत्तर ऐसा देते थे जैसे राम विश्वामित्रसे बातें करते हों। ऐसा वातावरण बनाया कि लेन-देनमें यह लोग विशेष आग्रह न कर सकें। बरातियोंका स्वागत-सत्कार प्रथम श्रेणीका हुआ। सामान भी अच्छा मिला। कारकी बात वादेपर टिकी। दुलहिन लेकर बरात वापस आयी।

एक कमरेमें बिजलीकी बत्ती जल रही थी। मसहरीपर दूधका बिछौना बिछा था- एक सोफेपर नन्दिनी संकोच, लाज, भय और अयाचनकी प्रतिमा बनी बैठी थी। धीरे-धीरे रजनीकान्तने कमरेमें प्रवेश किया। और दरवाजा बन्द करके उसकी बगलमें बैठ गये। नन्दिनीका हाथ उन्होंने अपने हाथमें लिया। शाम को जो आइस-क्रीम खा गयी थी उसका प्रभाव बहुत चेष्टा करनेपर भी वह रोक न सकी। बहुत जोरसे छींक आयी। छींकके साथ ही जमीनपर कुछ खटसे गिरा और मोती बिखर गये। रजनीकान्त घबरा गये पूछा यह क्या है। नन्दिनी ने षड्ज स्वरमें कहा— अब आपसे क्या छिपाऊं मेरे दांत बनावटी हैं। रजनीकान्त अभी गंभीर ध्यानसे बाहर नहीं आये थे कि दूसरा वाक्य उसने कहा—और इसे भी नहीं छिपाऊंगी, मेरी बांई आंख शीशेकी है। • • •

वहाँ युद्ध और यहाँ भी.... ....



सफल वापसी !



जासूसगीरी ....

अनुक्रमणिका

उस की बातें भावुकता भरी लगतीं, लेकिन, इतना होने के बावजूद भी मुझे हर वक्त यह अहसास होता रहता कि इसमें 'पेंटर' के गुण हैं—पर दोहरे समर्पण और निवेदन में मुझे एक शब्द आता है—नियंत्रण....

गंगाप्रसाद 'विमल'



एक लम्बे अन्तराल के बाद शुभा के घर.....।

सोचा था-समय के साथ—साथ जो इतनी बातें घट गई हैं—इस बीच शुभा काफ़ी बदल गई होगी। शुभा की याद आते ही मुझे मिस्टर चोपड़ा भी याद आ जाते हैं। मैं आज तक ठीक तरह नहीं जान पाया कि वह कौन सी बात है जो मिस्टर चोपड़ा और शुभा अब तक टिके हुए हैं। इतनी गहरी खाई होने पर कौन सा ऐसा पुल है दोनों के बीच...। मिस्टर चोपड़ा के चेहरे पर एक अजीब गांभीर्य होता है — एक रहस्यमय पर्दा जैसे किसी ने हमारे सामने लगा दिया हो, मैं ऐसे आदमियों से बहुत डरता हूँ। न जाने किस वक्त ये लोग क्या कर बैठें ।...मुझे कभी–कभी महसूस होता रहा है जैसे शुभा भी अपने 'हस्बैंड' से डरती हो। अक्सर साथ-साथ घूमते हुए भी मैंने यह चीन्हा कि वे दोनों तनाव की स्थिति में हैं। दोनों एक दूसरे के प्रति ठीक नहीं रहते ऐसे अवसरों पर-लेकिन जब कभी मैं बीच में बोल पड़ता या हँस पड़ता तो मुझे मालूम है शुभा प्रकृतिस्थ हो जाती, पर मिस्टर चोपड़ा वैसे ही मुँह बनाए रखते। मुझे लगता जैसे यह आदमी किसी को मुँह बना रहा हो।

........लेकिन शुभा के घर, मुझे एकाएक महसूस हुआ जैसे कुछ भी नहीं बदला। बाहर एक टूटा हुआ 'सोफा' उसी जगह पड़ा हुआ था–जहाँ वह दो वर्ष पहले था और जिसे देखकर मुझे बार-बार हँसी आ जाती। मैं हर बार उसके बारे में पूछने को उद्यत होता — पर फिर मुझे एहसास हो जाता कि किसी के खास व्यक्तिगत मामलों में बोलने का मुझे कोई हक नहीं। मैं शुभा का मित्र हूं, शुभा का अभिभावक नहीं।....कुछ नहीं बदला हुआ लगा, उसी तरह की एक सांझ—एक अर्से की भूली हुई सांझ के प्रति जितना मोह जगाया जा सकता है, मुझमें आ बसा....जैसे कल सांझ के बाद आज यहाँ आ गया हूं। रात के बाद फिर झट से सांझ आ जाती है—मुझे उस मैले दुपट्टेवाली लड़की की याद आ जाती है, जो बर्तन साफ करने और कुछ काम करने के बाद बाहर निकलती होती—और मैं बाहर ही उसे देख पाता, आज सिर्फ इतना ही खाली लगा। अचानक जैसे सफ़र से पूर्व में कोई चीज़ घर भूल आया हूं। ऐसा खालीपन, एक रिक्तता....। एक अधूरेपन की अनुभूति जैसी बात.........।

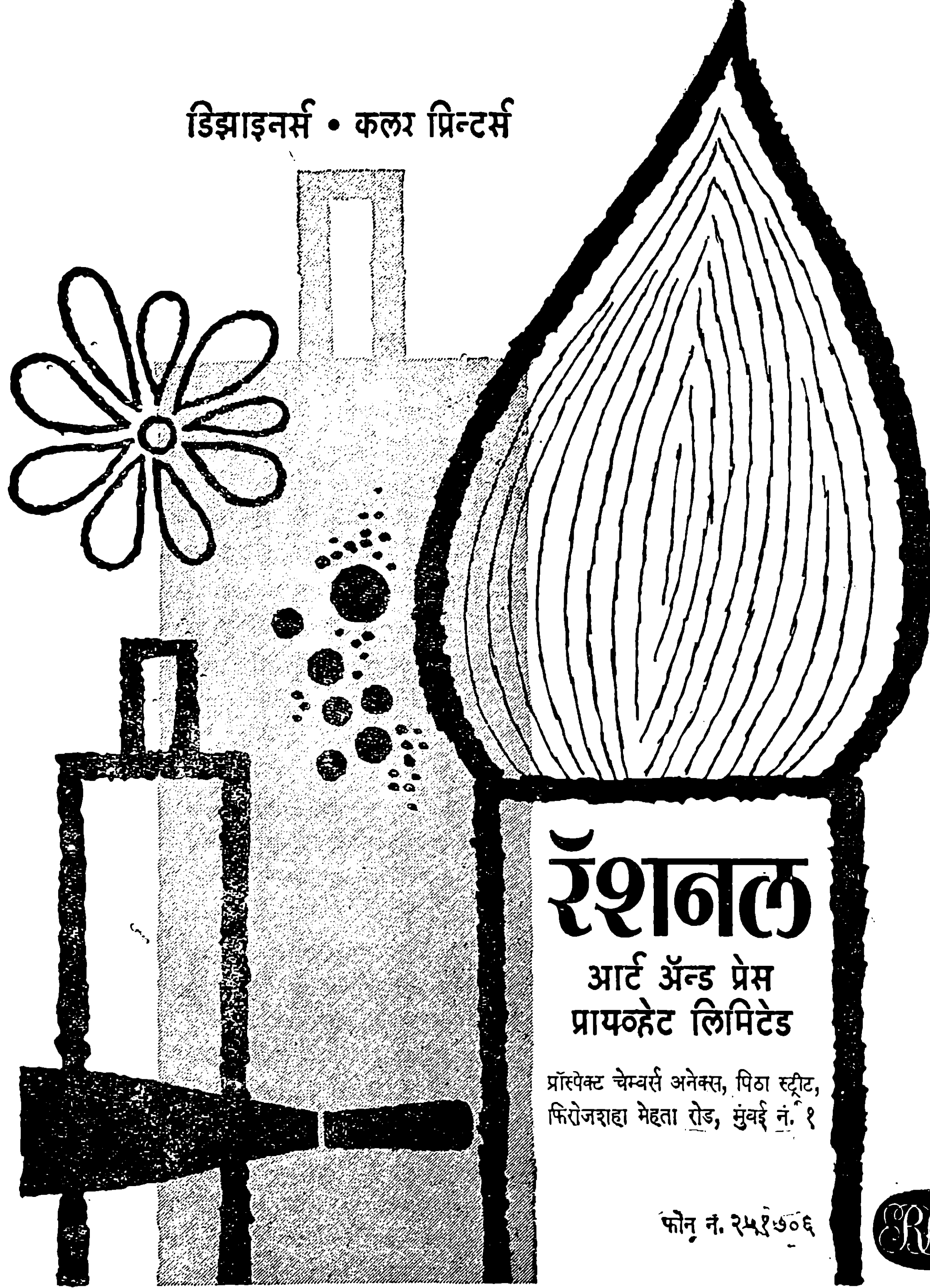
मैं "कालबेल" नहीं बजाता। औपचारिकता की क्या आवश्यकता—फिर शुभा के घर उसकी आवश्यकता नहीं पड़ती। यह जानते हुए कि मिस्टर चोपड़ा इसमें विश्वास रखते हैं, लेकिन शुभा के सामने वे भी औपचारिकता का सिद्धान्त बदल देते हैं। मुझे इन दोनों की स्थिति 'सह-अस्तित्व की स्थिति' लगती है। वैसे जब कभी सोचा है— शुभा के बारे में बहुत कुछ लगा है।

एक क्षण के लिए दरवाजे पर ही ठिठक पड़ता हूं। अचानक ही मुझे लगता है— जैसे अन्दर से कोई दरवाजा खोलने आने वाला है। तो क्या शुभा को 'टैलीपैथिक मैसेज' मिला होगा। मैं ऐसी बातों पर विश्वास नहीं करता — लेकिन क्षण-भर के लिए अपने को





अनुक्रमणिका


डिझाइनर्स • कलर प्रिन्टर्स
रॅशनल
आर्ट ॲन्ड प्रेस
प्रायव्हेट लिमिटेड
प्रॉस्पेक्ट चेम्बर्स अनेक्स, पिठा स्ट्रीट,
फिरोजशहा मेहता रोड, मुंबई नं. १
फोन नं. २५१७०६




मराठीचा विकास: महाराष्ट्राचा विकास

अनुक्रमणिका



विलासिनी
जमुना

अनुक्रमणिका

वहका ही लूं तो क्या वुरा। और अगर शुभा आ ही जाय – तो क्या चौंकेगी नहीं।

अन्दर से कपड़ों की सरसराहट की आवाज आती है। मुझे इस तरह की आवाज़ से वेहद नफ़रत है – लेकिन शुभा के कपड़ों की सरसराहट में मुझे अर्थ लगता है.... खैर....अगर क्षण के लिए अपने को ऐसी वातों में डूवने दूं तो क्या हर्ज...। सचमुच दरवाज़ा खुल जाता है, "हैलो" कोई वाहर आकर धीरे से कहता है।

मैं यह भी नहीं सोच पाता कि दरवाज़ा कैसे खुला। "विनू... तुम।"

अच्छा, तो सचमुच यह शुभा है। कोई वदलाव नहीं। शुभा चौंकी भी नहीं, मुझे इस वात से खुशी भी हुई।

विना कुछ कहे अन्दर दाखिल हो जाता हूँ। यह मेरी पुरानी आदत है। मेरी पुरानी आदत यह भी है कि घर जाने के कुछ देर वाद ही शुभा के साथ घूमने निकल जाता हूं।

मिस्टर चोपड़ा जायें या न जायें––इसका ख्याल में नहीं करता। ......शाम भर घूमना। दोस्तों के लिए सब रहस्य है.....मैं और शुभा। लोग वातें भी वनाते हैं। वनाते हैं तो क्या हुआ... वनाना जो आता है उन्हें। सैर के दौरान मे शुभा की प्यारी वातें और भी प्यारी लगती हैं। नहीं जानता शुभा के अन्दर इतना क्या है– वैसे औरतों के अन्दर कुछ नहीं होता, सिर्फ पानी जो आँखों की राह आसानी से वाहर आ जाता है। परन्तु शुभा विचित्र है, इतनी वातें, इतनी खुली वातें...एक दिन कहा था 'शुभा तुम्हें पेंटर होना चाहिए था।' इन वातों का शुभा उत्तर नहीं देती। मुझे वहुत वातें याद नहीं रहतीं, क्या कह डालता हूं फिर पूछता भी नहीं हूं, लेकिन मन में यह कसक रहती है कि मैंने कुछ कहा था और सामने वाले 'सब्जेक्ट'ने उसका कोई उत्तर देना था।

—— मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, अन्दर 'चोपड़ा और शेखर' ताश खेल रहे थे। इनमें कभी नहीं पटी —–पर आज तो मशगूल हैं।

"कहो भाई कैसे रहे" – चोपड़ा पूछता है। मुझे लगता है चोपड़ा कहना चाहता है 'अच्छे ही होंगे, तभी तो यहाँ आये हो।' चोपड़ा की इस तरह की वातों से मुझे सख्त चिढ़ है। विरक्ति फैल जाती है।

शुभा कुछ पूछती है – हाँ चाय......

शेखर कहता है 'भाभी एक सिगरेट....।' हँसते हुए शेखर कहता है। अन्दर का वातावरण वैसा ही है, सिर्फ यह लगता है कि यह ऐन्द्रजालिक 'मायाजाल' चोपड़ा की गंभीरता की केंचुल-भर है।

सब कुछ वैसा ही होते हुए भी मुझे लगा दो साल वाद आकर मैंने कोई गलती कर दी हो। लोग व्यस्त हैं–कुल मिलाकर शुभा भी। भई एक आदमी वाहर से आया है – सोचता हूं ऐसी वातों से शायद मेरा अभ्यास ही टूट गया है। वरना यही सब कुछ था जिसे मैं पहले भी सहता था। "विनू..."–शुभा इतना कह चुप हो गई। मुझे पता है यह शुभा की आदत है –वह जो वात कहना चाहती है, वह भूल जाती है फिर चुप्पी के वाद स्वयं उसे कुछ कहना पड़ता है। शुभा तो वात पकड़ने में ही लगी रहती है। और ऐसे मौकों पर मैं कहना शुरू कर देता हूँ–"तो शुभा---" और वह सिर्फ मुस्करा देती है। लोगों को शुभा की मुस्कराहट पसन्द आती हो, लेकिन मुझे लगता है जैसे हँसने के वाद वह कोई वेहूदी हरकत कर वैठेगी और अपना औरत होने का परिचय दे देगी। पर सव वातों के वावजूद भी मैं शुभा को चाहता तो हूँ। पर यह चाहनेवाली वात जैसे वचपना हो। हम कई वार वचपना कर वैठे हैं। वचपना उसी दिन जव हम मिले थे–और चोपड़ा को एक किनारे छोड़ थोड़ी वातें की थीं। कौन जानता था– हमारा इस तरह वात करना किसी भी तरह की संभावना ला दे–। वात भी न जाने क्या थी।

वाद में जव शुभा के एक 'इशू' भी हो गया–तव भी हमारे सम्बन्ध वढ़ते गये। मैं नहीं जानता था मिस्टर चोपड़ा को वार में छोड़ और नन्हे वच्चे को घर में छोड़ शुभा मेरे साथ क्या करने आती है। वच्चा वहुत काला और वेढंगा था, शुभा उसे वेहद नापसंद करती थी। उसे चोपड़ा नुमा नख शिखों से वड़ी नफरत थी। यह जानते हुए भी–न जाने क्यों–वह चोपड़ा से प्यार भी करती थी।

वहुत वार इस प्रसंग को उठाना चाहा मैंने, लेकिन वीच में वचपना आ टपकता....मैं चाहते हुए भी पूछ नहीं सकता।

एक दिन खुद शुभा ने वात जाहिर कर दी थी–उसे अच्छा और प्यारा वच्चा चाहिए। ऐसा वच्चा जिसका दिमाग मेरी तरह हो....और शक्ल किसी फ़िल्म अभिनेता की तरह–(जिसका नाम मैं तव भी ठीक तरह नहीं सुन पाया था)। जी में आया था–शुभा के वाल नोचूं और इसे दो–चार थप्पड़ लगाऊँ–लेकिन शुभा जो खुद एक नासमझ वच्ची लगती थी मुझे। वैसे जव कभी मैं इस तरह की वात सोचता मुझे लगता मेरे नख–शिख मिस्टर चोपड़ा से भिन्न नहीं है। पर इससे क्या वनता है, शुभा सचमुच ही सुन्दर है।

कई वार मेरे जी में आता मैं शुभा से कहूँ–शुभा मैं तुमसे सव कुछ पाना चाहता हूँ पर फिर मुझे लगता यह काम गलत होगा। और ऐसी गलती मुझे करनी भी नहीं चाहिए। पर फिर भी मैं युवक हूँ– और मेरे मन में ये वातें अक्सर आ जातीं। एक दिन....मुझे याद नहीं कि कैसा अवसर आया कि मैंने अन्यतम भावुक क्षणों में शुभा को वाँहों में वांध लिया, काफी अंधेरा था और हम लोग 'लेन' के साथ साथ घूम रहे थे–कि अचानक मैंने शुभा को थाम लिया–मुझे ऐसा लगा शुभा भी सव कुछ चाहती है, लेकिन काफ़ी देर वाँहों में वँधी रहने पर भी मैं शुभा का चेहरा नहीं चूम पाया।

"छोड़ दो विनू–यह वचपना है।"

उसके वाद वहुत दिन शुभा से मिलना ही नहीं चाह पाया।..

"विनू तुम मिशि से मिले हो"–शुभा के वात करते ही जाना कि मैं कहाँ का कहाँ पहुँच गया था।

"मिशि"–मेरे जी में आया इस नाम के साथ एक जोर की





हमारे लेखक :

ऐतिहासिक लेखक

गाली दूं। मिशि एक गलत आदमी है, मुझे उससे सख्त नफरत है। "तुम अब भी उसके प्रति भावुक हो शुभा।"

"मेरी भावुकता की तो सीमा सामने है......"

"और मेरे प्रति शुभा, तुम अब मुझे भूल गई हो।"

"शी...!" शुभा ने ताश खेलते चोपड़ा और शेखर की ओर इशारा किया। मैं जोर से बोल गया था कुछ। शुभा ने ओंठ इस तरह किये, जैसे अक्सर वह चुम्बन के समय करती है—खास तौर से जब जब मैंने शुभा को चूमा है, उसके ओंठों की एक विशेष आकृति बन जाती है। जो कई दिनों बाद मुझे आज याद है। शुभा को चुम्बनों का कोई विरोध नहीं.....लेकिन जब जब मैंने पूर्ण समर्पण की बात सामने रखी है तब तब वह "माँ" का रूप मेरे आगे रखती रही है। मैं समझ गया था—उसे एक खूबसूरत बच्चे की जरूरत है। और मेरा रक्त खूबसूरत बच्चा नहीं दे सकता। तब तब मुझे चोपड़ा के प्रति सहानुभूति भी होती। वह भी खूबसूरत बच्चा नहीं दे पाया। शुभा कहती है 'चोपड़ा उसके सब कुछ हैं', और मैं केवल उसका मित्र हूँ—ऐसा मित्र कि यदि मुझसे उसकी शादी हो जाती तो वह सौभाग्य मानती अपना। लेकिन ये सब बातें मुझे बहकावा लगतीं। और जान पड़ता कि शुभा ऊपरी मन के दिखावे के लिए ये बातें करती है। बाजार में या और कहीं भी जहाँ हम सैर के लिए इकठ्ठ मिलते—राह चलते प्यारे-प्यारे बच्चों को शुभा छेड़ती। मुझे बच्चे कतई अच्छे नहीं लगते—वे बेवकूफी-भरी बातों से बोर कर देते हैं और बेहूदी हरकतों से परेशान, यह मुझे कभी अच्छा नहीं लगता। लेकिन शुभा ...शुभा बच्चों के पीछे घूमती, वह हर 'पिक्चर' देखती, जिसमें किसी प्यारे बच्चे का रोल हो। मैं उसे कभी-कभी इस बात पर डाँट भी देता। वह बुरा भी नहीं मानती, मुझे ही कहती 'अच्छा होता कि तुम भी बच्चे होते।

मैं ऐसे मौकों पर बहुत आक्रमक हो उठता हूँ। लेकिन शुभा के साथ जैसे हर वक्त 'सन्धि' की हालत में रहना पड़ता।

मुझे इन बातों के बीच शुभा के बच्चे की याद आ गई।

"शुभा—गुगू ठीक है ?"

"हाँ—आजकल मसूरी पढ़ रहा है, होस्टल में रहता है।"

मुझे यह बहुत बुरा लगता है। उसने अपना बच्चा अपने से दूर कर दिया। "अरे भाई बिनू, अब तो गुगू की जगह एक और आ गया है—" शेखर ने कहा।

"चोपड़ा साहब को बधाई", मेरे मुंह से अचानक निकलता है।

"बधाई दो शुभा को...."चोपड़ा मुंह बिचका कर जवाब देता है। मुझे चोपड़ा से सहानुभूति है।

मैं फिर कुछ नहीं पूछता। जी में आता है शुभा को छेड़ूं।

जब मैं उसे मिसेज चोपड़ा कहता हूँ तो चिढ़ जाती है वह। अभी कहने की इच्छा हुई....लेकिन इच्छा दबा दी मैंने।

"शेखर तुम्हारी नौकरी लग गई" मैंने पूछा।

"नहीं—अब नौकरी करने को जी नहीं करता—ज़रा इस बेईमान चोपड़े से निपट लूं भई।" और वह खेल में तल्लीन हो गया।

हम सब लोग चुप थे। हमारे पास जैसे बोलने को कुछ नहीं था।

मैं चाहता था ये लोग बोलें—और मैं सुनूं। मैं आया भी इसी-लिए था—लेकिन यहाँ रहने का यह अभ्यास मुझसे छूट गया था, इसलिए मैं अपने को अकेला महसूस करने लगा।

मुझे फिर मिशि की याद आ गई। मिशि से शुभा की मुलाकात मैंने कराई। पहली ही मुलाकात में शुभा को पसन्द आ गया था वह। खूबसूरत जो था। मुझे इस बात से प्रसन्नता नहीं हुई। फिर इस बात से दुख हुआ कि मिशि और शुभा की चर्चा गलत संदर्भों में होने लगी। यह सब होते हुए भी—मुझमें, शुभा, चोपड़ा तीनों में कोई अंतर नहीं आया था।—एक काण्ड घट गया था। शुभा और चोपड़ा में एक एक दिन क्लब में लड़ाई हो गई थी, बात मुझे और मिशि को लेकर चली थी...बस तभी मेरा मन उखड़-सा गया था। हालांकि मैंने दोनों में सुलह करा दी थी पर मुझे ऐसा लगा था कि सचमुच हम लोग दोस्ती की आड़ में चोपड़ा को धोखा देते हैं।

विश्वास रखती है, निवेदन में भी। शायद समर्पण की रेखा चोपड़ा और मिशि तक जाती है और निवेदन की मुझ तक...वह कहती है, वह मुझे और चोपड़ा को चाहती है, जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है चोपड़ा धर्म और कानून दोनों दृष्टियों से उसका स्वामी है लेकिन मन तो वह शरीर के आधिपत्य के साथ नहीं बाँध सकता न...मुझे शुभा की बातें बिलकुल भावुकता भरी लगतीं।





लेकिन इतना होने के बावजूद भी मुझे हर वक्त यह अहसास रहता कि इसमें 'पेंटर' गुण हैं। वह अच्छी बातें और अच्छी चीजें चुनती है । पर दुहरे समर्पण और निवेदन में मुझे एक शब्द आता है–बीच का शब्द नियन्त्रण का। खैर...यह बातें तो टूटी हुई हैं, और यहाँ इनसे क्या लेना–सब कुछ हो जाने के बाद भी मैं शुभा के पास आने की स्थिति में हूँ। यह कम नहीं है। शहर छोड़ जाने के बाद मुझे कई दिनों तक लगता रहा मैंने गल्ती की। बाद में तो अपने को यहाँ आने के लिए तैयार करने की बात तो दूर शुभा के तीन पत्रों का उत्तर देने को भी मन नहीं हुआ। सोचा उत्तर देकर भी क्या होगा।... जब खुद यहाँ आया तो कुछ निश्चित नहीं था–कि सचमुच चला जाऊँगा। जाने–आने के बारे में कभी निश्चित नहीं रहा हूँ। एक बार याद है मुझे किसी काम से शिमला जाना था–शुभा मुझे छोड़ने भी आई थी–बस पर चढ़ कर कुछ दूर से वापिस आ गया। शुभा चौंकी थी उस दिन पर आज नहीं।

आज न जाने ऐसा क्या है।

शुभा कहती है–"छोटे गुगू को देखोगे विनू"।

"मुझे बच्चों को देखने का शौक नहीं है।" चोपड़ा और शेखर बाज़ी में लगे हुए हैं। मुझे ताश में कम मजा आता है, लेकिन उन लोगों से ईर्ष्या ज़रूर होती है जो ताश में मजा लेते हैं। सोचता हूँ इन लोगों के साथ ताश खेलूं–लेकिन हारने में तो ज़रा भी मजा नहीं आता मुझे।

"विनू....।" फिर शुभा कुछ भूल जाती है।

ठीक है अगर भूल गई। ऐसे क्षणों में मेरी रक्षा हो जाती है। वरना न जाने क्या कह डालूं मैं।

शुभा फिर कहती है, "विनू...डाक्टर (डाक्टर वह प्यार से कहती है मुझे) डाली बहुत प्यारा है, बहुत प्यारे नख–शिख हैं उसके।

...शुभा के दो साल बूढ़े चेहरे पर खुशी तैरती है।

मुझे प्यारे बच्चों से विरक्ति होती है।..."तुम यहीं सोओगे न डाक्टर....सुबह दिखाऊँगी तुम्हें । तुम कल्पना में कोई सुन्दर चेहरा बनाओ। भोर होने तक देखना कितना फर्क होता है । मैं ज्यादा नहीं सुनना चाहता। चुपचाप उठ जाता हूँ। चौंकते हैं सब–जैसे कोई नाटक हो रहा हो।....इस घर' की औपचारिकता से तंग आ जाता हूँ । मैं...खैर..सोचता नहीं हूँ–बस बाहर आ जाता हूँ।–शायद शुभा पीछे आई हो। पर मैं तेज कदमों से गली में आ जाता हूँ। खूबसूरत बच्चा–मुझें वितृष्णा होती है। लगा अगर मैं जल्दी जल्दी चल कर स्ट्रीट लैम्प न गिनूंगा तो मुझे उल्टी हो जायेगी। मैं उल्टी से बहुत डरता हूँ। ...उससे भी अधिक जितना चोपड़ानुमा चेहरों से।...खूबसूरत बच्चा....मुझे चोपड़ा से सहानुभूति होती है।...पर...पर अगले खम्बे का 'बल्ब' फ्यूज है। मुझे तो कोफ्त होती है। क्या आज यही कुछ होगा–यही कुछ.........। • • •

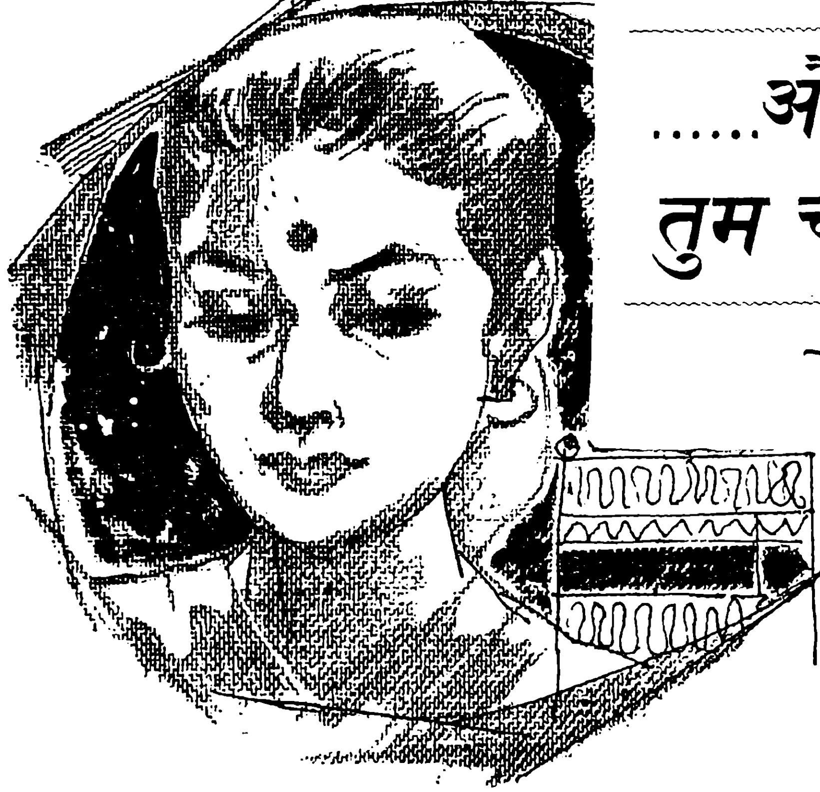


मौत की बिस्तुइया !

–किशोरीरमण टण्डन

मटमैले रंग की बिस्तुइया
कमरे की छत के कोने से
धीरे धीरे सरक सरक कर
आ पहुंची उस बड़े लैम्प के नीचे
जो था धरा मेज पर।
और वहीं से
उसने अपनी लम्बी– पतली जीभ लपलपा
एक पतंगे को क्षण में उदरस्थ कर लिया !
वैसे बात बहुत छोटी है,
पर घटना ने मुझे सोचने को बेहद मजबूर कर दिया—
इधर एक मैं भी तो हूं बम्बई नगर में
ट्राम, ट्रेन, घोड़ागाड़ी के नीचे
आ जाने की आशंका से
हरदम
डरा डरा-सा, सहमा सहमा-सा रहता हूं !
लगता है जैसे—
यह मौत ! हजारों बार शिकार बनाती मुझको !
फिर तो
मुझ जैसे हरदम मरने वाले से
लाख गुना है श्रेष्ठ पतंगा
जो—
जब तक जीता है,
निर्भय हो जीता है,
और मौत की बिस्तुइया उसके जीवन में
केवल एक बार आती है !

अनुक्रमणिका



......और तुम चली गईं !

—भगीरथ शुक्ल 'योगी'

*....और फिर आज सवेरे....
जैसे हवाका झोंका चला
जाता है, जैसे नदी की लहर
चली जाती है,
जैसे प्रकाश की किरण चली
जाती है—
उसी तरह चुपचाप शान्ति के
साथ तुम चली गईं....*

कितनी अजीव वात है ! जवतक तुम मेरे पास थीं, तवतक मैं हमेशा यही सोचता रहा कि तुम चली जातीं तो कितना अच्छा होता ! तुमसे अपना पिण्ड छुड़ाने की कामना मैं मन-ही-मन हमेशा करता रहा और अव, जव कि तुम चली गई हो, मुझे ऐसा महसूस होने लगा-है, जैसे मैंने अपना सव कुछ खो दिया है, जैसे मेरे पास ऐसी कोई चीज़ ही नहीं रह गई है जिसे लेकर मेरे मनमें जीनेकी इच्छा उठे ! जीवन के प्रति मेरे मनमें अव कोई मोह, कोई खिचाव नहीं रह गया है। मैं जैसे एक शून्यमात्र वनकर रह गया हूँ ! ..

... ...तुमने आज सवेरे ही प्रयाण किया। उधर सूर्य उदय हुआ, इधर तुम्हारा जीवन अस्त हो गया ! वड़ी शान्ति के साथ तुमने मृत्यु का वरण किया— जैसे तुम उसकी प्रतीक्षा ही कर रही थीं ! रोया मैं तव भी था, लेकिन मेरा वह रुदन मात्र एक अभिनय था ! आँसू मेरी आँखोंसे ज़रूर वहे थे, पर वे नकली थे ! मन-ही-मन तो मैंने छुटकारे की साँस ही ली थी !....

...फिर धीरे-धीरे लोग इकट्ठे होने लगे थे— पड़ोसी, मित्र, रिश्तेदार, परिचित—सभी। सवने मुझे सांत्वना दी थी। अपने उन हमदर्दोंके सामने मुझे रोनेका अभिनय वार—वार करना पड़ा था। दोपहरको स्मशानसे लौटने पर भी यही क्रम जारी रहा। लोग वरावर आते रहे और मुझे दिलासा देते रहे। दिन भर एक हो तरहके शब्द सुनते—सुनते मैं ऊव गया— "यह मृत्यु लोक तो है ही, जो आया है, एक न एक दिन उसे जाना ही पड़ेगा।... शरीर नश्वर है, आत्मा अमर है।..." कोई गीता के श्लोक सुनाता, कोई मन मज़वूत करनेकी सलाह देता। और मुझे यह सवकुछ सुनना पड़ता—चुपचाप, सिर झुकाकर, चेहरे पर उदासी लाकर ! मन-ही-मन मैं कह रहा था— "मूर्खो! मुझे यह उपदेश मत दो ! मैं दुखी नहीं हूँ ! मुझे तनिक भी दुःख नहीं हुआ ! ..."

काश ! मनमें उठनेवाली हर वात कहनेका स्वातंत्र्य हमें मिलता ! हमने अपने ही हाथों अपने मुँहमें सभ्यता व शिष्टाचारकी ये कैसी लगामें डाल ली हैं ! ...

...मुझे वार-वार दिलासा देकर और भोजन करा चुकने पर मेरे हमदर्दियोंने अपने कर्त्तव्यको निवाहनेका संतोष पा लिया और मुझे अकेला छोड़कर सवके सव चले गए। मैंने मुक्तिकी एक और साँस ली और अपनी चारपाईपर जा लेटा सोचा, इतनी दीर्घ प्रतीक्षाके पश्चात मुझे आज जो आज़ादी मिली है, उसका सुख अव मैं इस एकांतमें अच्छी तरह महसूस करूँगा। तरह-तरहके मनोराज्य करने का आनंद मैं अव भोगूंगा। मैंने मुलायम तकिएपर अपना सिर टिका दिया और तेज़ रोशनीवाली वत्ती वुझाकर, नीले रंगके छोटे—से लट्टू की मंद, मधुर रोशनी की चादर ओढ़कर तरह-तरह के हवाई किले वनानेका निश्चय कर लिया।

....लेकिन मैं अपना निश्चय पूरा न कर सका। वड़ी कोशिशके वाद भी मैं एक भी

हवाई किला नहीं बना पाया। सुखकी जो अनुभूति प्राप्त करने के लिए मैं पिछले चौदह-पंद्रह घंटों तक व्याकुल रहा, उसकी प्राप्तिका अवसर पाकर भी मैं उसे प्राप्त नहीं कर पाया। थोड़ी देरके लिए मुझे ऐसा लगा, जैसे मैं बिलकुल उत्साहहीन, स्पंदन-रहित हो गया हूँ और फिर सहसा मैंने पाया कि मेरा गला भर आया है और आँखें छलछला आई हैं और गाल आँसुओंसे तर हैं!!! वियोगकी कितनी पीड़ा थी उन आँसुओंमें और पश्चात्तापकी कितनी तीव्र ज्वाला!...

...हाँ रानी, वे आँसू तुम्हारे ही लिए बहे थे! वह तुम्हारे ही वियोग की पीड़ा थी! वह तुम्हारे ही साथ किए हुए अत्याचारों का पश्चात्ताप था!...

...सचमुच, कितनी अजीब बात थी! जब तक तुम जीवित रहीं, तबतक मैं सोचता रहा कि तुम्हारी मृत्युपर मैं खिलखिलाकर हँस पड़ूंगा और अब, जब तुम मर गई, तब मैं जार-जार रोने लगा हूँ!... मनुष्य का मन भी कितनी गूढ़ पहेली है! मनुष्य अपने आपको भी पहचान नहीं पाता!...

मैं बड़ी देर तक चुपचाप रोता रहा। आँखोंमें आँसू बार बार-भर आते रहे और बहते रहे। भरी हुई आँखों के कारण मुझे अपना पलंग, अपना शयन–कक्ष, बिजली का नीला लट्टू सब धुंधला-धुंधला-सा दिखाई देने लगा, आँखों के सामने धुंध-सी छा गई और फिर सहसा उसी धुंध के परदेपर तुम्हारे साथ बिताये हुए दिनों की तस्वीरें उभरने लगीं!...

...सोहाग-रात! ...प्रणयकी चरम परिणिती!!... उस दिन के कितने मधुर, कितने रंगीन, कितने रोमांचकारी सपने सँजोये थे मैंने!...सपने तो सभी सँजोते हैं, लेकिन मेरे सपने शायद सबसे अधिक भावुक थे!...(आह! मेरी इस भावुकताने कितना छला मुझे!) ...बड़ा-सा, एकांत कमरा, फर्शपर कीमती कालीन, दीवारों पर कुशल चितेरेके हाथों बने हुए दुष्यंत-शकुंतला, अनिरुद्ध-उषा, पृथ्वीराज-संयोगिताके प्रणय-चित्र, उत्तर-रात्रिकी शांत, स्निग्ध बेलां, पूर्व-दिशाकी खिड़कीसे आनेवाली ठंडी-ठंडी हवा, पश्चिम दिशा की खिड़की से आनेवाली ढलते हुए चंद्रमा की शीतल चांदनी, मसहरी, पुष्पहार और नर्म बिछौनेसे सजा हुआ पलंग और उस पलंगपर सिमट-सिकुड़कर बैठी हुई स्वप्न-लोककी परी-सी कमनीय नवोढ़ा!....मसहरीका परदा हटाकर मैं पलंगपर उसके पास बैठ जाता हूं और धीरेसे उस सुंदरी का घूंघट उठाता हूं!... उसके सौंदर्यका तेज मुझे जितना चकित कर देता है, उतना ही उत्साहित भी। : लज्जा से आरक्त गाल, नीचे झुकी हुई, बड़ी बड़ी, मछली सी आँखें, सघन केश, पतले-पतले ओंठ...मैं बड़ी देर तक टकटकी लगाये उस अनुपम सौंदर्य शशिका निरीक्षण करता हूं और जब विस्मय और हर्षका आवेग कुछ कम होता है, तब धीरेसे पुकारता हूं– "रानी!"

वह चुप। केवल ओंठोंपर मंद मुस्कान।

मैं अपनी दो उंगलियों से उसकी ठुड्डी पकड़ता हूं और उसका चेहरा ऊपर उठाते हुए दुबारा पुकारता हूं- "रानी!"

क्षणमात्र के लिए उसकी आँखें मेरी आँखों से मिलती हैं और पुनः झुक जाती हैं। गाल अब और भी आरक्त हो उठे हैं। ओठोंपरकी मुस्कान और भी गहरी हो उठी है।

मैं तीसरी बार पुकारता हूं "रानी"! और वह धीरेसे कहती है– "जी!"

जैसे किसी मंदिरकी छोटी छोटी घंटियाँ टिनटिना उठतीं हैं, जैसे कोई बंसी धीरेसे बज उठती है, जैसे किसी झरनेकी धारा संगमरमरके पत्थरपर टकराकर चुप हो जाती है!.....

......लेकिन प्रत्यक्ष में मुझे क्या मिला?

...उत्तर प्रदेश का शुष्क, देहाती गांव, दूरके गरीब रिश्तेदार का खँडहर-जैसा कच्चा मकान, उमस-भरी छोटी-सी कोठरी, जिसमें एक भी खिड़की नहीं थी, टिमटिमाती हुई लालटेन, जिसका शीशा कालिखसे ढँक गया था, पुरानी-सी चारपाई, उसपर बिछा हुआ सस्ता सा गलीचा और उस गलीचे पर लेटी हुई एक नारी!...

मैं उस कमरेमें पहुंचा और अपने प्रणय-कक्षकी वह विडम्बना देखकर एकदमसे हताश हो गया। मेरा उत्साह-उल्लास जाने कहाँ तिरोहित हो गया और मैं चुपचाप खड़ा रह गया— उस पथिककी भाँति जिसका सर्वस्व लुटेरोंने अचानक लूट लिया हो!...

मेरे स्वप्न-लोककी अप्सरा(?) चारपाईपर चुपचाप लेटी रही— निश्चेष्ट, मौन, स्पंदन-हीन! मैंने तनिक खँखारकर अपना अस्तित्व प्रकट किया, लेकिन कोई परिवर्तन नहीं हुआ वह उसी तरह चुपचाप लेटी रही!

मैंने सोचा, शायद थककर सो गई है थोड़ी देरतक चुपचाप खड़ा रहा, फिर सोचा, अपनी "उन" का तनिक चेहरा तो जरा देखूं। सो वही कालिख पुती लालटेन उठाकर उनके मुख के पास ले गया। देखा–एक गेहुंए रंगका साधारण-सा नारी-मुख एकदम भावशून्य! उस चेहरेपर न लज्जा थी, न हर्ष, न शोक, न प्रसन्नता, न विस्मय! अपनी शुष्क, नीरस आँखोंसे वे शून्य की ओर टकटकी लगाए देख रही थीं!

मैंने थोड़ी देरतक उस भाव-हीन मुखाकृतिका निरीक्षण किया और फिर लालटेन अपनी जगह रखकर चुपचाप उनकी बगलमें लेट गया। (मजबूरी यह थी कि वहाँ दूसरी चारपाई नहीं थी।) मुझे ऐसा लगा, जैसे किसीने मुझे अचानक गहरे कुएँमें ढकेल दिया हो! एक लम्बी, ठंडी साँस मेरे मुंहसे निकल पड़ी!...

...और तभी मेरी बगलसे आई एक आवाज-"आप हमें हमारे घर भेज दीजिए!"

(अरे! यह क्या किसी नारीका स्वर है? - मैं चौंक पड़ा।) लगा, जैसे कहीं अचानक मेंढक टर्रा उठा हो, जैसे किसी लारीका खड़खड़ाला हॉर्न बज उठा हो! कितनी रूखी, कितनी कर्कश, कितनी भाव-हीन थी वह आवाज!

...मैंने कोई उत्तर नहीं दिया और करवट बदलकर आँखें मूंद लीं!.

मनुष्य स्वभावतः ही संतोषी होता है। अपनी परिस्थितिसे समझौता कर लेना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। "होनी बलवान" कहकर मैं भी चुप हो गया। और करता भी क्या? अब तो जन्मभर का नाता निबाहना ही था– चाहे रोकर निबाहूं, चाहे हँसकर!..

...लेकिन रानी, हँसना बहुत मुश्किल था– लगभग असम्भव! घर आकर मैंने पाया कि तुम मुझसे कम-से-कम चार वर्ष बड़ी हो और साथ ही साथ यह भी कि तुम्हारे भीतर प्रणयकी आकांक्षा बिलकुल नहीं है! तुम्हारा यौवन जैसे बहुत पहले ही ढल चुका था! प्रणयको जैसे तुम कटु, अप्रिय किन्तु अनिवार्य कर्त्तव्य

समझती थीं और मेरे रसिक-हृदयको इससे बड़ी ठेस पहुँचती थी। मैं जिस नाज, अदा, भाव-भंगिमा और सम्पूर्ण-समर्पणका भूखा था, वह तुममें बिलकुल नहीं था! तुम जैसे एक प्रौढ़ा थीं—गत-यौवना-प्रौढ़ा!

फिर भी मैंने अपने भाग्य से समझौता कर लिया। सोचो, मनुष्य की सबकी सब इच्छाएँ कब पूरी होतीं हैं? मानव जीवनका दूसरा नाम शायद अभाव ही है। इस तरह अपने आपको समझाकर मैंने अपने दुर्भाग्य को स्वीकार कर लिया।...

...लेकिन मुझे यह कहाँ मालूम था कि यह मेरे दुर्भाग्य का केवल प्रारम्भ है! दाम्पत्य जीवन की विडम्बना तो अभी शुरू ही हुई थी!.. हमारा प्रणय-जीवन दो वर्षमें ही समाप्त हो गया! इस प्रणय जीवन के चिन्ह के रूपमें एक लड़का हुआ था, जो केवल छः महीने की जिंदगी जीकर चेचकका शिकार हो गया! चेचकने तुमपर भी आक्रमण किया और तुम्हारा बचा-खुचा सौंदर्य भी मिट गया! मेरे हृदयपर एक और आघात हुआ, लेकिन मैंने उसे भी सह लिया!

पर दुर्भाग्य तो जैसे हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ गया था! चेचकसे मुक्ति पाते ही तुमपर अनेकों रोग टूट पड़े— प्ल्यूरसी, ल्युकोरिया तपेदिक, एनीमिया और जाने क्या-क्या! हजारों रुपए तुम्हारी चिकित्सापर खर्च होने लगे। एक तरफ तुम्हारी बिमारियाँ थीं और दूसरी तरफ बम्बई के बड़े-बड़े चिकित्सा-विशेषज्ञ! बड़ा विकट संघर्ष था— बड़ी भीषण लड़ाई थी! दोनों दल अपनी पूरी शक्तिसे लड़ रहे थे!...

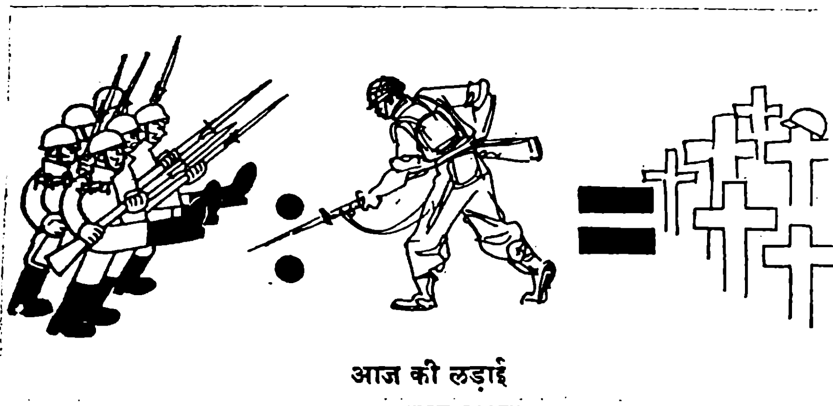
...और इन दो दलोंके बीच पिस रहा था मेरा सुख! जो कुछ और जैसा भी कुछ प्रणय मुझे मिल रहा था, उससे भी मैं हाथ धो बैठा तुम्हारी एक बीमारी अच्छी होने लगती तो मेरे मनमें आशा जाग उठती कि चलो, अब मिलेगा सुख....कि दूसरी बीमारी शुरू हो जाती! मैं फिर निराश हो जाता!...

...आशा—निराशाकी इस लुका छिपीमें बारह वर्ष बीत गए! मैं उद्विग्न हो उठा। लगा, जैसे पागल हो जाऊँगा। मैं भी मनुष्य ही हूं। जवानी की उमंगें मेरे मनमें थीं।.... आसपास तमाम भड़कानेवाली चीजें थीं। मनोरंजनके लिए कभी सिनेमा जाता तो उसके प्रणय—दृश्य मनोरंजन के बजाय मनमें और भी आग लगा देते! अत्यंत उत्तेजित होकर मैं घर आता और आते ही तुम्हें बाहों में भर लेता। लेकिन तुम्हारे जर्जर शरीर पर दया आ जाती। प्रतिवाद तो तुम न करतीं, लेकिन जिस दयनीय और करुणा भरी-आँखोंसे तुम मेरी ओर देखतीं, उससे मेरी सारी उत्तेजना शिथिल हो जाती। तुम्हारे प्रति करुणा और अपने दुर्भाग्य के प्रति झुंझलाहटसे मेरा मन अकुला उठता और मैं अपना सिर धुनने लगता!

...कभी कभी मैं सोचता कि काश! तुम मर जातीं? लेकिन दूसरे ही क्षण मेरा विवेक बिच्छूके डंककी तरह चुभकर मुझे फटकारता- "अरे! कितने दुष्ट हो तुम! अपने सुख के लिए एक निरपराध अबलाकी मृत्युकी कामना करते हो?...हाँ, निरपराध ही तो है वह! क्या वह जानबूझकर बीमार होती है?... कौन चाहेगा बीमार होना?"

लेकिन इस तरह मुझे उपदेश देनेवाला मेरा विवेक मेरे सुखका कोई प्रबंध नहीं कर पाता था। मेरी प्यास बढ़ती ही जाती थी और पानी कहीं नहीं मिल रहा था!...प्रणय-दृश्य उत्तेजित करते हैं, इसलिए सिनेमा देखना छोड़ दिया। पत्र-पत्रिकाओंके मुख पृष्ठ युवतियोंके चित्रोंसे ही सुशोभित होते हैं, इसलिए पत्रिकाएँ पढ़ना छोड़ दिया! सड़कों पर, बाजारोंमें ब्याहे— अनब्याहे जोड़े हाथों में हाथ डाले घूम हैं और भाँति भाँतिके सौंदर्य उपकरणों से सुसज्जित रमणियाँ भी दिखाई पड़तीं हैं, इसलिए बिना अत्यावश्यक कामके बाहर निकलना भी छोड़ दिया!...लेकिन शीघ्र ही मुझे मालूम हो गया कि यह सबकुछ वैसा ही निरर्थक है, जैसा बड़े जोरशोरके साथ बहती हुई विशाल नदीके प्रवाहको बालूकी दीवारसे रोकना! किंतु और कोई उपाय भी तो नहीं था! कभी-कभी बाहर बहुत काम करना पड़ता। तरह-तरह की उलझनोंका सामना करना पड़ता। शामको घर लौटता तो शरीर और मन दोनों थककर चूर हो जाते। सिरमें हल्का-हल्का दर्द भी होने लगता। तब सोचता, काश! आज तुम्हारी तबीयत अच्छी हो, दरवाजेपर खड़ी होकर मुस्कराती हुई तुम मेरा स्वागत करो, गर्मागर्म चायसे लबालब भरा हुआ प्याला मेरे सामने की मेजपर ला रखो और फिर अपनी पतली—पतली उंगलियों से मेरे माथेपर बाम मल दो।...लेकिन घर पहुंचता तो मेरे ये सब दिवा—स्वप्न धराशायी हो जाते। देखता, तुम चारपाई पर सिरसे पैर तक शाल ताने पड़ी हो और धीरे—धीरे कराह रही हो! मैं क्षणभर टकटकी लगाकर तुम्हारी ओर देखता; फिर मन एकाएक उत्तेजित हो उठता, सिर और भी जोरसे दर्द करने लगता और मैं चुपचाप अपनी चारपाईपर जा लेटता। क्षणभर के लिए जी चाहता कि पूछूं, "क्या बात है?... कहाँ दर्द हो रहा है?" लेकिन जाने क्यों, ये शब्द ओंठोंसे बाहर न निकल पाते। चाहकर भी मैं तुम्हें सहानुभूति न जता पाता। एक अजीब-सी कुढ़न, एक अजीब—सी उदासी मेरे मन में उभर आती और मैं जैसे बिलकुल शून्य बनकर पत्थर के बुतकी तरह चुपचाप लेटा रहता!....

.....हाँ रानी, इन दिनों मैं तुम्हारी घोर उपेक्षा करने लगा था! मैं जानता था कि मेरी यह उपेक्षा नितान्त अमानवीय है, तुमपर मेरा राक्षसी अत्याचार



आज की लड़ाई

अनुक्रमणिका





है? लेकिन यह सब जानते हुए भी, न जाने क्यों, मैं तुम्हारी उपेक्षा ही करता रहा! जाने कैसे इन दिनों तुम्हारे प्रति मेरे मन में अजीब-सी उदासी समा गई थी! तुम्हारे अस्तित्व को ही जैसे मैं भूल गया था! तुम मेरी कोई हो, तुम्हारे प्रति मेरा कोई अस्तित्व कर्तव्य है, कोई उत्तरदायित्व है—यह जैसे मुझे याद नहीं रह गया था!

वैसे, तुम्हारी चिकित्सा मैंने बंद नहीं कराई थी। तुम्हारे लिए दवाइयाँ, टॉनिक, इन्जेक्शन्स, फल—सबकुछ अब भी बराबर आ रहा था; लेकिन अब यह सबकुछ बिलकुल नीरस, बिलकुल निरर्थक-सा हो गया था। किसी सूखते हुए पौधेकी सेवा कोई माली जिस उदासीनता और लापरवाहीसे करे—यह जानते हुए भी कि इस पौधेसे अब न कोई फल मिलेगा, न रस—वह उसे बराबर सींचता रहे, खाद देता रहे—ठीक उसी तरह मैं भी तुम्हारी सेवा—चिकित्सा कर रहा था!

पहले मैं घंटों तुम्हारे साथ प्यार की मीठी-मीठी बातें किया करता था। "तुमसे मुझे कोई शिकायत नहीं है, तुम्हारे लिए मेरे मन में जरा भी नाराजगी नहीं है, मैं तुमसे जरा भी असंतुष्ट नहीं हूं" इस तरह की बातें मैं दिनभरमें कई बार दोहराया करता था, बीमारीसे जल्दी ही छुटकारा पाने के झूठे-सच्चे दिलासे मैं तुम्हें हमेशा दिया करता था; लेकिन अब यह सबकुछ छूट गया था। मैंने जानबूझकर नहीं छोड़ा था—अपने आप छूट गया था। मैं अब न कभी तुम्हारे पास बैठता था, न कभी कोई बातें ही करता था। मैंने तुमसे जैसे बोलना ही छोड़ दिया था। जब बोलना बहुत ही जरूरी होता था, तभी बोलता था। तुम कुछ पूछतीं भी थीं तो मैं सिर्फ "हाँ," "उहूँ" जैसे शब्दोंसे उत्तर दे देता था। "कैसी हो?", "जी कैसा है?", "दवाइयाँ समयसे ले रही हो न?" इस तरहकी साधारण शिष्टाचारकी बातें पूछना भी अब मैंने छोड़ दिया था।

मेरी लापरवाही और उपेक्षा तुम समझ रही हो—यह मैं जानता था, मुझे यह भी मालूम था कि मेरा यह बर्ताव तुम्हारे कोमल मन पर बहुत ठेस पहुँचाता है, तुमपर मैं बहुत ही निर्मम अत्याचार कर रहा हूं—इसका एहसास मुझे था, अपने अमानवीय बर्ताव के प्रति मेरे मन में ग्लानि भी थी, लेकिन जाने क्यों, चाहकर भी मैं अपना बर्ताव बदल नहीं पा रहा था। न जाने मेरे अंतर में कौन-सी आसुरी शक्ति थी जो तुम्हारे प्रति सदय बननेसे मुझे रोक रही थी।

मेरा प्यार पाने के लिए, मेरी सहानुभूति प्राप्त करने के लिए इन दिनों तुम बहुत ही व्याकुल रहती थीं, बहुत कोशिश करने लगी थीं, लेकिन तुम्हारी सारी कोशिशें बेकार हो जाती थीं! ..

...कभी-कभी रात को जब भोजन से निपटकर मैं पलंग पर लेटता तब तुम मेरे पैर दबाने लगती। मैं महसूस करता कि तुम्हारी उँगलियाँ बेजान-सी हैं और यह भी कि वे हलके बुखारके कारण गर्म हैं। मैं यह भी जान जाता कि मेरे पैर दबानेमें तुम्हें तकलीफ हो रही है और बड़ी मुश्किलसे तुम अपनेको कराहनेसे रोक रही हो। तब अचानक मुझे तुमपर तरस आ जाता। तुम्हारा हाथ पकड़कर मैं तुम्हें अपने पास लिटा लेता और तुम्हें अपने अलिंगनमें बांध लेता।

मेरी वह क्षणिक सहानुभूति पाकर सहसा तुम्हारी आँखों से आँसू बहने लगते। तुम जार-जार रोने लगतीं। तुम्हारे उन आँसुओंमें हर्ष और शोक, निराशा और संतोष, सफलता और पराजय का अजीब-सा मिश्रण रहता। उन आँसुओंको देखकर मैं तुम्हारे प्रति और भी करुण हो उठता। तुम्हारे आँसू पोंछने लगता और तुम्हारे बालोंपर धीरे-धीरे हाथ फिराने लगता।...

...लेकिन मेरी वह करुणा और ममता अल्पकालीन ही सिद्ध होती। दूसरे दिन सवेरेसे ही मेरा मन तुम्हारे प्रति पुनः वैसा ही उदास, वैसा ही कठोर हो जाता और मेरी वह उदासीनता और कठोरता तुम्हें पुनः व्यथित, व्याकुल कर देती।... और फिर धीरे-धीरे मेरी उस कठोरता के सामने तुमने अपनी पराजय स्वीकार कर ली! मुझसे स्नेह और सहानुभूति पानेकी आशा तुमने छोड़ दी! निराशाका यह आघात तुम्हारे लिए अत्यंत भीषण सिद्ध हुआ—इतना कि उसने तुम्हारी जीनेको बची-खुची इच्छा को भी नष्ट कर डाला! तुम मृत्युकी प्रतीक्षा अत्यंत आतुरतापूर्वक करने लगीं—यह मुझे साफ़-साफ़ दिखाई देने लगा। मुझे इस बातका स्पष्ट एहसास है कि यदि मेरी ममता और सहानुभूति तुम्हें मिलती तो तुम्हारी जिंदगी अवश्य कुछ बढ़ जाती! काश! मैं ममता और सहानुभूति का अभिनय ही कर पाता!...

...हाँ रानी, तुम्हारी मृत्युका अप्रत्यक्ष कारण मैं ही हूँ! मेरी उपेक्षा और कठोरताने ही तुम्हें इतनी जल्दी मौतके मुँहमें पहुँचा दिया!...हाँ, मैंने ही तुम्हारी हत्या की!! मैं ही तुम्हारा हत्यारा हूँ!!!..

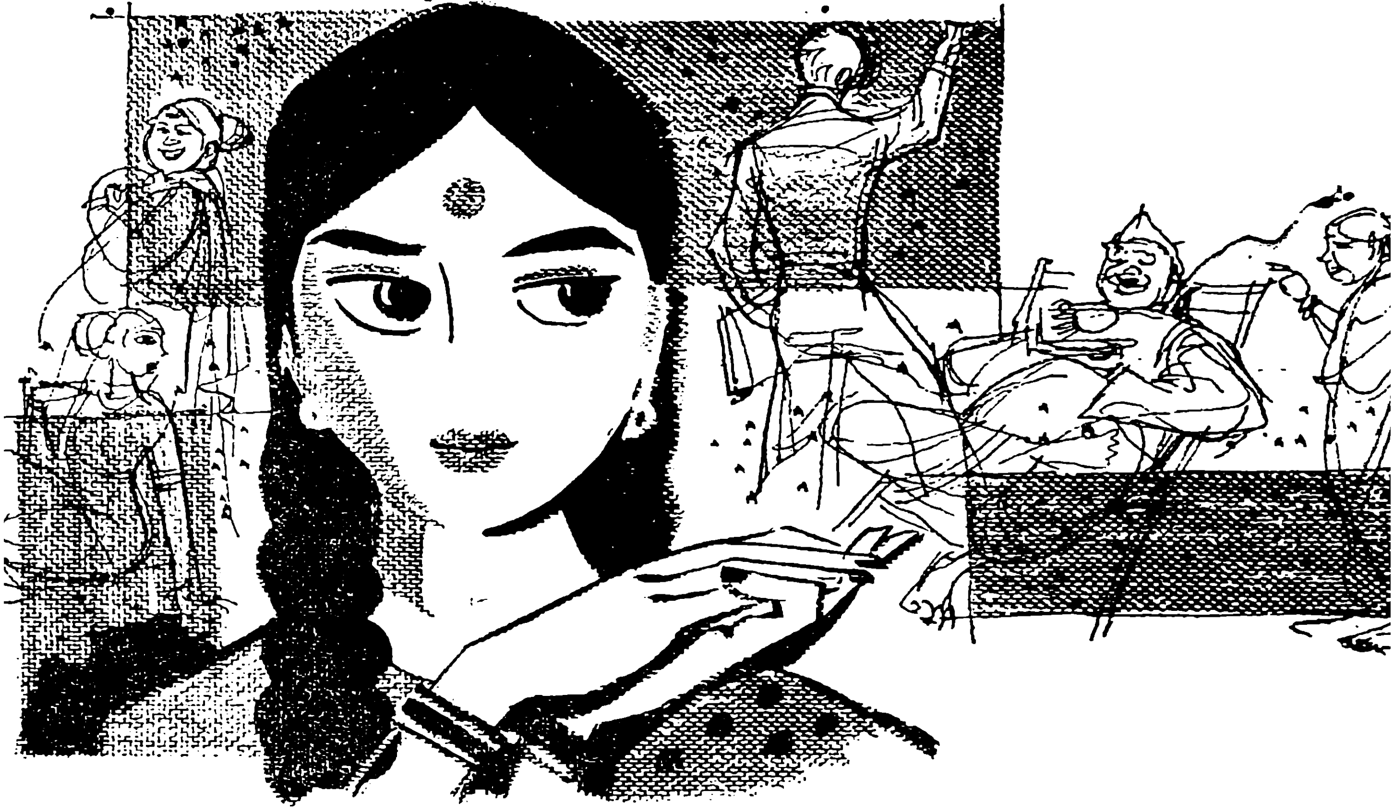
...कल शाम को जब मैं तुम्हारे पलंग के पास गया था तो तुम मेरी ओर देखकर मुस्कुरा दी थीं। इतनी करुण, इतनी हताश थी तुम्हारी वह मुस्कान कि मैं सहसा सिहर उठा था! मेरे शरीरका रोम-रोम थर्रा उठा था! तुम्हारा चेहरा मुझसे देखा नहीं गया था और मैंने आँखें फेर ली थीं।

तब तुमने कहा था—"घबड़ाइये नहीं, मैं अब आपको ज्यादा परेशान नहीं करूँगी! आप जल्दी ही मुझसे छुटकारा पा जायेंगे... जल्दी ही....."

लेकिन तुम्हारे उन अत्यंत करुण शब्दोंने भी मुझे प्रभावित नहीं किया था। मैं जानता था कि कम-से-कम मुझे इतना तो कहना चाहिए कि "कैसी बातें करती हो तुम रानी? तुम जल्दी ही अच्छी हो जाओगी।" लेकिन मेरे मुंहसे इतना भी नहीं निकला था। मैं चुपचाप अपने कमरेमें चला गया था!...

...और फिर आज सवेरे ही तुम चली गईं—जैसे हवाका झोंका चला जाता है जैसे नदी की लहर चली जाती है, जैसे प्रकाश की किरण चली जाती है—उसी तरह, चुपचाप, शान्ति के साथ, तुम चली गईं...और मैं यहाँ अकेला रह गया हूँ—जीवनभर अपनी कठोरतापर पछतानेके लिए और तुम्हारे साथ किए हुए अत्याचारोंपर आँसू बहाने के लिए! ●●●

अनुक्रमणिका



ज़िन्दगी की चौखट

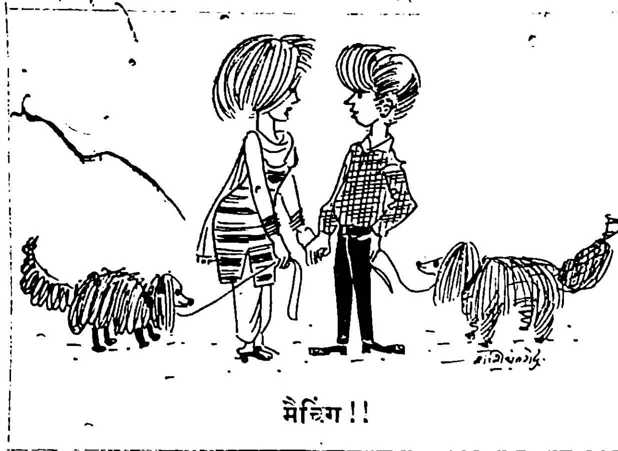
मनुष्य कभी भी एक वक्त पूरे रूप से नहीं मरता। वह इस जीवन में मरता रहता है। पर धीरे-धीरे। कुछ भागों में, कुछ हिस्सों में। क्या हुआ जो उसमें साँस चलती रहती है। उसके कुछ अंश मर जाते हैं। मैं भी मर चुका हूं।

—जगजीत सिंह

उस शाम मेरा मन कुछ उदास था। इधर उधर घूमने से भी जब मेरा मन न बहल सका तो मैं घर वापस लौट आया। अंधेरा छा चुका था। मैंने अपनी मेज़ पर रखे हुये टेबल लैंप को जलाया और एक किताब उठा कर पढ़ने लगा। अभी मैंने किताब खोली ही थी कि मेरी नज़र पहले अध्याय के पहले ही वाक्य पर पड़ी। लिखा था :—"प्रेम नारी के तो पूरे जीवन का इतिहास होता है-परन्तु पुरुष के जीवन में एक साधारण सी घटना।" वाक्य पढ़ते ही मेरी आंखें वहीं रुक गईं। मैं इस वाक्य पर सोचने लगा कि इसमें किस हद तक सच्चाई है और सोचते ही सोचते मैं यादों की गहराइयों में खो गया। मैं सोचने लगा कि क्या वास्तवमें भी ऐसा होता है या यह एक कल्पना ही है ? यही सोचते सोचते मेरी आंखों के सामने एक याद उभर आई जो अब वक्त की धूल में दब कर कुछ धुंधली सी हो गई थी।

बात तीन साल पहले की है। उन दिनों मैंने 'वरसोवा' में एक डबल रूम का फ्लैट किराये पर लिया था। वह जगह मुझे बहुत अच्छी लगती थी। घर के बिल्कुल पास ही सागर तट था। हर वक्त वहां ठंडी हवा चलती रहती थी जो न जाने कहीं दूर से आती थी और किसी मंजिल की तलाश में भागती हुई आगे ही आगे बढ़ती चली जाती थी। लंबे लंबे नारियल के पेड़ सिर पर मस्ती में झूमते हुये दिखाई देते थे जो मौका पाकर एक दूसरे का मुंह चूम लेते थे। और जब चांदनी रातें होतीं तो चांद की चांदनी उस सारी बस्ती को अपनी गोद में ले लेती और ऐसे लगता मानों स्वर्ग लोक के देवता इस धरती पर उतर आये हों। शहर से दूर, एक खामोश सी यह बस्ती थी 'वरसोवा' नाम की। एक नया संसार, एक नया जीवन और कई नये सपने थे इस बस्ती में मेरे लिये। मन को शांति मिल जाती थी वहां पहुंचते ही मुझे। वहां रह कर मैंने न जाने कितनी कहानियां लिखने का प्रोग्राम बनाया था। मेरे दिमाग में कितने उपन्यास लिखने का प्रोग्राम था। वहां जाकर जब मैं रहने लगा तो कई बार मै सोचता कि मनुष्य की ज़िन्दगी भी कितनी थोड़ी होती है और उसे काम कितना ज्यादा करना होता है। वरसोवा की उस ज़िंदगीमें

अनुक्रमणिका



मैचिंग !!

जाकर मैं खुश था और मैं अपने आपको भाग्यवान समझता था ।

वहां जाकर कुछ दिन रहने के वाद धीरे धीरे अड़ोस पड़ोस से पहचान निकल आई । पड़ोस में एक ओर तो कोई मद्रासी पति-पत्नी रहते थे और दूसरी ओर एक गुजराती परिवार था । पर मैंने सुना था कि वरसोवा में काफी उत्तर भारतीय लोग भी रहते हैं । धीरे धीरे वहां के लोगों को भी मेरा पता चलने लगा । एक दिन जव मेरे एक मित्र मिस्टर चतुर्वेदी मुझे मिलने आये तो वह मुझे वहीं पर ही अपने एक मित्र प्रोफेसर कालरा के घर ले गये । उनका घर मेरे घर से कुछ ही दूरी पर था । उनके घर के सव लोग मुझसे वड़े प्रेम और स्नेह के साथ मिले । प्रोफेसर कालरा की वहन जो कि कालेज में पढ़ती थी मेरे साथ इतने प्रेम से वातें करने लगी जैसे कि वह मेरी अपनी ही वहिन हो और प्रोफेसर साहव की मां कहने लगीं -"वेटा रमेश ! देखो तुम इस घर को अपना ही घर समझो । यह सरिता और वीणा दोनों तुम्हारी वहनें हैं और कालरा तुम्हारा भाई । जव कभी तुम्हारा मन उदास हो तो यहां चले आया करो—!"

मैंने कहा - "जरूर आया करूंगा माताजी ! मुझे तो आपसे मिलकर अपने मां-वाप याद आ गये हैं जो अव इस संसार में नहीं हैं और सरिता, तथा वीणा के चेहरों में मैं अपनी वहनों के ही चेहरे देखता हूं ।"

उस दिन के वाद मैं कई वार प्रोफेसर कालरा के घर गया । उनकी मां के चेहरे में मुझे अपनी मां का ही रूप नज़र आता । कई वार शाम को घूमते-घूमते सरिता और वीणा भी मेरे कमरे तक चली आतीं और मैं जो पहले अपने आपको इस संसार में विल्कुल अकेला समझता था अव यह समझने लगा कि मेरा भी कोई है !

दिन गुज़रते रहे । वीणा कई वार मेरी लिखी हुई कहानियां ले जाती उन्हें पढ़ती और उनकी प्रशंसा करती !

एक दिन जव वह कालिज से लौटी तो हाथ में कितावें लिये सीधी मेरे घर चली आई और कहने लगी:– "भैया तुम जानते हो, आज तुम्हारी एक कहानी - "एक दिल पत्थर का" इस मैगजीन में छप कर आई है और जव इस कहानी को मेरी एक सहेली 'पुष्पा' ने पढ़ा तो–वस–फिर मत पूछो कि क्या हुआ ! वह इतनी प्रभावित हुई, इतनी प्रभावित हुई कि मैं आपको वता नहीं सकती । जव मैंने उसे वताया कि यह कहानी तो मेरे भैया की लिखी हुई है तो वह कहने लगी कि मैं उसे आपसे मिलाऊं ! भैया ! आप उससे मिलेंगे न ?"

"हां, अगर तुम कहती हो तो ज़रूर मिलूंगा ।" मैंने कहा–"भला इसमें मिलने न मिलने की कौन सी वात है ?"

"पर भाई साहव उसने आधे घण्टे में मुझे कोई सौ वार पूछा होगा– न जाने उस कहानी में क्या जादू था ?" वीणा ने कहा ।

"अच्छा तो तुम उसे कभी यहां हो ले आना और देखो वीणा ! तुम मुझे एक दिन पहले ज़रूर वता देना । नहीं तो जानती ही हो कि मेरा घर किस हालत में रहता है !"

दो तीन दिन गुज़र गये वीणा न आई और एक दिन शाम को घूमते घूमते मैं जव प्रोफेसर कालरा के घर की ओर निकल आया तो वहां मुझे वीणा मिली और कहने लगी "भैया जानते हो कल क्या हुआ ? कल पुष्पा मेरे साथ वरसोवा आई थी आपसे मिलने के लिये । पर जानते हो फिर क्या हुआ ? आपके घर के पास पहुँचते ही उसे जैसे सांप सूंघ गया । कितनी देर सड़क पर ही खड़ी रही । झिझकती रही, कहने लगी:-"न रे, मुझे तो शर्म आती है" और उसका चेहरा मारे लाज के लाल सुर्ख़ हो गया। न जाने उसको लाज क्यों आती है आपसे? और फिर कहने लगी- "वीणा! हम आज नहीं, किसी दूसरे दिन चलेंगे" ––और फिर वह मुझे मेरे ही घर पर खींच लाई !"

पुष्पाके वारे में मैंने कभी कुछ भी न सोचा था । पर वीणा की इन वातों को सुन कर मेरे मन में भी उसे देखने के लिये कुछ उकसाहट सी होने लगी ! दो-तीन दिन वाद ही दोपहर को जव मैं अपने कमरे में वैठा था और अपना लिखने का काम कर रहा था तो किसी ने दरवाज़े पर दस्तक दी । मैं उठा और दरवाज़ा खोला । सामने वीणा खड़ी थी ! कहने लगी,–"भैया भला वताओ तो मेरे साथ कौन है ?"

"कौन है ?" मैंने पूछा–"मुझे तो कोई नज़र नहीं आता !"

"जरा वाहर निकल कर तो देखो, मेरी एक सहेली आई है मेरे साथ । आपके सामने आते ही इसकी जान निकली जा रही है ।"

मैंने जव कमरे से वाहर सिर निकाल कर देखा तो दीवार के साथ लगी हुई हलके नये रंग की साड़ी पहने हुये एक लड़की खड़ी थी । जिसे पूरी तरह देखने का साहस मुझे न हुआ । मैंने झुकी हुई नज़रों से उन्हें अंदर आने को कहा !

वे अंदर आ गईं ! कुछ देर खामोश वैठने के वाद वीणा मौन भंग करते हुये कहने लगी :– "भैया इसे आपकी कहानियां वहुत अच्छी लगती हैं । आप इसे अपनी कुछ कहानियां दीजिये न ! पुष्पा घर पर पढ़ लेगी !"

"जाते समय ले जाना, मैं निकाल दूंगा ।" मैंने कहा ! "आप कहां रहती हैं ?" मैंने वीणा की ओर देखते हुये पुष्पा के विषय में पूछा !

जव से वह आई थी उसकी निगाहें नीचे ही झुकी हुई थीं । मैं चाहता था कि वह जरा मेरी ओर देखे और कुछ वातें करे । पर उसने मेरे सवाल का कोई उत्तर न दिया और वीणा ही कहने लगी – "भैया यह वहुत शर्माती है ! और रहती खार में है ! भैया क्या तुम हम लोगों को चाय भी न पिलाओगे ?"

"क्यों नहीं, तुम्हारा तो यह अपना घर है, उठो, खुद ही वनाओ और साथ ही मुझे भी पिलाओ ।" मैंने कहा !

वीणा और पुष्पा दोनों उठकर दूसरे कमरे में जाकर चाय बनाने लगीं। मुझमें इतनी हिम्मत न हुई कि मैं वहां जाऊं। पर मैं इस बात पर हैरान था कि पुष्पा मुझसे इतनी क्यों शर्माती है?

थोड़ी देर के बाद वे दोनों चाय के प्याले हाथों में लिये हुये दूसरे कमरे से आगयीं। हमने चाय पी, वीणा ने मुझसे कुछ एक बातें कीं और मेरी एक दो किताबें और दो कहानियां पुष्पा के लिये लेकर वे वापस चली गयीं। इस भेंट में और पुष्पा से कोई बात न हो पाई थी। केवल जाते समय झुकी हुई आंखों से और सहमी हुई आवाज में वह मुझे नमस्ते कह पाई थी और यह आवाज उसने पूरा जोर लगा कर अपने गले से तो निकाल ली थी पर होंठों तक पहुंच कर कुछ अटक सी गई थी। अगले दिन शाम को जब मैं वीणा के घर गया तो वह कहने लगी :– "भैया जानते हो पुष्पा मुझे क्या पूछती थी? कहती थी वीणा, तुम रमेश की आंखों में कैसे देख लेती हो? उसकी तो बड़ी बड़ी आंखों से मुझे डर लगता है—— पर देखने को दिल भी बहुत करता है—–!"

वीणा की इस बात को सुन कर मैं कुछ शर्मा सा गया और मुस्कराने लगा। थोड़ी देर माताजी से इधर उधर की बातें करके मैं वापस आया। उस दिन के कुछ ही दिन बाद एक दिन दोपहर को पुष्पा और वीणा फिर मेरे घर आईं। पहले तो मेरी वीणा से ही बातें होती रहीं परन्तु जब वह उठकर दूसरे कमरे में चाय बनाने चली गयी तो मैंने सोचा कि अब बात करने का मौका है! "पुष्पा!" कुछ सहमी हुई आवाज में मैंने कहा। उसकी पलकें नीचे झुकी हुई थीं और वे धीरे धीरे कुछ इस प्रकार ऊपर को उठीं मानों ऊषा के समय सूर्य के आगे से बादल हट रहे हों। उसने केवल एक नजर मेरी आंखों में देखा और फिर उसकी पलकें नीचे झुक गई। मेरी आंखों में देखने से वह कुछ सतर्क सी हो गई थी। वह मेरे सामने बैठी रही और मैं उसे देखता रहा। मुझे ऐसा लगा कि कितना ही अच्छा हो कि पुष्पा मेरे घर रोज आये। हम हर रोज मीठी बातें करें और वह मेरे इतनी निकट हो जाय कि फिर एक दिन ऐसा आ जाये कि जब वह यहां आये तो कभी भी वापस न जाये। अभी मैं ये हवाई किले बना ही रहा था कि वीणा चाय लेकर आगई। हमने चाय पीनी शुरू की। मेरे सामने बैठकर तो पुष्पा चाय पीने से भी शर्माती थी परन्तु उस दिन हमारी आपस में बातें होनी शुरू हो गई। उसने मेरी कहानियों की बहुत प्रशंसा की जिन्हें वह पिछली बार अपने साथ ले गई थी। वह पूछने लगी– "आप ये कहानियां कैसे लिखते हैं?"

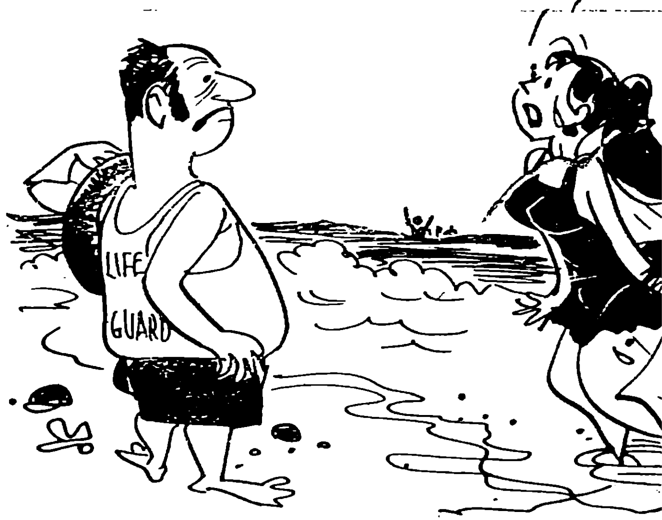
"मैं ये कहानियां लिखता ही नहीं, इन्हें जीता भी हूं। पहले जीता हूं और फिर लिख देता हूं!" मैंने कहा!

"इनमें कुछ सच्चाई भी होती है या सब कल्पना ही होती है?" वीणा ने पूछा!

"दोनों चीजें ही होती हैं। परन्तु अपनी अपनी जगह जो हम देखते हैं वह सच्चाई है और जो हम अनुभव करते हैं वह कल्पना है। दोनों के बिना कोई कहानी नहीं लिखी जा सकती!" मैंने कहा!

काफी देर तक हम कुछ इस प्रकार की ही बातें करते रहे और फिर वे दोनों चली गईं!

अब मैं पुष्पा से जल्दी जल्दी मिलना चाहता था। उसकी बातों से मुझे कुछ रस मिलता था। उसके आने से मुझे कुछ उत्साह सा मिलता था।



अजी, बचाओ की पुकार वहाँ से है।

जाने से पहले मैंने उसे अपनी एक नयी लिखी हुई कहानी दी और कहा– "पुष्पा तुम्हें कष्ट तो होगा, मगर यह एक कहानी है, तुम इसे जरा अच्छी तरह से कापी तो करके लेती आना। मुझे यह रेडियो स्टेशन पर भेजना है। गुस्ताखी के लिये क्षमा करना।" मैंने कहा।

"इसमें गुस्ताखी कैसी? मैं आपके किसी काम आ सकूं, इससे बढ़कर खुशी मुझे किस बात में हो सकती है!" उसने उत्तर में कहा!

उस दिन पुष्पा के अधरों पर मुस्कराहट थी। उसका माथा एक फूल के समान खिला हुआ था। उसकी आंखों में दीपक की सी रोशनी थी जिससे कोई दूसरा दीपक जल उठा था। सीढ़ियां नीचे उतरते हुये पुष्पा ने पलट कर देखा और जब उसने अपनी राहों पर मुझे निगाहें बिछाये हुये पाया तो बड़ी मुश्किल से गिरती गिरती संभली!

जब वह चली गई तो मैं सोचने लगा क्या पुष्पा मुझे प्यार करने लगी है? वह कितनी दिलचस्पी लेती है मेरी कहानियों में। कितनी दूर से आती है वह मुझे मिलने। परन्तु मैं किसी फैसले पर न पहुंच सका।

उसके बाद पुष्पा कई बार मेरे घर आई। पहले अगर वीणा साथ होती थी तो अब भी वह साथ ही होती थी। वह कभी अकेली न आई थी। वे दोनों मेरे घर आतीं, उसे अपना ही घर समझतीं। वे अपनी पढ़ाई करतीं। मेरी कहानियों की कापियां करतीं। मेरा कमरा जो पहले एक कबाड़ी की दूकान का सा रहता था अब एक नव ब्याहता दुल्हन के समान सजा रहता। वे दोनों ही कमरा साफ़ कर देतीं, किताबें झाड़–पोंछ कर-फूल सजा देतीं। कभीकभी पुष्पा अपने साथ कुछ फूल ले आती और उनका एक गुलदस्ता बना कर उन्हें मेरी मेज पर रख देती। एक बार जब वह आई, तो मेरे लिये गुलाब का एक फूल ले आई। फूल के साथ ही एक बहुत बड़ा कांटा लगा हुआ था। –"देखिये! मैं आपके लिये यह चुन कर एक फूल लाई हूं। मगर जानते हो? इसके साथ एक बहुत बड़ा कांटा है– और यह कांटोंवाला फूल मैंने जान बूझ कर ही आपके लिये चुना था।"

"भला वह क्यों?" मैंने हैरान होकर पूछा!





अनुक्रमणिका

कहने लगी– "फूल और कांटे इकट्ठे ही अच्छे लगते हैं। यदि अच्छे और मधुर गीत वे होते हों जो ग़म के साज पर गाये गये हों तो अच्छे फूल वही होते हैं जिनके साथ कांटे लगे हों!"

मैं उसकी इस फिलासफी को न समझ सका। पर मैंने कहा– "तुम्हारा नाम पुष्पा है। अर्थात तुम भी तो एक फूल ही हो। परन्तु तुम्हारे साथ तो कोई कांटे नहीं हैं।"

"वक्त कांटे लगा देता है!" उसने कहा!

अक्सर वह मुझसे कुछ इस प्रकार की वातें करती। मुझे इतना तो विश्वास हो गया था कि वह मुझे चाहती है। मुझे पसंद करती है! परन्तु मैं यह सब एक वार उसके मुंह से सुनना चाहता था। वीणा के सामने ऐसी वातें करने में एक झिझक सी लगतीथी और कुछ डर सा भी लगता था। लेकिन अव इस हालत में ज्यादा देर रहना भी मेरे वसका रोग न था। मेरी हालत कुछ ऐसी हो गई थी जैसे किसी ने मुझे वेहोशी की दवाई दिये विना ही मेरा आप्रेशन करने के लिये मेरे शरीर के किसी भाग को काट तो दिया हो फिर न तो आप्रेशन ही किया हो और ना ही ज़ख्म को सीया हो। मैं इस हालत में नहीं रह सकता था। मैं लपक कर अपनी मंज़िल तक पहुंचना चाहता था। पुष्पा का इस प्रकार आना यदि मुझे सुख देता था तो उसका चला जाना उससे भी अधिक दुःख देता था। वह भी कई वार वीणा की नज़रें चुरा कर मेरी आंखों में आंखें डालकर वैठी रहती। नज़रें नज़रों से वातें कर लेतीं। पर होंठ खामोश रहते। इस हालत में और अधिक देर रहना असंभव हो चुका था।

एक दिन शाम को जव मैं घूमने के लिये निकला तो प्रो. कालरा के घर चला गया। वहां जव माताजी और सरिता से वातें करके मैं वापस आने वाला ही था – कि वीणा मेरे पास आकर वैठ गई और कहने लगी:–

"भैया जानते हो कल क्या हुआ?"

"क्या हुआ?" मैंने पूछा!

"पहले वचन दो कि मिठाई खिलाओगे तव वताऊंगी।" वीणाने कहा।

"अरे वावा! तुम जो कहोगी, खिला दूंगा। पहले वताओ कि हुआ क्या था?" मैंने पूछा!

"कल क्या हुआ भैया कि पुष्पा जव अपने घर वैठी पढ़ रही थी तो तो उसके घर पर कोई मेहमान आया। उसकी मांने पुष्पा को आवाज़ दी और दो कप चाय वना कर लाने को कहा और जव वह चाय वना कर ड्राइंग रूम में पहुंची और जव उसने आंखें उठा कर उस मेहमान के चेहरे को देखा तो उसके हाथ कांप उठे। चाय के कपवाली ट्रे उसके हाथों से छूट गयी। कप तो टूटने ही थे। वेचारी के पांव भी जल गये गरम चाय से।"

"वड़े अफसोस की वात है।" मैंने कहा! "पर ऐसा क्यों हुआ?" मैंने पूछा!

"अफसोस नहीं, यह तो खुशी की वात है।" वीणा कहने लगी। "मालूम है ट्रे क्यों गिर पड़ी थी? वह जो मेहमान आया था न उसके घर। उसकी शक्ल सूरत विल्कुल आपसे मिलती थी— उसे लगा जैसे आप उसके घर आगये हों—और उसे देख कर वह घवरा गई थी।" यह सुन कर मैं कुछ शर्मा सा गया।

वीणा कहने लगी:– "भैया! पुष्पा को भाभी वना कर ले आओ?"

मैंने उसके चेहरे पर नज़रें डाल कर आंखें झुका लीं। इतने में माता जी आगयीं। मैंने कुछ इधर उधर की वातें की फिर वापस चला आया।

अव पुष्पा को जानते हुये लगभग मुझे एक वर्ष होने को आया था। हमारे संवंध एक विशेष सीमा तक पहुंच कर रुक गये थे और इस सीमा तक ही सीमित रहना वहुत कठिन नज़र आता था। एक दिन तंग आकर मैंने इस हालत के विरुद्ध विद्रोह करने का फैसला कर लिया। मैंने सोचा कि जो वात ज़वान से नहीं की जा सकती क्यों न उसे लिख कर ही कर लिया जाये ओर मैंने हिम्मत वांधकर एक चिठ्ठी पुष्पा के नाम यह सोच कर लिखनी शुरू की जव अव कभी पुष्पा मेरे घर आयेगी तो मौक़ा पाकर मैं यह चिठ्ठी उसके हाथों में दे दूंगा। मैंने लिखा:–

मेरी पुष्पा!

किसी ने कहा है कि जीवन का रस इस वात में नहीं कि हम कितनी देर के लिये जीवित रहते हैं। परन्तु रस इस वात में अवश्य ही है कि हम किस प्रकार जीवित रहते हैं। यह सच ही तो है–इस जीवन में हम हज़ारों लोगों से मिलते हैं। परन्तु उनमें वहुत कम लोग ऐसे होते हैं जो हमें अच्छे लगते हैं। हमें उत्साह देते हैं और जिनपर हमें भरोसा सा हो जाता है। जो लोग हमें अच्छे लगते हैं वह हमारे लिये एक दर्पण के मानिन्द होते हैं जिनमें हम अपनी ही छाया देखते हैं और यदि जीवन में ऐसे लोग न मिलें तो जीवन फीका, नीरस सा लगने लगता है। हम उनकी तलाश करने में लगे रहते हैं। ऐसे लोग सौभाग्य से ही मिलते हैं। पुष्पा! मैंने तुम्हारे अंदर अपने एक ऐसे मित्र का रूप पाया है। और न जाने तुम्हारे अंदर वह कौन सी ऐसी शक्ति है जो से मुझे वेक़ावू किये जाती है तथा मैं दिन प्रति दिन तुम्हारी और खिंचा चला आ रहा हूं। पुष्पा! मैं तुम्हें पसंद ही नहीं करता, प्यार भी करता हूं अपने दिल से, अपनी आत्मा से, अपने तन से अपने मन से और मैं तुम्हारी पूजा करता हूं अपने मन के इस मंदिर में। पुष्पा! मैंने तुम्हें अपने जीवन में एक वहुत ऊंचा स्थान दे रक्खा है। मैंने तुम्हारे इर्द गिर्द एक पवित्रता का ताना सा वुन रखा है और मैं चाहता हूं कि यह एक छोटी सी नदिया, जो एक साल से रुक रुक कर वह रही है, वह एक विशाल सागर वने। मैंने कई वार सोचा था कि अपने दिल की पिटारी खोल कर तुम्हारे आगे रखदूं पर फिर मेरी इतनी हिम्मत ही नहीं होती। पुष्पा! जव तुम यहां मेरे घर पर नहीं होतीं तो मेरी नज़रें वार वार कमरे के दरवाज़े तक पहुंच कर रुक जाती हैं। मेरे कान तुम्हारे क़दमों की आहट सुनने के लिये वेचैन हो जाते हैं। मेरे शरीर का प्रत्येक अंग भी अपनी ही जगह पर रुक जाता है। एक खामोशी सी छा जाती है। मुझे सामने दीवार पर लगी हुई घड़ी की टिक टिक सुनाई देने लगती है। पहले एक वजता है फिर दो वज जाते हैं और तुम नहीं आती हो। वाद में तीन—चार और फिर जव पांच भी वज जाते हैं तो मैं समझ लेता हूं कि अव तुम नहीं आओगी। मैं विखरने लगता हूं! मैं सोचता हूं शायद तुम आ जाओ और मुझे समेट लो। पर फिर सात वज जाते हैं—आठ वज जाते हैं और उसके वाद मैं घड़ी को नहीं देखता, घड़ी देखकर मुझे गुस्सा आने लगता है। मैं सोचता हूं यह कम्वख़्त रुक क्यों नहीं जाती! मेरा मज़ाक उड़ाने के लिये टिक टिक टिक टिक करती रहती है और फिर उस दिन मुझे जिन्दगी में कोई





मजा नहीं आता। मेरा दिल जख्मी हो जाता है और उसके साथ मेरी कहानियां भी जख्मी हो जाती हैं। मैं कुछ भी नहीं कर पाता! पुष्पा! तुम्हारी आंखों में न जाने क्या जादू है? मुझे तो ऐसा लगता है कि तुमने मुझ पर कोई जादू सा कर दिया है। वीणा कहती थी कि तुम मेरी आंखों की बहुत प्रशंसा करती हो। परन्तु पुष्पा! तुमने क्या कभी दर्पण में अपनी आंखों को देखा है? काश कि तुम अपनी आंखों की उस चमक को देख सको जो केवल मैं ही देख पाता हूं। पुष्पा मैं चाहता हूं कि तुम मुझे स्पष्ट रूप से बताओ कि क्या मैं तुम्हें प्यार करने का अधिकार रखता हूं? क्या तुम मेरा प्यार स्वीकार करोगी? मेरे इन प्रश्नों का उत्तर मैं कल ही चाहता हूं और मैं चाहता हूं कि कल तुम जब यहां आओ तो मेरे इन प्रश्नों का उत्तर लिख कर साथ लेती आओ।

तुम्हारा,
रमेश.

अगले ही दिन जब वीणा और पुष्पा मेरे घर आई और जब वीणा को मैंने अंदर के कमरे से पानी का गिलास लाने के लिये भेजा तो मैंने यह पत्र पुष्पा के हाथ में दे दिया। पुष्पा का चेहरा पत्र को हाथ में लेते ही मारे शर्म से लाल सुर्ख हो गया। मैंने कहा:—'पुष्पा! मुझे इस प का उत्तर जल्दी से जल्दी चाहिये और देखो इसका जिक्र कभी भी वीणा से मत करना!"

पुष्पा ने पत्र को अपनी किताब में छिपा लिया। वह कुछ सहम सी गई और थोड़ी देर बैठने के बाद वे दोनों चली गयीं। मुझे विश्वास हो गया था कि अगले ही दिन मेरे पत्र का उत्तर लिख लायेगी। अगले दिन मैंने पुष्पा का इंतजार किया। घड़ी मुझे देखकर मुस्कराती रही और वह न आई। उसके अगले दिन भी मैंने उसकी प्रतीक्षा की। पर न जाने वह क्यों न आई। मेरी बेचैनी बढ़ने लगी। मैं शाम को वीणा को मिलने उसके घर चला गया और जब मैंने उससे पुष्पा के बारे में पूछा तो वह कहने लगी कि वह तो पिछले दो दिनों से कालेज ही नहीं आई। अगले दिन जब वीणा मिली तो पता चला कि पुष्पा बीमार हो गई है। पता नहीं क्या हो गया था? दो दिन बाद वीणा ने बताया कि उसकी हालत कुछ चिन्ताजनक हो गयी है। मुझे ऐसा लगा कि पुष्पा को बुखार मेरे कारण ही हुआ है और वह पत्र उसे देकर मैंने कोई घोर पाप किया है। पुष्पा काफी दिन बीमारी रही। उसके घर जाने की हिम्मत तो मेरे अंदर थी नहीं। वीणा से ही मुझे उसके स्वास्थ्य के बारे में पता चलता रहा। वीणा जब कभी भी उसके घर गयी तो वह बातों ही बातों में मेरे बारे में भी पूछ लेती!

एक महीने के बाद पुष्पा ठीक हो गयी। ठीक होने के बाद वह मेरे घर कभी न आई और इस दौरान में ही उसकी सगाई हो गयी थी। अब मैंने उसके पीछे जाना अनुचित समझा। वक्त गुजरता रहा पर उसकी याद मेरे दिल में ताजा रही। वह मुझे उस दिन के बाद कभी भी नहीं मिली और मुझे मेरे प्रश्न का उत्तर भी न मिला।

* * *

"प्रेम नारी के जीवन का इतिहास है और पुरुष के जीवन में एक साधारण सी घटना।" पुस्तक के इस वाक्य पर ही मेरी नजरें रुकी हुई हैं। मैं सोचता हूं—"मनुष्य कभी भी एक वक्त पूरे रूप से नहीं मरता। वह इस जीवन में मरता है। पर धीरे धीरे। कुछ भागों में, कुछ हिस्सों में। क्या हुआ जो उसमें सांस चलती रहती है। उसके कुछ अंग मर जाते हैं और जिस दिन से पुष्पा नहीं आयी मैं भी मर चुका हूं। अगर पूरा नहीं तो मेरा एक हिस्सा, मेरा एक अंग मर चुका है जो फिर से जीवित नहीं हो सका। मुझे ऐसा लगता है कि जब मेरे जीवन का फ्यूज़ उड़ गया है और या फिर मेरा जीवन जैसे एक गुब्बारा था जो प्यार के वायु-मण्डल में ऊपर ही ऊपर उठा चला जा रहा था फिर न जाने वह क्यों देखते ही देखते फट गया हो और फट कर धरती पर जा गिरा हो। तीन साल हो गये हैं पुष्पा की शादी हो चुकी को। वीणा का भी अपना घर बस गया है। कई बार जब मैं वीणा से मिलने उसके घर जाता हूं तो वह प्रायः मुझे बताती है कि जब कभी भी उसे पुष्पा मिलती है तो वह मेरे बारे में जरूर पूछती है। पुष्पा से मेरी भेंट उस दिन के बाद आज तक नहीं हुई है। मैं सोचता हूं कि उसके चले जाने के बाद मेरी जिंदगी वहीं थम गयी है। क्या हुआ जो उम्र के रास्ते पर आगे ही आगे बढ़ता चला जा रहा हूं। वास्तव में मैं मर चुका हूं। यह तो केवल शरीर है जो जिन्दा है। मैं जिन्दगी की चौखट से बाहर निकाल दिया गया हूं और वे सीढ़ियां जो मौत की ओर जाती हैं उनपर कई सीढ़ियां नीचे उतर आया हूं। मौत की चौखट से सिर टिकाये इस इन्तजार में बैठा हूं कि वह अपना दरवाजा खोले मैं लपक कर अंदर चला जाऊं। जब तक मौत मुझे अंदर नहीं लेती मैं वहीं बैठा लिखता रहूंगा अपनी कहानियां और नावल। मैं सोचता हूं कि इन्सान की जिन्दगी में एक दौर होता है जब वह मिटा मिटा कर तमन्नाओं के महल बना लेता है और उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता और फिर एक दौर ऐसा भी आता है कि जब वह अपनी तमन्नाओं का महल मिटा देता है तो उसका महल तो मिट ही जाता है पर उसके खण्डहरों में दब कर वह खुद भी मिट जाता है। पर मेरी तमन्नाओं के महल को तो पुष्पा ने मिटा दिया था। अब उस फूल को कांटे लग चुके थे और वह थपेड़ जो वक्त के हाथों ने मेरी जिन्दगी के गालों पर मारा था उसकी अंगिलियों के गहरे निशान अब भी बाकी थे।

पुस्तक के इस वाक्य को पढ़कर आज मैं पुष्पा से एक सवाल पूछना चाहता हूं कि क्या प्रेम पुरुष के जीवन का इतिहास नहीं हो सकता? क्या प्रेम स्त्री के जीवन में एक साधारण घटना नहीं हो सकती? और मेरा यह प्रश्न केवल पुष्पा से ही नहीं, उस जैसी हर स्त्री से है जो किसी पुरुष के जीवन में पहले तो आकाश के बादलों की तरह छा गयी हो और फिर आकाश की बिजली के समान उसके जीवन से अलोप हो गयी हो। मैं पुष्पा जैसी हर स्त्री से यह पूछना चाहता हूं कि क्या उन्होंने कभी यह सोचा है कि उनके चले जाने के पश्चात् उन पुरुषों के दिलों पर क्या गुजरती है? वे पुरुष देखने में तो जीवित होते हैं पर वे मृत्यु के पथ पर पड़ी हुई अधमुई सी कुछ लाशें होती हैं????

* * *

किताब के इस वाक्य से आगे बढ़ना मेरे बस से बाहर है। जब भी मैं इस किताब को पढ़ा का प्रयत्न करता हूं तो मेरी नजरें इस वाक्य की गहराइयों में ही खोकर रह जाती हैं और मैं सोचता रहता हूं और बस सोचता ही रह जाता हूं——!!!

• • •







उसने कहा— "मैंने कविताओंका बंडल चूल्हे में फेंक दिया आज सुवह आपके चले जाने पर !" मैंने उसके दोनों हाथ अपने हाथों में पकड़े कहा—"मैं भी कहाँ लिखा करता हूँ आज कल ? सव कुछ त्याग दिया है मैंने...........

—पु. शि. रेगे

दक्षा से आखिरी मुलाकात हुए अव सोलह साल गुज़रे हैं, पत्रव्यवहार रुके दस साल वीते हैं और उसे भूले हुए अव...? लेकिन यह सारा हिसाव लगाना वेकार है। उसकी एक छोटी सी चिठ्ठी आई थी और फ़ौरन दो दिनों के वाद ऑफिस में अर्जेंट टेलिफोन भी।

चिठ्ठी की लिखावट परिचित थी—लम्वे अरसे के वाद..शायद उसे पहले की तरह लिखने की आदत न थीं। इसीलिये लिखावट ज़रा विगड़ी हुई थी, पुरानी लिखावट का अनुकरण करने की शक्ति उसमें शायद न थी। पता था उसपर भायखला के एक होटल का—जो सचमुच मुझे ढूंढना पड़ता। और उस चिठ्ठी का विपय कुछ नहीं था। मैं यहाँ आई हुई हूँ। दो या तीन दिन रहूँगी।

पहले मैंने अपने दिल को ज़रा थाम लिया, साहस इकठ्ठा किया—पहले की सारी वातें मैंने दिलसे हटाकर चालू वातें दिल को सिखाई। इतने दिन वीत गये, कोई किसीका वनकर कैसे रह सकता है ?

मुझे याद आया दक्षा खड़ी रहा करती थी अपने मामा के मकान की एक खिड़की में। और मैं वैठा करता था अपने कमरे की खिड़की में पुस्तक में आँखें गड़ाने की कोशिश करता हुआ। उसका चेहरा निर्विकार रहता था मानों वह कुछ भी देख नही रही है। मैं तो शायद उसे दीख ही नहीं पड़ता था —विलकुल सामने के मकान के नीचले तल्ले पर पैंतालिस अंश का कोण वनानेवाली भुजा के दूसरे छोर-पर अस्वस्थ वनकर वैठा हुआ। वॅविंगृन स्मिथ कमेटी की सिक्के के वारे में की गई सूचनाओं के वदले मेरे हाथों की किताबमें दक्षा का नाम हर जगह अंकित हुआ होता था...भारतीय अर्थशास्त्र उस समय कम से कम मैं अपने लिये इस प्रकार आसान सा वना लेता था।

यह दक्षा कभी वाहर नहीं निकलती थी। पहले पांच–छः महिने तो मैंने उसे कहीं नहीं देखा था।

उस वक्त मेरा एक नियम था, वहुत पढ़ना और फिर वहुत घूमना। पागल की तरह अकेला ही सॅंढर्स्ट रोड, ह्यूज रोड, गिव्ज रोड, ये रास्ते तय करते हुए हँगिंग गार्डन पहुँचकर विना रुके छः प्रदक्षिणाएं करता और गिरी रोड से उतने ही वेग से दौड़कर आता था और रात को खाना खाकर फिर पढ़ने वैठा करता था। इसी तरह और कुछ दिन गुज़र गये...भारतीय अर्थशास्त्र के इतिहास में तेज़ीसे वदल हो रहा था। सरकार सिर्फ मेरे लिये ही अलग अलग कमेटियाँ वना रही थी।

इसी वक्त यकायक मेरा खिड़कीयुग खतम हुआ। दक्षा की ऐसे ही पहचान हो गई। मैं उसे अपनी कविताएं पढ़ने के लिये देने लगा। वह भी उन कविताओं को पढ़कर, कुछ वोले वगैर ही नियमित रूपसे हर दो दिन वाद लौटाने लगी। एक कविता का नाम था, 'वीणा–गीत'! मैंने ग्रीक वीणा की आकृति वनाकर कविता की हर पंक्ति वीणा की एक-एक तार के स्थानपर लगाकर दक्षाको वह कविता दी थी। वैसे देखा जाय तो वह वीणा–वंध काफ़ी पुराना था। दक्षा ने जव वह कविता पढ़कर लौटाई तव उसने वीणा की आकृति में अपनी कुशलता से थोड़ासा और सुधार करके उसे आकर्पक वनाया। उसने यह भी वताया कि कढ़ाई के लिये उसने इस डिझाइन की नक़ल' कर रखी है।

उसके वाद दो-तीन दिन मैंने भारतीय अर्थशास्त्र पढ़ने के लिये ज्यादा मेहनत की। वट्टे के भाव के वारे में (यह भाव रुढ़ होकर अव सात-साल वीते थे तो भी) जो अलग अलग मत-प्रवाह प्रचलित थे वे इकठ्ठा करके एक निवंध भी मैंने लिख डाला।

असल में दक्षा यह सव जानती थी। इन वातों में वह मुझे जितना धोखा देना चाहती थी, उतना ही धोखा वह दे रही थी। प्रेम करना मैं सीख रहा था।

फिर पत्र, भेंट की चीज़ें, वादे और कसमें—यह सव वढ़ने लगा। परीक्षा सिरपर आई तव सोचा वेकार ही यह सारा जाला वना लिया है।

रिजल्ट ज़ाहिर हुआ और इंटर की तरह इस वार भी पहला दर्जा मैं थोड़े ही मार्कों के कारण खो वैठा।

इसी वीच दक्षा की शादी हुई। वह भंडारा या ऐसी ही किसी जगह चली गयी। मैं इंग्लैंड चला गया।

तीन साल वाद मैं लौटा। उस वक्त के 'प्रतिमा' नामक पाक्षिक में उसने अपने नामसे छापी हुई कुछ कविताओंको मैंने पढ़ा। वे कविताएं मेरी ही थीं।





अनुक्रमणिका

हरिभाऊ से पूछताछ करके उसका पता लेनेकी इच्छा हुई। (संपादकीय एटीकेट के कारण शायद वे मुझे उसका पता न भी देते।)

मुझे अपने प्रथम कविता संग्रह में ये प्रक्षिप्त कविताएं अलग रखनी पड़ी। सावधानी रखनेकी दृष्टि से मैं फिर नई कविताएं अपनी शैली को भी जरा बदलकर लिखने लगा।

इस कविता संग्रह की समालोचना "संदीपिका' में उसके नामसे प्रकाशित हुई। उसने वह समालोचना इस ढंगसे लिखी थी मानों वह सबकुछ जानती है।—तब मैंने बापूराव के पीछे पड़कर उसका पता उनसे ले लिया। पहले की सारी बातें भूलकर हमने नया पत्रव्यवहार शुरू किया।

यह सारा बीच का इतिहास और किसी वक्त बताना होगा...

आज...आज दक्षा का यह नवीन पत्र दस साल बाद आया हुआ था। मैं आगे-पीछे की बातें कुछ भी नहीं जानता था। मैंने यकायक महसूस किया कि यह सारा मैंने किया जरूर लेकिन पहले की तरह आज भी अकेला ही हूँ। दक्षा खिड़की में खड़ी है और मेरी- बॅकिंगृन-स्मिथ की कमेटी से झगड़ा जारी है।

हॅमिल्टन होटल ढूँढने के लिये मुझे ठीक पौना घंटा लगा। दक्षा ने यह जगह क्यों ढूँढी थी वह मैं जान न सका। मैं जब वहाँ पहुँचा तब दक्षा नहीं थी। शायद यही कारण था कि मेरे दिल का बोझ ज़रा हलका हो गया।

मुझे होटल में लाउंज दिखाया गया था और वहीं मैं बैठा रहा। वहाँ रोशनी भी कम थी। दक्षा के इन्तज़ार में मैं वहाँ बैठा रहा। कोई कह नहीं सकता था कि वह कब लौटेगी।

दक्षा अकेली आई हुई नहीं थी—यह बात मुझे बाद में मालूम हुई। उसके साथ उसके दो बच्चे भी थे। सोचा जरा बाहर जाऊँ और चॉकलेट या टॉफी बच्चों के लिये ले आऊँ। लेकिन इसी बीच में वह आये और चली भी जाये तो...। इसलिये उस ख्याल को टाल दिया।

काफ़ी वक्त के बाद दक्षा आयी। बड़ी लड़की को उसने उठा लिया था। छोटा लड़का अपने हाथों में एक बड़ा कागज़का बॉक्स लिये पीछेसे आ रहा था। दक्षा के गले में टँगी बैगनुमा पर्स भी काफ़ी वज़नदार थी।

चंदा को बुखार था, शायद धूप के कारण यह बताते हुए वह जीने की तरफ गयी। मैं उठा और उसके पीछे पीछे जाने लगा। बच्चे को खुद लेने की कोशिश की लेकिन वह मेरे पास नहीं आ रहा था। उसने सोचा मैं उसका बॉक्स ही ले रहा हूँ। चंदा को लेने की बात मेरे ध्यान में भी नहीं आयी। दक्षा तेजीसे ऊपर चढ़ भी गयी।

मैंने उससे चाबी ली और दरवाज़ा खोला। कमरा छोटा ही था। चंदा को उसने खाटपर लिटाया और मुझे बैठने के लिये कहा। बेटे के हाथों से बॉक्स लेकर टेबल पर रख दिया। बेटेसे मुझे—बम्बई के चाचाको—प्रणाम करने के लिये कहा। उसने भी जल्दी से प्रणाम किया। रिश्ता मालूम होनेपर शायद उसको मुझपर यकीन आया हुआ होगा। दक्षा नीचे चली गयी भोजन का ऑर्डर देने के लिये।

मैं फ़ौरन नीचे चला गया। दक्षा से कहा यह ठीक नहीं। मैं टॅक्सी ले आता हूँ, तुम सब को घर ले जाने के लिये। वह कुछ बोली भी नहीं। उससे सामान बाँधकर तैयार रहने के लिये कहकर मैं चला गया।

आगे का इतिहास अब बिलकुल थोड़ा है। चंदाका बुखार उतर गया तीन दिन बाद। तीनों रातें हम दोनों जागे।

बिट्टू की और मेरी अच्छी दोस्ती हो गई। चंदा जब ठीक हो गई तब घर जाने के लिये वे सब निकले। उस वक्त बिट्टू मुझसे चिपक गया और मुझे छोड़नेको भी तैयार न था।

जाते समय दक्षा ने मुझसे कहा कि वह अपने किसी कविता-संग्रहको प्रकाशित करने के संबंधमें एक प्रकाशक से बातें करने के लिये वहाँ आई हुई थी। मैंने कहा, इतनी ही बात थी तो मुझसे पहले ही कहा होता ? वह मुस्कराई और थोड़े समय के बाद बोली—लेकिन अब उसकी ज़रूरत नहीं। क्योंकि मैंने कविताओं का वह सारा बंडल ही चूल्हेमें डाल दिया सुबह आपके चले जाने पर!!

मैंने भी उनके दोनों हाथ अपने हाथोंमें लेते उससे कहा—मैं भी कहाँ लिखा करता हूँ आजकल! सब कुछ त्याग दिया है!

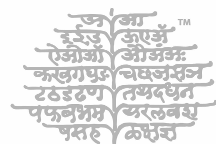
• • •

–रूपां : कुमुद रांगणेकर



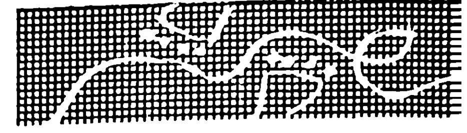


अनुक्रमणिका





सितारों के चंदोवे तले जब हम खेलने-कूदने लगे, तब वह बोली—"देखो मुझे प्यार-व्यार में मत फँसाना ! मैं जल्द ही किसीकी मँगेतर हो रही हूँ !"



लीना की कहान

-महेन्द्र कुलश्रेष्ठ



लीना से मेरा परिचय यूं हुआ। एक पार्टी में वह बड़ी सज-धजकर आई थी और सच ही बड़ी खूबसूरत और शानदार लग रही थी। जब उससे परिचय कराया गया, तब दो-चार औपचारिक बातों के बाद ही मैंने उससे कहा—आप बहुत 'लकी' हैं।

'—क्यों?'—मेरा आशय वह समझ नहीं पाई।

'—क्योंकि आप बेहद ख़ूबसूरत हैं।'

'—ओह---!' वह जरा सी शरमाई, फिर तुरंत ही सँभल गई। और मुझे लगा कि उसकी खूबसूरती एक डिगरी और भी बढ़ गई है। सचेत हो जाना शायद इसका कारण हो।

एकाध क्षण वह मुझे देखती रही, फिर बोली—मैं यह बात जानती हूं और कइयों ने मुझसे यह कहा भी है, पर ऐसे अचानक किसी ने नहीं कही। यह भी एक अदा ही रही।

मैं मुस्कराता रहा। उसे देखता रहा। सोचता रहा कि वाकई खूबसूरत और तन्दुरुस्त और खुशदिल औरत कितना सकून देती है; मन को इधर-उधर से भटकने से रोक लेती है। उसे शांत और स्थिर कर देती है। उसमें एक हलकी-फुलकी पुलक भर देती है।

'—क्या देख रहे हैं?'—वह बोली।

'—देख कुछ नहीं रहा। आप को महसूस कर रहा हूँ।'

जरा देर चुप रहकर वह बोली—'आप सचमुच अजीब हैं। पर आपकी बातें, आपका ढंग अच्छा लग रहा है।'—फिर बोली—'आइये, जरा देर डान्स करें।'

मैंने कहा—'नहीं, डान्स नहीं। बाहर चलते हैं। वहाँ जरा समुद्र के किनारे बैठेंगे। जरा सीपियाँ बीनेंगे। जरा जापानियों की तरह चाँद को देखेंगे—पर चुपचाप नहीं देखेंगे। खूब बातें करेंगे, खूब हँसेंगे और हाथ पकड़कर इधर-उधर टहलेंगे और दौड़ेंगे। क्या ख्याल है?

लीना हँसी। देरतक हँसती रही। फिर एक क्षण रुकी, कुछ सोचती रही और हाथ पकड़कर बाहर आ गई। उसकी यह तन्दुरुस्त हँसी जैसे मेरे रोम-रोम में समाने लगी।

सितारों के चंदोवे तले जब हम खेलने-कूदने लगे, तब वह बोली—'देखो मुझे प्यार-व्यार में मत फँसाना। मैं जल्द ही किसीकी मँगेतर हो रही हूँ। माता-पिता बहुत सोच-समझकर रिश्ता तय कर रहे हैं। कुछ दिन के लिए वह जरा यूरोप गया है, इसलिए तबतक मैं फ्री हूँ।'

अनुक्रमणिका

बात कहने के उसके ढंग पर मैं हँसा । फिर कहा–'घबराओ नहीं । मुझे किसी से प्यार-व्यार होता ही नहीं । यह काम बहुत पहले छूट चुका है । जब तुम चली जाओगी, उसके बाद घंटे दो घंटे ही याद रहोगी, फिर सब कुछ भूल-भाल जायगा ।'

जाने क्या हुआ, लीना की उत्फुल्लता एकदम समाप्त हो गई और गंभीर होकर उसने अपना हाथ मेरी गोदमें रख दिया । बोली कुछ नहीं, हलके-हलके मुझे देखती रही और कुछ सोचती सी रही । मानो यह तय कर रही हो कि मैंने जो कहा, उसमें कहीं झूठ तो नहीं है ।

फिर अचानक मेरा हाथ कसकर पकड़ लिया और बोली–'यह क्या मिस्ट्री है ! बताओ ।'

मैंने उसके गालों पर उंगली फिराई और मुस्कराते हुए कहा–'मिस्ट्री कुछ भी नहीं है। जिंदगी का एक सबक है। और अगर मिस्ट्री हो भी तो तुम्हारी समझ में नहीं आयेगी । आने की कोई खास जरूरत भी नहीं है ।'

उसने तेवर से मेरी तरफ देखा और कहा–'क्यों नहीं आयेगी? क्या मैं आदमी नहीं हूँ ?'

–आदमी तुम तो हो, इसमें मुझे कोई शक नहीं । और तुम बहुत सूपूर्ण आदमी हो–मुझसे कहीं ज्यादा । नेचर और डेस्टिनी ने तुम्हें बहुत कुछ दिया है । शायद इसलिये तुम समझ नहीं पाओगी । तुम्हारी बैकग्राउंड अलग है ।'

उसने बड़ी कोमलता से मेरा हाथ अपने मुँहतक लगाया, उसे दोनों हाथों में लेकर इस तरह दबाया जैसे उसका अपना ही हाथ हो, पर कुछ कहा नहीं । फिर अचानक मुझे जबरदस्ती उठाती हुई बोली–'सुनो, मुझे अपने घर ले चलो । जहां भी रहते हो वहीं ।'

'–इस वक्त? पागल हो गई हो क्या ?'

'–अभी और फौरन । उज्र किया तो झगड़ा हो जायगा। और पागल हम में से कोई एक जरूर है । हो सकता है, तुम्हीं हो । बोलो, क्या ख्याल है?'–फिर वह जरा सी हँसी ।

मैंने सोचा, बुरे फँसे । इतनी रात में उसे अपने कमरे पर ले जाऊँगा तो बुढ़िया–जिसका मैं पेइंग गेस्ट हूँ–न जाने क्या सोचेगी । हो सकता है कुछ टंटा भी खड़ा करे ।

पर अब कुछ हो नहीं सकता था । लीना कपड़े ठीक-ठाक करके गाड़ी में जाकर बैठ गई थी और बेसब्री से मेरा इन्तज़ार कर रही थी । आखिर हम चले । रास्ते में मैं सोचता रहा कि इसे मैंने गलती से वहाँ छू दिया है, जहाँ यह शुद्ध औरत है अब कुछ न कुछ होके रहेगा ।

पर कुछ भी उल्लेखनीय (या खास तौर से छिपाने योग्य) हुआ नहीं। कमरे पर गाड़ी रोक कर वह स्वाभाविक ढंग से बात-चीत करती भीतर गई, जरा देर इधर-उधर देखती और टहलती रही, कई चीजों को उठा-उठाकर इधर-उधर रखती रही, फिर कोने में टँगे मनी प्लांट का एक पता तोड़कर वापस लौट आई और बोली–'डरो नहीं, सिर्फ तुम्हारा ठिकाना देखना था। फिर कभी आकर तुमसे समझूंगी । फ़ोन का इन्तज़ार करना । और मेरे डरसे यह जगह छोड़ मत देना ।'

मैंने कहा–'औरतों से मैं कभी डरा नहीं हूँ । सदा ही उनका स्वागत किया है और उन्हें साथ लेकर चला हूं । पर वे ही ज्यादा दूर तक नहीं चल पातीं ।'

'–क्या मतलब ?'

'–पहले ही पेड़ पर घोंसला डाल कर बैठ जाना चाहती हैं । ज्यादा देर उड़ना उन्हें पसंद नहीं है ।'

वह हँसी, फिर बोली–'अच्छा चलो, अब मुझे पहुँचा दो।,

कई दिन तक लीना का फ़ोन नहीं आया, तो मैंने सोचा, चैलो बला टली । पर जब निश्चिन्त हुआ, तभी फोन आ गया उसने बताया कि जरूरी काम से व्यस्त रही और यह कि अमुक समय पर आ रही है । मैंने कहा कि उस समय तो मैं आफिस में रहता हूं, तो बोली–'तुम्हें छुट्टी ले लेनी है ।'–फिर जरा हँस-कर बोली–'नहीं तो मेरे आने का महत्व तुम कैसे समझोगे।'

मैंने कहा—'यह भी बताओ कि गम की बात कह कर छुट्टी लूंगा या खुशी की !'

बोली–'मेरे आने से तुम्हें जैसा फिल' हो रहा हो, वैसी ही बात कहकर छुट्टी लो । क्या 'फील' हो रहा है ?'

मैंने कहा–'मुझे जरा कौतुक और जरा डर लग रहा है।',

–'सिर्फ जरा जरा ?'

'–हाँ, फीलींग मेरी ज्यादा गहरी नहीं होती ,सतह से जरा सी ही गहरी होती है, । आजकल यह एक स्थायी भाव है।'

कुछ देर वह चुप रही । फिर बोली–'तो बिना छुट्टी लिये ही'ऑफ़' हो जाओ । या इस्तीफ़ा दे आओ । तुम्हारे लिए मैं डैडी से नौकरी का इन्तजाम करा लूंगी।'

मैंने कहा–'मैडम, यह नौकरी मुझे प्यारी है। जो काम करता हूँ, वही मेरी हॉबी भी है । इसलिए थोड़ी देर के लिए उसमें अपने को खो देकर आराम पा लेता हूं। तुम्हारी नौकरी यह देगी ?'



"सखी, यह तो हमारा ही प्रणयगीत बजा रहा है!"

'–तुम्हें मैं कुछ देना जरूर चाहती हूँ । बड़ी गहराई से यह पुकार उठ रही है । जिंदगी में पहली बार उठ रही है किसी के भी लिए । आजतक कितने लोग मेरे आस-पास से गुजर गये, कइयों ने हाथ भी मिलाये, पर यह चीज़ कभी नहीं उठी ख़द को हीं तुम्हें दे डालूं, बोलो ?'

मैंने कहा–'बेबी, जो बातें मिलने पर होनी थीं, वे तुमने फोन पर ही शुरू कर दीं । क्या अब यहाँ आने का इरादा नहीं रहा ।?'

झटके से उसने "आ रही हूँ" कहकर फोन रख दिया ।

फिर थोड़ी देर में वह आई और बात आगे बढ़ी । पहले उसने कहा–'तुम निहायत ही पाजी हो। किस तरह मुझे झटक दिया।'

फिर बोली–अच्छा सुनो । मैंने शादी की वह बात तुड़वा दी है । इसीलिए फोन करने में इतनी देर हुई। बड़ा टंटा हुआ पर डैडी मुझे बेहद चाहते हैं, इसलिए माँ की सख्त नाराज़ी के बाद भी जीत मेरी ही रही । जानते हो, डैडी ने मुझसे क्या कहा ?'

मैंने धीरे से उसकी कमर में हाथ डालकर उसे अपनी तरफ खींचा और कहा–'यह भी सुनाओ ।'

'–उन्होंने कहा–'तू प्यार के लिए यह शादी छोड़ रही है, यह मेरे लिए बड़ी खुशी की बात है । खुद मैंने शादी ही की है, पर जानता हूँ कि प्यार उससे बड़ा है–भले ही वह ज्यादा दिन चल न सके । पर कौन है वह फूल?–'मैं तो उनके मुंह की तरफ़ देखती रह गई । कभी कल्पना ही नहीं की कि वे इस तरह सोचते होंगे । फिर मैं बेतहाशा उनसे लिपट गई और मारे खुशी के रोने लगी। डैडी ने मुझे खूब प्यार किया और उन्होंने तुम्हारे लिए एक खास तोहफ़ा भी भेजा है ।"

'–निकालो फिर ।'

उसने मीना किये हुए एक डिब्बे में से एक बड़ा सा पीला गुलाब का फूल निकाला और मुझे दिया ।

मैंने इज्जत से उसे लिया । लौट-पौटकर देखता रहा । फिर कहा–"इसे मेज़ पर बीचोंबीच रख दो । चीज़ यह एकदम बढ़िया है और मुझे काफी अच्छी लग रही है पर मैं द्रवित नहीं हो पा रहा हूँ, जो शायद ज्यादा उचित होता । वह शक्ति अब मुझमें नहीं रही । वैसे पीले गुलाब का अबतक नाम ही सुना था, देखा मात्र आज पहली ही बार है। अपने पिताजी को धन्यवाद कहना ।'

न जाने कैसी आँखों से लीना मुझे देखती रही । फिर कमीज़ के बटन खोलकर भीतर हाथ डाल दिया और बोली–'बताओ' तुम्हारा दिल कहाँ है? कहीं है भी या गायब ही है ?'

मैंने उसका हाथ पकड़कर अपने मुँह से लगा लिया और कहा–'शायद नहीं ही है । दुनिया की भीड़-भाड़ और गहरे अंधेरे में न जाने कहाँ खो गया है। बहुत ढूंढ़ता हूँ, परा अब मिलत ही नहीं । वैसे वह घटना बहुत पहले हो चुकी है। अबतक तो शायद वह 'डिसइन्टीग्रेट' भी हो चुका हो ।'

लीना ने अपनी हरी भरी बाँहें फैलाकर मुझे जकड़ लिया और कहा–'तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आती । अक्सर तो तुम खुश रहते हो, खूब हँसते हो, मानो जिंदगी पर ग़म की छाया भी नहीं पड़ी है ।'

मैं उसकी पीठ और बालों पर हाथ फेरता रहा, फिर कहा–'यह खेल और खुशी ही इसका प्रमाण है कि मैंने जिंदगी की असंगति और व्यर्थता को गहराई से जान लिया है और उस तल को छ लिया है, जहाँ धरती है । और यह भी कि उसे मान या स्वीकार भी कर लिया है ।'

लीना ने सिर उठाकर कहा–'तब तो तुम्हें उदास रहना चाहिए । वही ज्यादा स्वाभाविक होगा ।'

–'क्यों रहना चाहिए ! 'डिसइल्युजन' हो जाने के बाद भी तो जिंदगी जीने को शेष रहती है । क्यों न उसे खुश रहकर ही बिताया जाय ?'

'–और यह स्त्रियों से यानी हमसे यानी फिलहाल मुझसे यह। लगाव ? साथ ही प्रेम न होने की भी घोषणा ?'

'–तू तो नीम पागल है । जिंदगी को खाना भी तो चाहिए । वह अपने पैरों पर थोड़े ही खडी है । और यह बहुत सा समय जो है जीने को ,उसे भी तो किसी चीज से भरना है।'

'–तो हम स्त्रियाँ समय बिताने के साधन हुए ।'

'–नहीं। तुम लोग मित्र हो। भटकती आत्मा के साथी– तुम्हें पास लेकर थोड़ा सा सकून महसूस होता है, पूर्णता महसूस होती है । तुम लोग साथ रहो तो शायद कोई राह मिल भी जाय, नहीं तो अपने से टकरा-टकराकर सब कुछ टूट-फूट जाता है ।'

'–नहीं, यह मत कहो, मत कहो ।'

'–पगली, सच है यह । भीतर हर क्षण यही होता है। इतने ज़ोर से होता है कि सहा नहीं जाता । जैसे रेती से मन घिसता रहता है, हथौड़े से दिमाग में ठुकाई होती रहती है । ऐसी बेचैनी किसी बड़ी से बड़ी बीमारी से भी क्या होगी। स्त्री जैसी मुलायम चीज़ पास होती है तो जरा सा चैन मिलता है, परंतु पूरा आराम उससे भी नहीं आता ।'

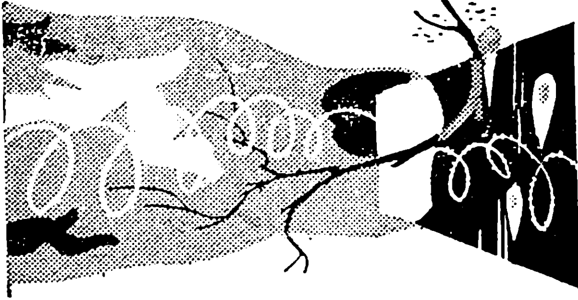
लीना ने बेतहाशा अपने गुलाबी ओठ मेरे माथे पर रख दिये और इस तरह धीरे-धीरे चूमने लगी, मानो भेजे में भरा जहर पी रही है। फिर अपने हाथ मेरे शरीर पर सब तरफ फेरे और उसके रोयें-रोयें को अपनी उंगलियों से दबाया। फिर मुझे अपनी भुजाओं में भरकर अधलेटी सी हो गई और कहने लगी-- 'मैं तुम्हारे साथ रहूँगी। जहाँ ले चलोगे, चलूँगी ।'

मैंने उसकी आँखों को एक हलका चुंबन दिया और कहा–'हां, औरत में माँ जरूर कहीं न कहीं छिपी है ।'

फिर मैंने कहा–'अच्छा, तुम्हें एक कविता सुनाऊँ जो मेरे वर्तमान अस्तित्व को काफी हद तक सही व्यक्त करती है। कविता किसी मेक्सिकन कवि की है, शायद एन्रीक मार्टिनेज की।







शंखों की मालाएँ

—अनन्त कुमार पापाण

खिड़की से दिख रहा है —
अतीत का जल्लाद कोड़े फटकारता हुआ
भविष्य को ले जा रहा है—
वहाँ जहाँ कतारों में खड़े लोग
एम्प्लॉयमेन्ट एक्सचेन्ज के
दरवाज़े खुलने की राह देख रहे हैं।
रेलें जा रही हैं, पुल हिल रहे हैं,
टूटी दीवारों पर इश्तिहार चिपके हैं,
और घिसे जूतों की थकी हुई जवानियाँ
मोची से जूतों में तले लगवा रही हैं।
खिडकियाँ शहर की मुँदती जा रही हैं।
सिर्फ़ एक खिड़की पर कपड़े सुखाने की
सुतली पर काग एक बैठा उदास है,
पीछे दो आँखें हैं, जिनमें दो सूरज हैं—
एक हँस रहा है, एक उदास है।
कहीं किसी गली से, किसी एक ताँगे पर
सामान लदवाये कोई चल दिया है,
अवसर की खोज में दूर कहीं जायेगा,
मरने के कुछ पहले घर लौट आयेगा।
वोही इमारत है, बाँस की जाफरी,
वही वही कमरे हैं, छोटा-सा बाथरूम,
पीतल का पीला नल, टीन की बाल्टी,
नीम के पेड़ पर अटकी पतङ्गें दो,
बतखें औ' मुर्ग़ियाँ, बूढ़ी कहारियाँ,
सड़कों की पुलियों पर बीती कहानियाँ!
सायकिल का हैण्डिल यह घूम नहीं पाता है,
रास्ता मुड़े बिना सीधा चला जाता है,
पहले सफ़ेद जहाँ गोरों के बँगले थे,
क्लिब थे, शराब थी—वहाँ एक होटल है,
सूखी हुई घास पर फेंकी दतौनें हैं,
टूटा हुआ सिर्फ़ एक लाल टूथब्रश है!
कोई था जिसका था एक बहुत छोटा घर,
भाई थे, बहनें थीं, झगडे थे, प्यार था,
रोटी बनाती हुई एक वृद्ध माता थी,
पेंशन लाता हुआ एक वृद्ध पिता था,
फिर एक रेल थी और एक शहर था,
एक बड़ी 'चॉल' थी, पानी पे झगड़ा था,
पुलिस की चौकी की पीली किताबों में
जमा हुआ खून है,
बीबी की चूड़ियाँ हैं, एक बड़ी रिश्वत है,
घर को भेजा हुआ बिना टिकट का खत है।
और फिर शान्त मौन
गंगा की गोद है,
अस्थि–विसर्जन करता सबसे बड़ा बेटा है,
लौटने के पहले जो शंखों की मालाएँ,
प्लेटफ़ार्म से खरीद
रख रहा बकस में है!

"कविता यूँ है :
मेरे प्रतीक्षारत हृदय पर, भविष्य या विस्मृत भूत से
उठती आवाजें, जो कभी जीवित थीं, और कल्पनाएं,
जो कभी जन्मी ही नहीं, यूँ द्वार खटखटा रही हैं—
मानो यह कोई बेहद पहचाना घर हो।
.....जीवन भर व्यर्थ चेष्टा से पालित आदर्श.....
मैं इस खटखटाने का रहस्य जानता हूँ:
बीते दिनों में इसने वह दाहक ज्वर दिया
जिसको आज जिंदगी विनयपूर्वक छिपाना चाहती है—
आत्मा ने साग्रह मौन होकर
रात्रि का दीप जला लिया है,
द्वार बंद कर लिये हैं......
और अब वह कोई उत्तर नहीं देती।"
मैंने फिर कहा—"इसी आत्मा के बंद घर में आज तुम्हें लेता हूँ। आओ...!"

●●●

बम्बई की पुलिस का 'महान' कार्य!



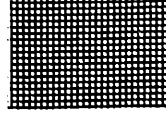
अरे भई! शराब कहाँ, सिर्फ़ दवा थी चुस्त सेहत के लिए!





अनुक्रमणिका

व्यवसाय के निमित्त दीर्घ काल तक परदेश में रहना उचित नहीं। विशेषतः नवविवाहित पुरुष ऐसा करे तो कालांतर से आती है ....



श्रृंगापत्ति



डा. दमयंती सरपटवार

रत्नाकर नगर में ज्योतिपप्रभ नामका एक राजा था। वह बड़ा कड़ा शासक था और रत्नाकर (समुद्र) तक सारी पृथ्वी पर वह राज करता था। उसने भगवान शंकर की बड़ी कड़ी तपस्या की जिससे संतुष्ट होकर भगवान ने उसकी महारानी हर्षवती को एक पुत्र दिया। पुत्र के गर्भस्थ होने से पहले रानी ने स्वप्न में एक दिन अपने मुख में शशिबिंब को प्रवेश करते देखा और तुरंत ही वह गर्भवती हो गई। इसलिए राजा ने अपने पुत्र का नाम सोमप्रभ रखा। समय पाकर प्रजाजनों के नेत्रों को आनंद देनेवाला वह राजकुमार शुक्लेंदु की तरह शरीर और गुणों से बढ़ने लगा। जब राजकुमार राज्य की धुरा धारण करने योग्य सबल हो गया तो ज्योतिपप्रभ राजा ने उचित समय पर उसका राज्याभिषेक कर, राज-काज का सारा दायित्व उसे सौंप दिया। उसी तरह अपने सचिव गुणाकार के पुत्र हिमाकर को नये राजा का सचिव नियत कर, दोनों वृद्ध पिता निःशंक हो गए।

राज्याभिषेक का सप्ताह आनंद में बीतने के बाद एक दिन सोमप्रभ अपने पिता से बोला,–"तात्, विजयेच्छा न करना क्षत्रिय धर्म नहीं –। इसलिए मैं दिग्विजय करने जाना चाहता हूँ। आज्ञा दीजिए।" पुत्र का उचित प्रस्ताव सुनकर, ज्योतिपप्रभ राजा को संतोष हुआ और उसने बड़े प्रेम से पुत्र को अनुमति दे दी। प्रवास की सारी तैयारी हो जाने पर एक शुभ दिन सोमप्रभ मातापिता को प्रणाम कर आशुश्रवा अश्व पर स्वार होकर दिग्विजय के लिए निकल पड़ा। अपने मनोरंजन के लिए उसने शंबूक नामक राजदूत को भी अपने साथ रख लिया।

दिग्विजय का कार्य समाप्त कर वापिस लौटते समय सेना का पड़ाव कृत्सना नदी के किनारे डालकर, शंबूक को साथ ले सोमप्रभ मृगया के लिए निकल पड़ा। उसने आसपास के अरण्यों में दो प्रहर मृगया में व्यतित किये और फिर भोजन करने के लिए दोनों नदी किनारे लौट आयें।

भोजन के बाद सोमप्रभ ने मनोविनोद के लिए शंबूक को कोई कहानी सुनाने की आज्ञा दी।

शंबूक नीचे लिखी कथा सुनाने लगा--

"मालव देश में श्रीधर नामक एक उत्तम ब्राह्मण रहता था। उसके एक पुत्र था। उसका नाम था यशोधर श्रीधर राजगृह में जपजाप, होम-हवन -इत्यादि करके अपना उदर-निर्वाह करता था। यशोधर को भी उसने उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरुगृह भेजा। यशोधर का झुकाव चित्र-कला की ओर विशेष था। यह जानकर गुरूजी ने अन्य कलाओं और शास्त्रों के साथ-साथ उसे चित्रकला की शिक्षा देने का भी प्रबंध कर दिया। कुछ समय के पश्चात् यशोधर चित्र-कला में पारंगत होकर गुरुगृह से स्वगृह लौट आया। श्रीधर पंडित ने पुत्र की प्रौढ़ता के अनुकूल उसके विवाह की तैयारी शुरू की। राजपुरोहित होने के कारण श्रीधर पंडित की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी और उसका कुल भी बड़ा प्रतिष्ठित माना जाता था। इस कारण

अनुक्रमणिका

दक्षिण के रत्नागिरी राज्य के विद्वान राज्य-ज्योतिषी हणमंताचार्य की तरुणी सुकन्या हेमांगिनी से यशोधर का संबंध निश्चित हुआ । लड़की का उत्फुल्ल यौवन और आरक्षित सौंदर्य देखकर यशोधर के कलाकार नेत्रों ने यह संबंध तत्काल स्वीकृत कर लिया । कुछ दिनों के वाद, एक शुभ मुहूर्त पर, यशोधर और हेमांगिनी का विवाह बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ । विवाह के पश्चात का एक मास उन नवविवाहितों ने कितने आनंद से व्यतीत किया होगा इसका अनुभव सब नवविवाहितों को होगा ही, इसलिए उसका विस्तारपूर्वक वर्णन करने का मोह मैं छोड़ देता हूँ ।" इतना कहकर शंवूक ने समीप ही सोये हुए सोमप्रभ की ओर देखकर शरारत से आँखें मिचका दीं । सोमप्रभ राजा ने भी नेत्र बंद कर अपने पूर्वानुभव का पुनर्चिंतन किया । शंवूक आगे कथन करने लगा —

"कुछ दिनों के वाद अर्ध-भुक्त यशोधर को निकटवर्ती राज्य में राजा का चित्र खींचने के लिए आमंत्रित किया गया । विपुल पारिश्रमिक और मान-सम्मान प्राप्ति की तीव्र लालसा ने उसे परदेश जाने के लिए वाध्य कर दिया । इस निमंत्रण के आने से कुछ दिन पहले ही श्रीधर पंडित अपनी पत्नी के साथ चार धामों की यात्रा को चल दिए थे । इस लिए हेमांगिनी उस घर में अकेली और अतृप्त रही ।

प्रवास की पहली रात को यशोधर ने हेमांगिनी से अपने दीर्घ विरहकाल के प्रवंध की चर्चा की और व्याकुल पत्नी को यथोचित सांत्वना भी दी । हेमांगिनी ने गतमास की विभिन्न मीठी यादों का स्मरण दिलाकर पतिदेव से बड़ी व्याकुलता से पूछा,—"आपकी अनुपस्थिति में मेरे साथ कौन रहेगा ?" चित्रकला की अपनी तूलिकाएं और रंग एकत्रित करनेवाले यशोधर ने इच्छा-सेवन के वाद हेमांगिनी के नाभि-कमल के निकटवर्ती गौरवर्णीय दक्षिण भाग पर रंग तूलिका से एक अजशावक का चित्र खींचकर कहा, —"यह अजशावक तुम्हारे साथ रहेगा और इसे देखते हुए तुम्हें मेरी याद आती रहेगी और तुम से दुराचरण न होगा ।"

दूसरे दिन तड़के ही यशोधर यात्रा पर निकल पड़ा । सच पूछा जाए तो पूर्व नियोजित कार्य-क्रम के अनुसार उसे छः मास में ही घर लौट आना चाहिए था । परंतु उसकी चित्रकला पर मोहित होकर वहाँ के राजदरवार में उसे और भी कुछ काम मिल गया और लौटने में उसे करीव चौवीस माह लग गये ? इस अवधि में हर पन्द्रहवें दिन, चारुगात्री हेमांगिनी की कुशल पूछने के लिए वह पत्र लिखा करता और उसमें, अपनी विरहाकुल देह-व्यथा का सचित्र वर्णन किया करता था । परंतु इसके कारण हेमांगिनी की मनोव्यथा कम नहीं होती थी, उल्टे उसकी देह-पीडा उसे और अधिक व्याकुल कर देती थी । इसके सिवा घर में सास-ससुर के न रहने के कारण उस पर गृह-कृत्यों का कोई दायित्व नहीं था । घर में सेवक-सेविकाओं की कमी न थी । इसलिए ऐसी अतीव निष्क्रिय अवस्था में समय काटना उसके लिए वड़ा कठिन हो गया था ।

यौवनोत्फुल्ल देहलीज पर स्थित रहते हुए ही हेमांगिनी को पति-सहवास का भरपेट सुख उचित समय पर प्राप्त हुआ था । इस कारण उसकी मनोवृत्ति वयः-प्राप्त और जिसके मुँह में खून लग गया है ऐसी व्याघ्रणी के सदृश्य हो गई थी । ऐसी अवस्था में अतृप्त रही इंद्रियों का संयमन विरहावस्था के प्राथमिक काल में वह कर पाई । फिर भी पति के प्रदीर्घ विरह के कारण उसके वासना-विरोध की उलटी प्रतिक्रिया हुई और निस्संग अवस्था में और अधिक समय विताना उसके लिए असंभव हो गया । इसी में एक का सहयोग प्राप्त होने के कारण हेमांगिनी ने अपने विकारों की तृप्ति का अवसर शीघ्र ही ग्रहण कर लिया ।

"हे राजा (शंवूक आगे कहने लगा) अतृप्त याचक जिस तरह परोसे हुए भोजन



का सेवन किसी पेटू की तरह करता है, और जिस तरह उसके पास उस समय कोई विवेक नहीं रह जाता, वही अवस्था पति के चिरविरह के कारण हेमांगिनी की हो गई थी । अतएव उसने उस सुदृढ छात्र को अपनी ओर आकृष्ट किया जो उसके घर रोज आकर गृहदेव की पूजा करने के लिए नियुक्त था । और उसने उस छात्र से गृहदेव के साथ ही अपनी भी षोडशोपचार से अष्टांगपूर्ति करने का कार्य नियोजित किया । प्रथम सेवकाई में ही दक्षिणांग चित्रित अजशावक किस तरह विलुप्त हो गया यह वताना अतिरिक्त होगा, इस लिए वह मैं नहीं कहता ।

हेमांगिनी का कालक्षेप इस रीति से निसर्गप्राप्त देहधर्म के अनुकूल हो रहा था कि संवत्सर की अवधि कव पूरी हो गई इसका उसे पता ही न चला । एक दिन यशोधर का पत्र आया कि उसका कार्य पूरा हो गया है और वह वहाँ से कल रवाना होगा । इस पत्र के पाते ही यह सोचकर कि अपने द्वारा नियोजित कार्य-क्रम की समाप्ति समीप आ गई, हेमांगिनी व्याकुल हो उठी । पत्र से यह समाचार पाते ही कि पति का काम पूरा हो गया है और वह अव शीघ्र ही स्वगृह लौट रहा है, हेमांगिनी ने तुरंत उस युवक पुजारी को वुलाया और उससे देवी की आखिरी पूजा कर देने को कहा । जव षोडशोपचार से पूजा

भलीभाँति समाप्त हो गई, तब हेमांगिनी ने पूर्वस्थिति के अनुसार अपने दक्षिणांग पर अजशावक चित्रित कर देने की पुजारी से प्रार्थना की। यदि कहूँ कि चित्र चित्रित करते समय वह अनेक वार व्याकुल और कंपित देहावस्था के कारण पुछ जाता था तो अत्युक्ति होगी। पर ऐसा हुआ था यह निःसंदेह सच है। अंत में चित्र बनाते-बनाते उस पुजारी ने अजशावक के स्थान पर सश्रृंग मेष का चित्र बनाकर पूरा किया और कौशल्य से उपहार प्राप्तकर हेमांगिनी से विदा ली।

यशोधर अनेक दिनों के बाद स्वगृह लौटा और अपनी पत्नी को सुखपूर्वक निद्रित और अनुत्कंठित देख उसके मन को यह शंका छू गई कि मेरी अनुपस्थिति में गृहस्वाध्य् में कुछ हस्तक्षेप हुआ होगा। पत्नी के ठंडे स्वागत से तो उसकी यह शंका द्विगुणित हो गई। परंतु उचित प्रमाण के अभाव में उसने मन का संयमन किया। स्नान और भोजन के बाद विरह के पश्चात के व्यवहारानुसार यशोधर ने बड़ी तीव्र लालसा से पत्नी के साथ शयनकक्ष में प्रवेश किया। अपने हाथों चित्रित अजशावक के दर्शन के लिए आकुल हुए यशोधर ने हेमांगिनी को नीवी-मुक्त किया और उसके दक्षिणांग पर सचित्रित अजशावक के स्थान पर एक त्रिश्रृंग मेष का चित्र देखते ही वह तत्काल आश्चर्यचकित हो गया। इस परिवर्तन का रहस्य जब उसने पत्नी से पूछा तब चतुरा हेमांगिनी ने तिरस्कृत वृत्तिसे पति से कहा,—"यदि आप कार्य में विलंब न कर, नियोजित कार्य-क्रम के अनुसार छः मास में ही स्वगृह लौट आते तो अजशावक अमुक्त और अपुष्ट परिस्थिति में यथाचित्रित प्रतीत हुआ होता। संवत्सर की दीर्घ अवधि में उपलब्ध् हरित कुश के सेवन से अजशावक वर्धमान होकर यदि सश्रृंग मेष में परिवर्तित हो गया हो तो इसमें आश्चर्य क्या ?" इस प्राकृतिक घटना का यथोचित कारण ज्ञात होते ही यशोधर की शंका का समाधान हो गया और यह जानकर कि परमेश्वर निर्जीव चित्रकला को भी प्राकृतिक गुणों से अभिनिविष्ट करता है, उसने मन-ही-मन परमेश्वर की लीला को खूब सराहा।

सारांश यह कि व्यवसाय के निमित्त दीर्घ काल तक परदेश में रहना उचित नहीं। क्योंकि, विशेषतः नवविवाहित पुरुष यदि ऐसा करे तो कालांतर से श्रृंगापत्ति कब और किस तरह पैदा हो जाएगी, चतुरों को यह बताने की आवश्यकता नहीं।"

ऐसा कहकर, शंबूक ने अपनी कथा समाप्त की।

अनु. : रा. र. सर्वटे

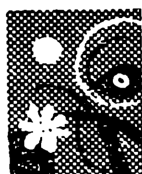
अनुक्रमणिका

एक अजीब सी खुशी थी उसके दिल में। वह कुछ देर अपने अंदर की खुशी का स्वाद लेना चाहता था, जैसे वह कई बार बहुत अच्छी चीज़ खाने से पहले कुछ देर तक उसका नज़रों से स्वाद लिया करता था....



वह नहा कर कमरे में आया तो अपने अन्दर ही नहीं, बाहर भी एक ताज़गी महसूस कर रहा था। शरीर कैसा फूल सा हल्का बन गया था और मन जैसे उस ताज़गी में तैरना चाहता था। उसने मेज पर बिखरी तीन चार पुस्तकों को करीने से रखा। बिस्तरे की चद्दर में पड़ी दो तीन सिलवटें साफ कीं। और दीवार पर लगे कैलेन्डर को, जो हवा से उड़कर उल्टा हो गया था, सीधा किया। ठीक से सजा हुआ कमरा भी कितना ताजा और फूल सा हल्का लगता है।

तभी उसकी दृष्टि दरवाज़े में पड़े दो पत्रों पर गई। साथ में एक अखबार था। उसे डाकिये पर गुस्सा आया। भला अगर पत्र स्टूल पर रख जाता तो क्या हर्ज़ था। जब भी आता है, पत्र लापरवाही से कमरे में फेंक जाता है। उसने दोनों पत्र उठाये, और साथ में अखबार भी। वह एक घटिया सा रोजाना का अखबार था जो उसे पता नहीं क्यों भेज दिया जाता था। तीन तीन, चार चार दिन की बासी खबरें होती थीं उसमें। उसने रोज की तरह अखबार बिना खोले और बिना उसकी ओर देखे, खिड़की में से बाहर फेंक दिया। इस बीच वह दोनों पत्रों को देख रहा



दो पत्रों के बीच

–सुखबीर

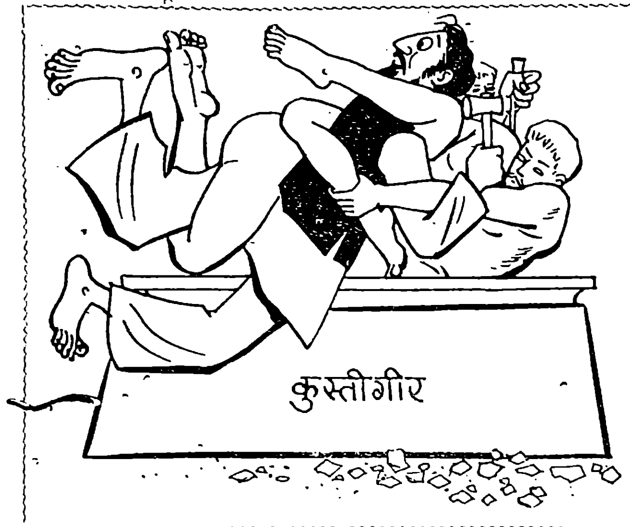
था—उन पर लिखे हुये अपने पते को। उसकी आंखें खुशी से भर गई थीं। एक मां का पत्र था और एक तृप्ति का। कैसी अच्छी बात थी कि दोनों पत्र एक ही दिन आये थे। एक साथ। वैसे वह मां के पत्र की हफ्ते भर से प्रतीक्षा कर रहा था और तृप्ति के पत्र की तीन चार दिन से। मां पत्र ज़रा देर से ही लिखती थी। बस जरूरत पड़ने पर ही। और तृप्ति के तो हफ्ते में दो दो पत्र आ जाते थे। कभी तीन-तीन भी। वे पत्र उसके प्यार के पंख थे, जिन पर उड़कर वह दूसरे-चौथे दिन उसके पास पहुंच जाया करती थी।

कैसी अच्छी बात थी कि दोनों पत्र आज एक साथ ही आये थे।

एक अजीब सी खुशी थी उसके दिल में। उसे पता था, दोनों पत्रों में क्या लिखा होगा। मां के पत्र में परिवार की कुशलता। तृप्ति के पत्र में प्यार की बातें। उसे पत्र खोलने की जल्दी नहीं थी। वह कुछ देर अपने अन्दर की खुशी का स्वाद लेना चाहता था, जैसे वह कई बार बहुत अच्छी चीज खाने से पहले कुछ देर तक उसका नज़रों से स्वाद लिया करता है। यह स्वाद उस चीज़ के असली स्वाद से अलग सा होता है।

सो वह चारपाई पर तकिये से पीठ टेक कर बैठ गया और दोनों पत्रों को ऐसे देखने लगा जैसे दो चित्र हों। एक डाकखाने का साधारण सा लिफाफा था। उसमें मां का पत्र था। दूसरा बादामी रंग का लिफाफा था। तृप्ति को बादामी रंग कितना पसन्द था। वह आम तौर पर बादामी रंग की ही साड़ी बांधती थी। कभी उसकी साड़ियों में इस एक रंग के कारण एकरसता अनुभव नहीं हुई थी। उसके पास विभिन्न प्रकार की साड़ियां थीं जिनमें बादामी रंग का स्पर्श था। और उसका अपना रंग भी तो बादामी था जो खून के ज़रा से लाव से चन्दन सा बन जाता था। हां, उस लिफाफे में वह तृप्ति को साकार रूप में देख सकता था!...और मां उस लिफाफे की तरह ही

अनुक्रमणिका



उसे लगा जैसे वहां मां मुस्करा रही थी । एक व्यंग्य था उस हलकी सी मुस्कराहट में। उसका हाथ, जिस में तृप्ति का पत्र लिफाफा पकड़ा हुआ था, नीचे आ गया, और वह मां के लिफाफे को एकटक देखता रहा और वहां से दूर अपनी मां को देखता रहा । जो उसी तरह हल्का सा मुस्करा रही थी । उसने मां का लिफाफा उठाया । और जब उसे खोलने लगा तो अकस्मात ही उसकी दृष्टि तृप्ति के लिफाफे की ओर गई, जिसके सीधे खड़े अक्षरों में उसे एक उत्सुकता सी दिखाई दी जैसे वे कह रहे हों, कह रहे हों...

वह मां के लिफाफे को खोलता हुआ रुक गया । एक बार फिर उसे खोलने के लिए उठाया ,पर फिर खोल न सका । एक अजीब सी उलझन उसके दिमाग में भर आई थी । इस तरह तो पहले कभी नहीं हुआ था ।

कैसी अजीब बात थी कि मां और तृप्ति के पत्र आज एक साथ ही आये थे ।

सादी सी थी । एक निर्मल सादगी । वह हमेशा सफेद साड़ी बांधती । उसमें वह खोई हुई सी लगती और उसे देखकर एक अजीब सी पवित्रता का आभास होता । जैसे वह लहू, मांस की स्त्री न हो, बल्कि प्यार अपने दूधिया रंग रूप में साकार हो गया हो । और उसके हाथ के लिखे पते के अक्षरों में भी कितनी सादगी थी । छोटे छोटे, बहुत सम्भाल कर लिखे हुये अक्षर । ऐसे ही छोटे छोटे, बहुत सम्भाल कर लिखे हुये अक्षरों में वह पत्र लिखती थी । वास्तव में वह आंसुओं से पत्र लिखती थी और उस पत्र को आंसुओं से ही पढ़ना पड़ता था । उसे पढ़ते समय आंखों में एक सजलता भर जाती थी। वैसे मां की आंखों में तो हमेशा ही एक सजलता होती थी । प्यार की सजलता...

अनायास ही मां का पत्र उसके होंठों से छू गया । मां का पत्र उसके होंठों से लगा हुआ था और वह तृप्ति के पत्र पर के पते को देख रहा था—एक नज़ाकत से सीधे खड़े अक्षरों को । वे अक्षर आम लड़कियों के अक्षरों की तरह पीछे की ओर झुके हुये नहीं थे और ना ही पुरुषों के अक्षरों की तरह आगे की ओर झुके हुये, जैसे वे भागना चाहते हों । उन सीधे खड़े अक्षरों में एक स्थिरता थी, एक टिकाव....। तृप्ति के प्यार में भी तो एक ऐसी ही कोमल स्थिरता थी ।....

वह देर तक दोनों पत्रों को देखता हुआ मां और तृप्ति के बारे में सोचता रहा । मां, जो उससे दूर होकर भी उसके इतनी निकट थी । तृप्ति, जो उसके इतनी निकट होकर भी उससे इतनी दूर थी । आखिर तृप्ति ने क्या लिखा होगा ? आखिर मां ने क्या लिखा होगा ?

अन्त में वह लिफाफों को खोलने लगा ।

तृप्ति के लिफाफे को वह एक कोने से फाड़ने ही लगा था कि रुक गया । उसकी दृष्टि मां के लिफाफे की ओर गई ।

वैसे डाकिया पत्र दे जाता, तो जब भी उनमें तृप्ति का पत्र होता, वह उसी को सबसे पहले खोलता था । इसी तरह और पत्रों में मां का पत्र आने पर वह उसी को सबसे पहले खोलता था ।

पर आज यह कैसी अजीब बात थी कि दोनों पत्र एक साथ ही आये थे ।

वह अपनी इस उलझन पर हलका सा मुस्कराया । और उसने वे दोनों पत्र एक तरफ स्टूल पर रख दिये । कुछ देर के बाद अपने आप फैसला हो जायेगा कि कौन सा पहले खोला जाये । वह अपने मन की उलझन का स्वाद लेने लगा । उसे उस व्यक्ति का ख्याल आया जो मानसिक तौर पर हमेशा उलझा रहता था और फैसला नहीं कर पाता था कि दो चीजों में से किसे चुने । सुबह दफ्तर जाता होता तो देर तक टाइयों के सामने खड़ा सोचता रहता कि कौन सी चुने । आखिर उसकी पत्नी आ कर एक टाई उठाकर दे देती और वह उलझन में से निकल जाता। भोजन करते समय दो तरकारियां होतीं तो फैसला न कर पाता कि पहले निवाले के साथ कौन सी तरकारी ले। वह मानसिक रोगी था, जिसका अन्त में मनोविज्ञान का एक डाक्टर इलाज करता है.....

उसका ध्यान फिर पत्रों की ओर गया । दोनों पत्र जैसे उसकी ओर देखते हुये मुस्करा रहे थे । वह भी उनकी ओर देखकर मुस्कराया । उसने सोचा, देखें क्या होता है? देखें, मन किस तरह काम करता है । बहुत अच्छा अनुभव रहेगा ।

अब वह दोनों पत्रों को एक साथ नहीं, बल्कि अलग अलग करके देख रहा था कि, कभी उसका ध्यान तृप्ति के पत्र पर अटक जाता और किसी फैसले पर पहुंचना चाहता। फैसले पर पहुंचने से पहले ही उसकी दृष्टि उस पर से हटकर मां के

अनुक्रमणिका

पत्र की ओर फिसल जाती और वह फिर पहले की तरह सोचता हुआ किसी फैसले पर पहुंचना चाहता । वह देर तक इसी तरह देखता रहा ।

आखिर उसने अपने सिर को झटका । यह तो अजीब सी उलझन पड़ गई थी । सावारण सी वात है । कोई भी पत्र हुआ । क्या फ़र्क पड़ता है । और उसने हाथ बढ़ाकर एक पत्र उठाना चाहा । पर पत्रों के पास पहुंचकर हाथ जैसे पकड़ा गया । किसे पहले उठाये ? और हाथ ढीला होकर दोनों पत्रों के ऊपर गिर पड़ा । देर तक वह उन पर पड़ा रहा । आखिर उसने दोनों पत्र उठा लिये और दोनों को अपने सामने लाकर देखने लगा । एक तृप्ति का चेहरा था । एक मां का चेहरा था । दोनों चेहरे कितने साफ दिखाई दे रहे थे । फिर दोनों चेहरे जैसे एक दूसरे में उलझ गये । फिर दोनों ही चेहरे लुप्त हो गये और उसने आंखें बन्द कर लीं । उस अन्वकार में उसे कुछ दिखाई नहीं दे रहा था ।

वह देर तक अन्वकार में देखता रहा ।

पर फिर अचानक उसने आंखें खोलीं । उसके चेहरे पर जो एक तनाव था, ढीला पड़ गया । उसका दिमाग भी हलका हो गया । उसने सोचा, क्यों न 'टोस' कर लूं । अपने आप फैसला हो जायेगा । और उसने मेज़ की दराज़ में से अपना बटुआ निकाला । पर बटुए में छुट्टे पैसे नहीं थे । यह भी अजीव बात थी । आखिर उसने एक रुपये का नोट निकाला । इसी को टोस कर लिया जाये । पर नहीं । नोट से टोस करने की बजाए क्यों न पत्रों को ही टोस कर लिया जाये । उसने नोट फिर बटुये में डाल दिया । और दोनों पत्र उठाये । ऊपर उछालने पर जिस पर का पता ऊपर जायेगा, उसी को पहले खोलना । या जिस पर का पता नीचे जायेगा, उसी को । नहीं, जिस पर का ऊपर आयेगा, उसको । हां, उसी को । और जब वह पत्रों को ऊपर उछालने लगा तो उसका हाथ रुक गया । उसे लगा जैसे वह मां को ऊपर उछाल रहा था । यह भी क्या मजाक था । क्यों न पहले मां का ही पत्र खोल लिया जाये । वैसे उसमें कुछ एक ही पंक्तियां लिखी होंगी । बस कुशलता के बारे में और सेहत का ख्याल रखने के बारे में । पर शायद तृप्ति ने कोई [illegible] कर लिया हो । कोई नया कदम उठाने के बारे में लिखा हो । या कोई और नई बात । वैसे उसका पत्र छोटा सा ही लग रहा था । बस एक पृष्ठ का ही । पहले वह कितने लम्बे-लम्बे पत्र लिखा करती थी ! एक बार उसने अठारह पृष्ठों का पत्र लिखा था । पांच सात पृष्ठों का पत्र तो प्राय: ही होता था । पर यह तो आम पत्रों से छोटा पत्र था । बस एक पृष्ठ का । एक बार तृप्ति ने कोरे कागज पर सिर्फ अपना नाम लिखकर भेज दिया था । और भी कितने अजीब अजीब पत्र लिखा करती थी । पर





मां के पत्र ? पिछले पत्र में उसने लिखा था कि उसे खांसी की शिकायत है । कहीं वढ़ न गई हो। दवाई तो वह तभी खाती है जव बीमारी वढ़ जाये । कहीं साथ में वुखार न हो गया हो । नहीं, अगर वुखार हो गया होता तो उस का पत्र और देर से आता । पर तृप्ति ने इतना छोटा पत्र क्यों लिखा है ?...

उसने तीन चार वार फिर वे पत्र खोलने के लिए उठाये, पर अन्त में खोल न सका ।

अचानक कमरे की चुप जैसे चीखी । टाईमपीस ने सवा नौ का अलार्म वजाया तो वह चौंककर उठा । दफ्तर जाने का समय हो गया था । वह सोचने लगता था या कोई काम करने लगता था तो उसी में खो जाता था । उसे समय का ख्याल ही नहीं [illegible] था । सो वह सुवह उठते ही दफ्तर जाने के समय का अलार्म लगा लिया करता था ।

उसने जल्दी से कपड़े वदले, वूट पहने और दर्पण में एक क्षण के लिए अपना चेहरा देखा । फिर उसने मेज़ पर से एक पुस्तक उठाई, उसमें दोनों पत्र रखे और दरवाज़ा वन्द करके दफ़्तर के लिए चल पड़ा ।

रास्ते में उसने दो-तीन वार पुस्तक खोली, फिर वन्द कर ली । फिर एक वार उसने पुस्तक खोल कर दोनों पत्र निकाले और जेव में डाल लिये । उसने सोचा, दफ्तर तक ज़रूर फैसला कर लूंगा कि कौन सा पहले खोलना है । पर दफ्तर में शायद पढ़ने का समय न मिले । खैर दोपहर के भोजन के समय सही ।

पर दफ्तर पहुंचने तक वह फैसला न कर सका । काम करते हुए भी वह उलझन में फंसा रहा, पर फैसला न कर सका । और फिर दोपहर के भोजन का समय भी निकल गया और शाम हो गई ।

दफ्तर से निकलने पर उसका दिमाग नित्य दिन की अपेक्षा अधिक थका हुआ था । उससे कुछ सोचा नहीं जा रहा था । वह सिर झुकाये चलता रहा । दफ्तर में कुछ ज़रूरी काम रह गया था, जो उसने कल सुवह जाते ही करना था । वैसे तो आज ही खत्म करके आना चाहिये था, पर वह वीच ही में छोड़ वैठा था और दोवारा करने की उसे हिम्मत नहीं हुई थी । उस काम के लिए कुछ पुरानी फाईलें निकालकर देखनी थीं । अजीव झंझट था फाईलों का भी । हर फाईल अधूरी थी । और ऊपर का अफसर कितने तलख स्वभाव का था । छोटी छोटी वात पर खीझ उठता था । अच्छी भली वदली हो रही थी उसकी । फिर वस रह ही गया । अव पता नहीं कव जाये.......

घर पहुंचने पर एक दो वार पत्रों का ख्याल आया, पर वह उनके वारे में ज्यादा सोच न सका । हर वार वे उसके दिमाग में से निकल जाते रहे ।

उसका सिर एक वड़ा सा पत्थर वना हुआ था । ठोस और वोझिल ।

पर फिर कुछ ही देर में जैसे किसी ने उसके तपते हुये सिर पर हाथ रखा । यह किसका हाथ था ?– उसने आंखें मूंदे ही सोचा । वह मां का हाथ था । वहुत कोमल और वहुत ठंडा और वहुत मुलायम । फिर उसे वह तृप्ति का हाथ प्रतीत हुआ । एक वार पहले भी इसी तरह तृप्ति ने उसके तपते हुए माथे पर हाथ रखा था । डेढ़ साल हो गया था इस वात को । और डेढ़ साल से वह मां को तृप्ति के वारे में वताना चाह रहा था । पर हमेशा मन में एक डर होता था कि अगर मां न मानी तो ? अगर उसने ना ही कर दी तो ? वैसे वह कव से उसे विवाह के वारे में कह रही थी। वल्कि जोर दे रही थी। वह वस टालता रहा था। टालते हुए ही डेढ़ साल निकल गया था । पर मां ने कहीं कोई लड़की पसन्द ही न की हुई हो । किसी को वचन न दे दिया हो । कुछ वातों में मां वहुत पुराने विचारों की थी । कहीं तृप्ति के वारे में ना ही न कर दे । तृप्ति के विना उसका जीवन खाली हो जायेगा । जीवन में कुछ भी नहीं रह जायेगा । तृप्ति की वदौलत ही तो यह पिछला इतना कठिन समय आसानी से वीत गया है । प्यार आदमी को पंख लगा देता है । कहीं वे पंख काट न दिये जायें....

पर शायद तृप्ति ने इसके वारे में कोई तरीका सोचा हो । उसने जल्दी से उठ कर तृप्ति का लिफाफा उठाया और उसे एकटक देखने लगा । पर उसे खोलने की हिम्मत नहीं हो रही थी । उसे लिफाफे पर के पते में तृप्ति का चेहरा उलझा हुआ लगा । फिर उसके चेहरे का हर नक्श साफ तौर पर दिखने लगा । यह एक साल पहले का चेहरा था । पता नहीं तृप्ति अव कैसी होगी । उसका चेहरा कुछ तो वदल गया होगा । इस वार उसे अपनी नई फोटो भेजने के वारे में फिर लिखेगा । पहले भी एक वार लिखा था, जव तीन महीने पहले वह घर गया था और उसकी फोटो वहीं भूल आया था या कहीं और खो बैठा था । हां, उसकी नई

फोटो आ जायेगी तो वह मां को भेज देगा और लिखेगा... लिखेगा.. नहीं, लिखने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। मां खुद ही सब कुछ समझ जायेगी। पर उसने किसी और लड़की का प्रबन्ध न कर लिया हो। वैसे कहीं तृप्ति के बारे में उन्हीं दिनों बात हो जाती जब वह दो महीने उनके पड़ोस में रही थी तो कितना अच्छा होता। पर बात करता कौन? और फिर उन दिनों अभी तृप्ति के मन की बात का पूरी तरह पता भी तो नहीं लगा था। वे भी कैसे दिन थे। कैसा सम्बन्ध था वह। उसने और तृप्ति ने घण्टों एक साथ चांद को देखा था, एक साथ ...

वह तृप्ति के पत्र की ओर देखकर मुस्कराया। आगे से तृप्ति भी जैसे मुस्कराई। उसने उसका लिफाफा मां के लिफाफे के पास रख दिया। फिर उठा कर मां का लिफाफा उसके ऊपर रख दिया। फिर देर तक उनकी ओर देखता रहा। फिर पता नहीं किस समय उसकी आंख लग गई।

नींद में उसने एक टूटा हुआ सपना देखा। आकाश में एक पक्षी उड़ा जा रहा था। पक्षी नहीं, वास्तव में दो पंख उड़े जा रहे थे। एक ऊपर था और एक नीचे था। यह कैसा पक्षी था?—वह सोच रहा था। अचानक वह पक्षी जोर से चीखा। तभी सपना टूट गया। और वह चौंककर उठ बैठा। उसने खिड़की में से एक बार आकाश की ओर देखा जैसे उस पक्षी को देखना चाहता हो। पर आकाश में तारों की एक गूंजती हुई हंसी थी। वह देर तक उन तारों को देखता रहा और वह गुंजन सुनता रहा। फिर उसका ध्यान समुद्र की ओर गया जो वहां से कुछ दूर, नारियल के वृक्षों के उस पार, लहरा रहा था। एक लहराता हुआ अनन्त प्रसार फिर उसने आकाश की ओर देखा जिसमें चांद अडोल खड़ा था। चांद नित्यदिन की अपेक्षा बड़ा लग रहा था। उसने चांद को देखते हुये सोचा, यह किसका चेहरा है? मां का? तृप्ति का? कुछ चेहरे कैसे होते हैं जो चांद में हूबहू दिखने लग जाते हैं। तृप्ति का चेहरा? मां का चेहरा? दोनों चेहरे चांद में जैसे एक तीसरा चेहरा बन रहे थे। उसने चांद की ओर से दृष्टि हटा ली और सोचा, चांद एक क्यों है? दो क्यों नहीं हैं? एक बार उसे तृप्ति ने कहा था...। एक बार उसे मां ने बताया था....।

सोचते हुए उसका ध्यान बार बार पत्रों की ओर जा रहा था, पर वह उनकी ओर देखना नहीं चाहता था। खैर सुबह होने तक तो वह इस उलझन में से निकल ही जायेगा।

सुबह होने पर भी वह देर तक खिड़की में से बाहर देखता रहा। सामने वृक्ष पर चिड़ियां बैठी हुई थीं। वह सोच रहा था, देखें इन में से पहले कौन सी उड़ती है? पर देर तक वे चिड़ियां वैसे ही बैठी रहीं। वे हिलजुल भी नहीं रही थीं। कैसी चिड़ियां थीं वे। जैसे जम कर ही बैठ गई थीं। और वह अभी सोच ही रहा था कि अगर दायें हाथ वाली चिड़िया पहले उड़ी तो पहले मां का पत्र... कि दोनों चिड़ियां एक साथ उड़ गईं और वह टहनी झूलती रह गई।

और फिर अचानक सवा नौ का अलार्म बजा....

तीसरे दिन की सुबह थी और वह अपने आप में उलझा हुआ था। बेहद खीझा हुआ था। होटल का लड़का चाय दे गया था। वह उसे ज्यादा कड़ी हुई लगी। और मीठी भी ज्यादा थी। इन होटल वालों को तो——

उसका ध्यान टूटा। दरवाज़े में डाकिया खड़ा था और उसके हाथ में तार थी। उसे देख कर एक बार तो उसके सारे शरीर में डर की लहर दौड़ गई। कुशल हो सही। उसने जल्दी से तार लेकर खोली। मां की तार थी। उसे तार मिलते ही आने के लिए लिखा था। पर क्यों? कारण कोई नहीं लिखा था। कैसे अधूरी तार थी। अगर दो शब्द और लिख दिये होते तो क्या आफत आ जाती? मां भी कई बार छोटी छोटी चीज़ों पर वहम करने लगती थी। कुशल हो सही।

तभी वह झटके से मुड़ा। मां के पत्र में सब कुछ होगा। हद हो गई है। दो दिन से वैसे पड़ा है। भला अगर पहले दिन ही खोल लिया होता तो क्या हर्ज था। यूं ही उलझन में रहा था। कहीं कोई ऐसी वैसी बात न हो गई हो।

उसने झट से लिफाफा फाड़कर मां का पत्र निकाला। पहली चार पांच पंक्तियां वह उड़ती नज़र से देख गया। उसे पता था' मां के आम पत्रों की तरह उनमें खायती ढंग से कुशलता के बारे में ही लिखा होगा। फिर जब अगली चार पांच पंक्तियां उसने पढ़ीं तो उसका दिल धक धक करने लगा। मां ने आखिर उसका रिश्ता तै कर ही दिया था। और उसे बुलाया था। और उसने लड़की की फोटो का भी जिक्र किया था कि पत्र के साथ भेज रही है। पर फोटो कहां थी? फोटो कहां थी? उसने जल्दी से फिर लिफाफा खोला। उसमें कागज़ की कई तहों में लिपटी हुई एक फोटो थी। कागज़ खोलकर फोटो निकाली तो देखता रह गया। तृप्ति उसकी ओर देखती हुई मुस्करा रही थी। और उसकी मुस्कराहट में मां भी मुस्करा रही थी। और जैसे कह रही थी— और जैसे कह रही थी—भला मां से भी कुछ छिपा रहता है? उसने सोचा, सचमुच मां तो मां थी। और उसने मां का पत्र होंठों से लगा लिया। फिर कुछ देर के बाद उसने मां का पत्र अन्त तक पढ़ा। बस पांच सात पंक्तियां ही और थीं जिनमें लिखा था कि वह जल्दी घर पहुंचे, लड़की वाले आ रहे हैं....

पत्र खत्म करने पर वह देर तक वैसे ही बैठा पत्र को देखता रहा। एक बार उसका ध्यान तृप्ति के पत्र की ओर गया, पर उसे खोलने की उसे कोई जल्दी नहीं थी। उसे पता था उसमें तृप्ति ने क्या लिखा होगा, बिल्कुल पता था। वह कुछ देर वैसे ही बैठा उसे देखता रहा। फिर दफ़्तर जाने की तैयारी करने लगा ताकि घर जाने के लिए छुट्टी का प्रबन्ध करे।

• • •





मुझे जीने से मोह है....बेहद है....मैं जीने के लिये सब कुछ करने को तैयार हूं....उचित....अनुचित....धर्म ....अधर्म....सब कुछ....इस घुटन भरी मौत के भयानक पाश से निकलना चाहती हूं....वह पाश दिन-दिन मेरे निकट....और निकट आता जा रहा है....जकड़ता जा रहा....दबोचता जा रहा है....इस जहरीले धुंएं में से मुझे निकाल लो....उबार लो....अभी देर नहीं हुई....जल्दी करो........

ये अधमुंदी नींद भरी आंखें

—मनमोहन सरल



कम्पार्टमेंट में घुसते ही ठिठककर रह गया जैसे कि नीली झील में पहली बार खिला हुआ कमल दीख गया हो। आठ–पच्चीस की इस लोकल से पिछले छह महीनों से रोज जाना होता है लेकिन इसी तरह ठिठकने का कभी अवसर नहीं आया था। रोज ही इस सूनी झील को देखता था पर कभी खिला हुआ कमल नजर नहीं आया था। क्षण भर रुका फिर सीट के लिए बढ़ गया। संयोग से एक सीट उस कमल के पास ही खाली थी, जिसे देखकर मैं ठिठक गया था। एक दूसरी सीट उसके ठीक सामने भी थी। ऐसे समय में मैं हमेशा सामनेवाली सीट ही लिया करता हूं, युवकों की तरह युवती के पासवाली सीट पर नहीं बैठता। इससे शरीर से सटकर बैठने का सुख भले ही प्राप्त न होता हो किन्तु सामने बैठे होने के कारण उसकी सारी गति विधियों पर अच्छी तरह नजर रखी जा सकती है।

बैठने के कुछ पल ही बाद मैंने भरपूर नजर से उस युवती को देखा तो एक बार फिर चौंक गया! पीले रंग की हैंडलूम की साड़ी, पीला ही चुस्त सा ब्लाउज, बालों को सादे ढंग से जूड़े के रूप में बांधा हुआ और उसपर पीले रंग के ही फूलों की वेणी—सब कुछ मन को खींचने सा लगा। लेकिन चौंकानेवाली चीज़ तो कुछ और ही थी। उसकी बड़ी बड़ी कजरारी आंखें और उन पर हमेशा ही झुकी रहनेवाली न जाने कितने बोझ से दबी दबी सी पलकें, कुछ ऐसा सा लगता कि जैसे नशा तो उतर चुका हो और उसकी खुमारी अभी तक आंखों के ऊपर झूल रही हो। या कि जैसे सपनों की गलियों में देर तक भटकने की वजह से रात को नींद न आ पायी हो और वही अब उनपर अधिकार जमा रही हो। देर तक मैं उन अधमुंदी नींद भरी पलकों को देखता रहा, बिल्कुल बेझिझक देखता ही रहा और उन्हें मन की भीतरी सतहों पर

अनुक्रमणिका

उतारता रहा। इस तरह थोड़ी देर में उस युवती का चेहरा–मोहरा, रूप–रंग, सब कुछ भीतरी सतह तक पहुंचते-पहुंचते तिरोहित हो गया और शेष रह गयीं सिर्फ वे अधमुंदी नींद–भरी आंखें। मुझे लगा कि यही, बिल्कुल यही आंखें मेरे मन के किसी भीतरी कोने में पहले से भी मौजूद हैं, लेकिन क्या वे भी अनामा हैं, रूप–रंग हीना। मैंने इन आंखों को पहले भी देखा है, कब, कहां, इसी शरीर पर या किसी और पर; मुझे याद न आ रहा था।

मैंने एक और नजर सामनेवाली अनामा पर डाली। मुझे लगा जैसे उसके समूचे शरीर पर सिर्फ वे आंखें ही हैं, जो मेरे मन में चुभी जा रही हैं। वह युवती अपने पास बैठे व्यक्ति से जिस तरह बातें कर रही थी, उससे उसकी चंचलता प्रकट होती थी। यह चंचलता भी मुझे कुछ पहचानी हुई सी जान पड़ रही थी।

मन पर चढ़ी हुई समय की पर्तें मैंने एक एक करके उतारने की चेष्टा की और मैं पीछे की ओर लौटने लगा, स्मृतियों के कुंज में से होता हुआ। एक जगह आकर मेरा मन ठहर गया और एक नाम मेरे मन में कौंध–सा गया—कुसुम। हां, कुसुम ही तो थी वह! एक दिन वह मेरे बहुत पास रह चुकी थी, और अब मैं उसका नाम तक भूल रहा हूं, यह सचमुच अचरज की बात थी।

मेरे बचपन के दिनों में इस लड़की का विशेष स्थान रहा था। हमारे घर पास पास थे, लेकिन काफी समय तक हम एक दूसरे से अपरिचित ही रहे थे और यदि वही पहल न करती तो शायद हमेशा ही अपरिचित रह जाते। मैं स्वभाव से ही शर्मीला रहा हूं,बचपन में तो यह बात और भी अधिक थी। अपने छज्जे पर खड़ा होकर मैं अक्सर उस लड़की को देखा करता था। रंग–बिरंगे फूलोंवाला फ्राक पहने हुए वह प्यारी–सी गोल–मटोल लड़की मुझे बड़ी भली जान पड़ती थी। उसे देखते ही रहने को मन करता था। उससे बोलने की भी इच्छा होती थी किन्तु संकोच के कारण साहस न होता था बस, छज्जे से उसे दबी दबी सी नजरों से कभी कभी देख भर लिया करता था। और अगर कहीं उसे भी अपनी ओर देखते हुए पाता तो शरमा कर भीतर भाग जाया करता था। मुझे याद है कि एक दिन उसने मेरे इस संकोच को जान लिया था और जैसे ही मैं भीतर भागा था, मुझे उसकी खिलखिलाहट सुनायी दी थी। उस खिलखिलाहट को मैं आज तक नहीं भूल पाया हूं। उसमें अजीब तरह का व्यंग्य घुला हुआ था।

इस घटना के बाद कई दिन तक मैंने छज्जे पर जानेका साहस नहीं किया, लेकिन एक दिन जब मेरे नये कपड़े सिलकर आय थे, तो उन्हें पहनकर शान दिखाने की इच्छा से मैं छज्जे पर खड़ा हुए बिना न रहा। सिल्क का कुर्ता और तंग मोहरी का पायजामा पहनकर थोड़ा अकड़ते हुए जैसे ही मैं छज्जे पर पहुंचा कि मेरे कुर्ते के ऊपर कोई काली काली–सी चीज आकर गिरी। मेरी नजर पड़ोस की उस लड़की की ओर थी। मैं देखना चाहता था कि मेरी नयी पोशाक का उस पर कुछ असर हुआ कि नहीं, पर इस अप्रत्याशित बात से मैं एकदम चौंक कर रह गया। घूमकर ऊपर की ओर देखा तो पाया कि एक कौवे महाशय बड़े अन्दाज से विराजमान हैं और अपनी इस चित्रकारी की सफलता से गर्वित हो रहे हैं। अब सिवाय क्रोध के क्या कर सकता था, इसलिए मैं कौवे की तरफ लपका। किन्तु तभी नीचे से खिलखिलाहट की आवाज सुनायी दी। वही लड़की हंस रही थी। मैंने उसकी ओर देखा तो बोली, "अब कौवे पर गुस्सा करने से क्या मिलेगा?"

मन में तो आया कि कहूं, "तो क्या तुम पर गुस्सा होने से कुछ मिलेगा?" पर कह न सका, फिर वही जन्मजात संकोच आगे आ गया।

किन्तु वह चुप न रही, बोली, "तुम हमेशा चुप ही क्यों रहते हो? क्या बोलना नहीं आता?"

एक लड़की इस तरह अपमान कर जाय, संकोची होने पर भी बरदाश्त न कर सकता था, इसलिए प्रायः क्रोध भरे स्वर में ही बोला, "नहीं बोलता, तुमसे मतलब?"

लड़की फूल बिखेरनेवाले चिर–परिचित ढंग से फिर हंसी और बोली, "मतलब है, तभी तो कह रही हूं। अच्छा नीचे तो आ जाओ।"





अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका





"क्या मतलब है, वहीं से कह दो, न?"

"नहीं पहले नीचे आओ । क्या नीचे भी नहीं उतर सकते ?"

उसके स्वर में कुछ ऐसी आत्मीयता थी कि मुझसे रहा नहीं गया और प्रायः झेंपते हुए नीचे उतर गया । वहां उससे जो बातें हुई, उनमें से एक बात तो मुझे ज्यों की त्यों याद है, और शायद हमेशा हमेशा याद रहेगी । उसने मेरे अब तक न बोलने पर तरह तरह के उलाहने दिये थे । एकमात्र समवयस्क बच्चे होने पर भी हम लोग इतने दिनों तक एक–दूसरे से अनजान बने रहे, इस पर उसने आश्चर्य प्रकट किया था; फिर बोली थी, "क्या मैं इतनी बुरी हूं, कि मुझसे बात करने की भी तुम्हारी इच्छा नहीं होती ?"

इसका उत्तर तो मैं न तब दे सका था और न अब ही दे सकता हूं । उसे बुरी समझना तो न तब सम्भव था और न अब ही है । सचमुच वह इतनी अच्छी थी कि उससे बात करने की मेरी हर समय इच्छा हुआ करती थी किंतु एक अजीब सी झिझक थी, जो मुझे थाम लेती थी ।

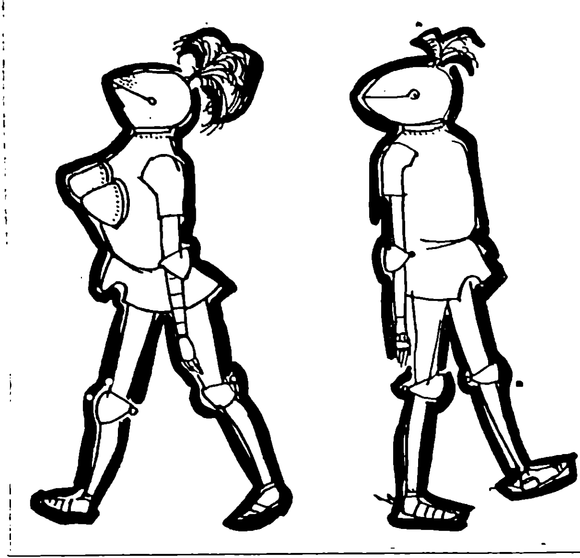
इसके बाद तो धीरे धीरे मेरा संकोच दूर हो गया था । उसे दूर करने में भी उसी का हाथ अधिक रहा । वह जब-तब मेरे झेंपू स्वभाव की मजाक उड़ाया करती थी । फिर तो हम लोग इतने घुल मिल गये थे कि घर हो या स्कूल, हर समय साथ ही रहते थे । हमारे घर में या उसके घर में कोई अच्छी चीज़ बनती, या आती तो ऐसा कभी नहीं हुआ कि हममें से किसी ने भी उसे अकेले खाया हो । फिर तो हम दोनों की जोड़ी क्या घर क्या बाहर—सब जगह मशहूर हो गयी ।

लेकिन यह समय सहसा ही बीत गया, जैसा कि वह एक घड़ा हो और किसी नटखट लड़के के पत्थर से फूटकर उसका पानी एकाएक ही रीत गया हो । एकाएक ही तो हुआ था यह कि कुसुम ने एक दिन आकर मुझे बताया था कि कल वे लोग यह शहर छोड़कर जा रहे हैं । उस दिन वह उदास सी मेरे पास आकर खड़ी हो गयी थी । हमेशा की तरह उस दिन न उसने एकाएक पीछे से आकर मेरी आंखें बन्द की थीं, न एकदम कान के पास जोर से चीखकर मुझे डराने की चेष्टा की थी। बस, वह आयी थी और चुपचाप दीवार से सटी मूर्ती–सी खड़ी हो गयी थी । मैंने उसे हंसाने की कोशिश की, पर वह नहीं हंसी । कई बार पूछने पर उसने बताया था और बताते बताते लगा था कि वह अब रोयी, अब रोयी ।

और उस समय मेरी हालत कैसी हुई थी, मुझे याद नहीं । लेकिन कुछ कुछ उस जैसी ही जरूर रही होगी । फिर उस पूरे दिन हमने न जाने क्या क्या बातें की, भविष्य के बारे में ! आज जब उन बातों के बारे में सोचता हूं तो यही लगता है कि उस छोटी उम्र में यह कहने करने का साहस न जाने कहां से आ जाता है, जबकि अब लाख कोशिश करने पर भी

फॉर्म नं. ७

अनुक्रमणिका



उनमें से एक बात भी मैं किसी से नहीं कह सकता!

इसके बाद कुसुम से जब भेंट हुई तो वह इतनी बड़ी हो गयी थी कि मैं उसे पहचान ही न सका था। सामने बैठी इस युवती की ही तरह उस दिन वह पीले रंग की साड़ी पहने थी लेकिन उसकी साड़ी हैंडलूम की न होकर रेशमी थी। उसमें ऐसा कुछ न था जो पहलेवाली कुसुम से मिलता-जुलता हो। उसकी बड़ी बड़ी कजरारी आंखें, न जाने लाज से, या नींद न आने से या किसी खुमार के बोझ से झुकी हुई पलकों के सम्पुट में छिपी-सी जा रही थीं। उसके दाड़िम-से लाल अधरों से हंसी का झरना फूटने को तैयार लगता था किन्तु न जाने कौन-सा अंकुश था जो उसे बांध की तरह बरबस थामे हुआ था। उसके गाल लावण्य की आभा से दमक रहे थे और उन पर उसके रेशमी बालों की एक आवारा लट वर्तुलाकार में बहक कर आ गयी थी। मैं उसके भरे हुए शरीर को देखता ही रह गया। मेरे ओंठों पर उसका नाम आ-आकर रुक जाता, पर जैसे बाहर निकलने में वह भी किसी संकोच से ठहर जाता और मैं देर तक उसे देखते रहने के अतिरिक्त कुछ कह न सका था। वह भी कुछ न बोली बस, दो-चार बार छुपी छुपी सी नजर से मेरी ओर देख भर लिया।

फिर न जाने किस तरह वह संकोच का बांध टूटा और कुछ ही समय बाद हम फिर से एक दूसरे के लिए पुराने बन गए- जैसे कि समय का अन्तराल कहीं बिला गया हो। लेकिन हमारी बातों में एक अन्तर आ गया था। पहले की चपलता और सहजता अब गंभीरता में बदल गयी थी। अब पहले की तरह हम घण्टों बातें नहीं किया करते थे। न जाने कहां कहां की बातें जो पहले अपने आप ही एक के बाद एक निकलती जाती थीं अब न जाने कहां शेष हो गयी थीं। अब तो प्रायः बातें होती ही न थीं। पास पास बैठे हम घण्टों एक दूसरे को निहारते ही रह जाते थे, मूक, निःशब्द। मैं उसकी नील झील सी आंखों में जैसे कोई अनदेखा कमल खोजने की कोशिश करता रहता था और वह. . . .वह भी किसी अप्राप्य सुख को ढूंढने के प्रयास में रहती थी। उसकी आंखों को देखकर लगता कि जैसे उसकी घनी बरौनियों के बोझ से पलकें झुकी जा रही हों। उन्हें देखकर एक बार मैंने कहा भी था,

"कुसुमी, तुझे क्या सई-सांझ से नींद आ रही है जो तेरी आंखें भारी लग रही हैं ?"

"नहीं तो। कहां हैं, भारी?" और उसने अपनी बड़ी बड़ी आंखों को भरपूर खोलकर सामने कर दिया।

"तेरी आंखें देखकर मुझे हमेशा लगता है कि जैसे ये नींदभरी हों। जैसे कि तुझ पर शराब की खुमारी चढ़ रही हो।" मैं बोला था।

"धत्!" और वह लजा गयी थी फिर एकाएक बोली थी, "तुमने शराब पी है कभी जो उसकी खुमारी की बात कर रहे हो?"

अब मेरे चौंकने की बारी थी। सहसा कोई जवाब देते न बना लेकिन बोला, "क्या हर काम स्वयं करके ही अनुभव किया जाता है ? इतनी किताबों में इस सब के बारे में पढ़ा जो है।"

"किताबों की बात छोड़ो। अनुभव तो तभी माना जा सकता है, जब स्वयं प्राप्त किया हो और जिसका स्वयं अनुभव न हो, ऐसी बात मुंह से नहीं निकालनी चाहिए।" उसने उपदेश दे डाला।

"तो क्या तू चाहती है कि मैं शराब पिया करूं ?"

"धत् ! मैं भला यह क्यों चाहूंगी ? ऐसा सोच भी नहीं सकती कि कभी तुम ऐसी बुरी चीजें पियो।"

और उस दिन की बातचीत इसके बाद मौन में बदल गयी थी। हम दोनों न जाने कितनी देर तक किसी अनजाने भावालोक में खोये से रहे थे। कुसुम तो कुछ इस तरह निःशब्द हो गयी थी कि जैसे उसने मुझे शराब पीने की स्थिति में ही देख लिया हो। उसने मुझे इस तरह पकड़ लिया कि जैसे उसे मेरे छीने जाने का भय हो। उसका सिर मेरी गोद में रखा था। मैं प्यार से उसका सिर सहला रहा था। इसी बीच मेरा हाथ उसके माथे पर पहुंच गया था और एकाएक मैं चौंक गया।

"यह तेरे माथे पर चोट का निशान कैसा है ?"

"यह!" वह धीरे से मुस्करायी फिर बोली, "इस चोट की तुम्हें याद नहीं है ? यह तो स्वयं तुमने ही लगायी थी।"

"कब? मुझे तो याद नहीं पड़ता।"

"तुम छोटेपन में दूध पीने में बहुत आनाकानी किया करते थे, न ! एक दिन जब तुम्हारी मम्मी गिलास में दूध लिये हुए तुम्हें दूध पिलाने की कोशिश कर रही थीं तभी मैं भी वहां पहुंच गयी थी। मम्मी तुम्हें तरह तरह के लालच दिला कर दूध

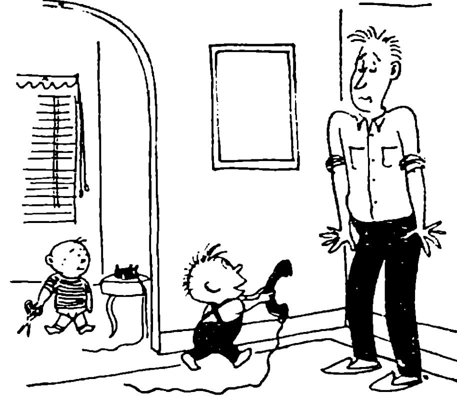
पीने को कहती थीं लेकिन तुम किसी तरह मानते ही न थे। अजीब तरह से तुनुक तुनुक पड़ते थे, बार बार और यह देखकर मुझे हंसी आने लगी थी, जिसे शायद तुमने भी देख लिया था। इसलिए तुम मुझपर झुंझला उठे थे। तभी न जाने मुझे क्या हुआ कि मैंने मम्मी से कह दिया कि मैं तुम्हें दूध पिलवा दूंगी, गिलास मुझे दे दो। और गिलास लेकर मैं तुम्हारे पास आयी और तुम्हारे मुंह से लगा दिया। न जाने क्यों मुझे यह विश्वास था कि तुम मेरी बात मान लोगे, किंतु तुम्हें तो मुझ पर और भी गुस्सा आ गया और तुमने गिलास छीनकर....."

"तेरे माथे पर मार दिया! क्यों न? तुझे तो सब कुछ इस तरह याद है कि जैसे कल ही हुआ हो।" मैंने बीच में ही कहा, "लेकिन यह निशान तो बिल्कुल इस तरह पड़ा है जैसे कि माथे पर बिन्दी लगी हुई हो।"

"हां, बिल्कुल बीच माथे पर है। तुमने अनजाने ही मेरे माथे पर एक स्थायी बिन्दी लगा दी है जैसे। सिंदूर की बिन्दी से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है यह। लेकिन इसका अर्थ समझते हो न?"

"अर्थ? अर्थ न समझने की बात कहना भी चाहूं तो वह ढोंग होगा, झूठ होगा। बचपन की नादानी में जो सहसा हो गया है, उसकी पृष्ठभूमि में आज की बुद्धि और समझवाली उम्र का कोई न कोई संकेत अवश्य रहा होगा, इसे आज मैं झुठलाना नहीं चाहता।"

इसके बाद हम दोनों एक अपूर्व निश्चिन्तता से भर गये थे।



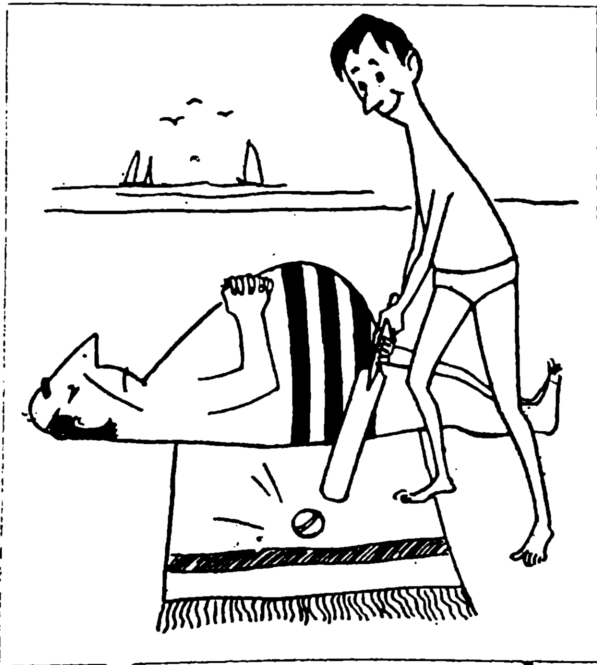
लेकिन इसके बाद हम दोनों के साथ भी ठीक वैसा ही हुआ जैसा कि कहानियों में होता है, उपन्यासों में होता है, सिनेमा में होता है। हमारी यह निश्चिन्तता केवल हमारी निश्चिन्तता थी, बाहरी दुनिया को तो हमारी ओर से अभी निश्चिन्तता नहीं हुई थी और एक दिन परियों की कहानियों की तरह हम दोनों के बीच एक राक्षस कूद पड़ा और मेरी राजकुमारी को ले भागा या सिनेमा का विलेन आकर कुसुम को विवाह कर ले गया और मैं देखता रह गया। इस घटना के बाद कुछ दिन मैंने 'देवदास' की सी मन:स्थिति में बिताये, हर मिलनेवाले से अर्थ-

हीन भावुकता के साथ बातचीत की, निराश प्रेमी की तरह दुनिया और स्त्री की बेवफाई के गीत लिखे, और एक-आध बार जब दर्द हद से ज्यादा बढ़ा हुआ लगा तब ग़म ग़लत करने के बहाने उस चीज का स्वाद भी लिया, जिसे कभी पीते न देखने के लिए कुसुम ने कामना की थी। शराब की खुमारी की कोई काव्यात्मक अनुभूति तो मुझे नहीं हो पायी किंतु कुछ नया नया सा जरूर लगा।

फिर इसके बाद समय किस तरह, किस संलिप्ति में बीतने लगा, यह सब तो इतना महत्वपूर्ण नहीं, लेकिन इतना अवश्य है कि बड़ी तेजी से बीत गया। इस बीच मैंने कई मंजिलें तय कीं, कई सीढ़ियां पार कीं और करीब करीब कुसुम को भुला ही दिया। पहले उसके बारे में, उसके नये घर के बारे में कुछ उड़ते समाचार जरूर मिले थे, फिर उनसे भी मेरा लगाव न रह सका।

मुझे इतना पता था कि वह किसी बड़े धनी-मानी घर में गयी है। उसका पति कोई बड़ा व्यापारी है। फिर यह भी पता लगा कि वह उसे रुपये-पैसे की तरह ही चाहता है और तिजोरी की तरह घर में ही बन्द रखता है। उसे डर है कि कहीं उस पर किसी लोभी की बुरी नजर न लग जाय। फिर कुछ दिन बाद यह भी पता लगा कि कुसुम वहां सुखी नहीं है। उसकी भावुक आत्मा जैसे वहां घुट घुट कर मर रही है। यह जान कर न जाने क्यों एक बार फिर मुझे एक आघात सा लगा, एक सोया दर्द जैसे उभर उठा, और एक बार फिर जैसे 'देव-दास' जाग उठा।

लेकिन यह स्थिति भी अधिक दिन न रहती, पहले की तरह समय का सर्प इसे भी निगल लेता पर इस बीच एक और घटना घट गयी जिसने इसे कुछ अधिक जीवन दे दिया, अधिक सांसें दे दीं।



उस दिन शायद कुछ जल्दी ही सांझ घिर आयी थी और कमरे में कुछ सलेटी रंग की सी रोशनी फैली हुई थी। मैंने बिजली नहीं जलायी थी और गमगीन मुद्रा में बैठा कुछ सोच रहा था कि सहसा मेरे सामने एक छाया आकर खड़ी हो गयी। वह कुसुम थी लेकिन इतनी बदल गयी थी कि उसे देखकर मैं चौंक गया। मैंने लैम्प जलाया और उसकी ओर एक बार फिर ध्यान से देखा। उसका शरीर तो कृश हो ही गया था, उसके चेहरे की कान्ति भी बिल्कुल धुल गयी थी, जैसे कि वह कोई मेक-अप हो जो अब तक बना रहा हो और अब सहसा समय की बौछार पड़ जाने से धुल-पुंछ कर साफ हो गया हो और एक कटु और तीखी असलियत उसके नीचे से निकल आयी हो। लेकिन यह कुसुम की असलियत न थी, यह मैं अच्छी तरह जानता था और इसीलिये उसे एकबारगी इस तरह देख कर चौंक गया था। यों चौंकने का कारण यह भी था कि वह आज बिल्कुल अप्रत्याशित ढंग से आकर सामने खड़ी हो गयी थी।

मुझे देर से अपनी ओर देखते पाकर वह बोली, "क्या देख रहे हो इस तरह ? मैं वही तुम्हारी कुसुमी हूं, और कोई नहीं।"

उसकी आवाज इतनी धीमी थी जैसे कहीं बहुत दूर से आ रही हो। मैंने फिर एक धक्का सा अनुभव किया अपने मन पर। यह वही कुसुमी है जो हरदम चहचहाती रहती थी, जिसके ओंठों से हर समय खिलखिलाहट के फूल झरा करते थे। लेकिन मैं कुछ कह न सका, बस देखता ही रहा, बोला तो इतना, "बैठ जाओ न!"

वह बैठ गयी लेकिन इस तरह जैसे कि वह खड़ी रहने में थकन महसूस कर रही थी और बैठने की ही अपेक्षा कर रही हो।

कुछ देर तक फिर चुप्पी छायी रही। कुसुम भी कुछ न बोली। नजर झुकाये पांव के अंगूठे से फर्श पर कुछ अदृश्य आकृतियां बनाती रही। मैं कुछ सोच न पा रहा था कि क्या बात करूं और कैसे करूं लेकिन जब अधिक चुप रहना असह्य हो गया तो बोला, "देखता हूं, बहुत बदल गयी हो। क्यों?"

"बदली नहीं, बदल दी गयी हूं।" विवशता से भीगा स्वर आया। कुछ देर रुक कर बहुत धीमे स्वर से कहा, "लेकिन तुम्हारे लिए नहीं मेरे मिनू।"

मैं इस अंतिम बात से तटस्थ ही रहा और मानवीय सहानु-भूति से दयार्द्र होकर बोला, "लगता है, बहुत सहना पड़ा है, तुम्हें।"

"हां, अब और नहीं सह सकूंगी ऐसा लगता है। अब मुझ में जैसे और अधिक सहने की क्षमता अशेष हो गयी है। इसी से यहां तक आयी हूं।" और उसकी बरौनियों से जैसे कोई बादल का टुकड़ा उलझ कर रह गया।

इसी क्षण मैंने देखा कि सब कुछ बदले जाने पर भी दो चीजें ज्यों की त्यों हैं। नींद से बोझिल अधमुंदी आंखें और माथे पर का वह निशान। पलकों पर शायद कुछ बोझ और लद गया

अनुक्रमणिका

है और माथे के निशान के ठीक ऊपर सिन्दूर की बिन्दी लगी हुई है, जो अब फीकी पड़ जाने के कारण निशान को छिपा नहीं पा रही है। मेरी नजर उस पर अटक कर रह गयी और मन के किसी कोने से एक दबी हुई सी चाह उभरी कि मैं उसे अपने बिल्कुल निकट खींच लूं, पहले की तरह हमारे बीच की सारी दूरियां बिला जायें और मैं उसकी उन नशीली आंखों की गहराइयों में एक बार फिर अपने को डुबा सकूं। लेकिन न जाने कौन से संस्कारों का अंकुश मेरे मन को घायल करने लगा और इनमें से कुछ भी मैं न कर सका। बस, चुप बैठा उसे देखता रहा।

"तुम भी बहुत बदल गये हो, लगता है?।" वह फिर बोली।

मैं सहसा सकपका गया, "न...न...नहीं तो।"

"तो फिर इस तरह चुप क्यों हो? तुम पूछते क्यों नहीं कि मुझ पर क्या बीत रही है! मैं किस तरह जी रही हूं? तुमसे दूर उस नये घर में मेरा क्या अनुभव रहा है, क्या यह तुम जानना भी नहीं चाहते?"

"नहीं, ऐसा तो नहीं। मुझे पता लगा था कि तुम्हारे पति तुम्हें बहुत चाहते हैं, इतना चाहते हैं कि तुम्हें सबकी नजरों से बचाकर रखते हैं। तुम वहां बड़े सुख से हो?।"

"यह सब क्या तुम व्यंग्य से कह रहे हो? व्यंग्य का प्रयोग शक्तिवान पर किया जाता है और मैं... मैं तो अब इतनी अधिक टूट चुकी हूं कि सीधी बात सहने की क्षमता भी अब मुझमें नहीं रही है। ईश्वर के लिए, तुम तो ऐसा व्यवहार न करो मेरे साथ!"

मैं लज्जित सा अनुभव करने लगा। वास्तव में मुझे लग रहा था कि वह केवल टूटी ही नहीं है, बल्कि बिखर भी गयी है। उसकी निरीहता के निकट मुझे कुछ कहने का साहस न हुआ।

वही फिर बोली, लेकिन इस बार जैसे उसका सारा संयम बह गया हो, "मेरे मिनू, मैं तुम्हारे पास आज अकारण ही नहीं आयी हूं। सच मानो, मैं अब उस तिजोरी में कैद नहीं रह सकती। लगता है, तुमने भी और लोगों की तरह मेरे पतिगृह के धन-वैभव और सुख-ऐश्वर्य से प्रभावित होकर मेरे सुखी होने की कल्पना कर ली थी। तुम तो मुझे, मेरी प्रकृति को अच्छी तरह जानते हो, तुमसे मुझे ज्यादा कहना न होगा। उस घर में जहां का वातावरण मेरी प्रकृति के लिए बिल्कुल अपरिचित और अप्रत्याशित है, मेरी सांस सांस घुटती जा रही है। लगता है कि मैं वहां तिल तिल घुलती जा रही हूं, शेष होती जा रही हूं। मैं इस तरह मरना नहीं चाहती, बल्कि मैं मरना ही नहीं चाहती। मुझे जीने से मोह है, बेहद मोह है। मैं जीने के लिए सब कुछ करने को तैयार हूं, उचित, अनुचित; धर्म, अधर्म, सब कुछ करके उस घुटन भरी मौत के भयानक पाश से बच निकलना चाहती हूं। जानते हो वह पाश दिन दिन मेरे और निकट, और निकट आता जा रहा है, मुझे जकड़ता जा रहा है, मुझे दबोचता जा रहा है। इस जहरीले धुंएं में से मुझे निकाल लो, मेरे मिनू; मुझे उबार लो, अभी देर नहीं हुई है।

कविता के विवाह में घरजमाई प्रकाशक!



—अनिलकुमार

नितांत दरिद्र कान्यकुब्ज–पिता के घर
जन्म लेनेवाली
गुणवती–कन्या-सी,
अवतरित होती है मानस-कन्या
मेरी हर कविता।
चारों तरफ भीड़ लगाये खड़े हैं—
'टैक्स्ट–बुक' छापते–छापते,
दो–चार उपन्यास–कहानी की किताबें,
सरकारी इनामों या नवसाक्षर वाचनालयों में
चलनेवाली—
बत्तीस–पेजी डिमाई पुस्तिकाएँ छापकर
'जनरल' के धंधे में उतरने के आकांक्षी,
शंकाशील प्रकाशक।
गुणवती कविता की
शलवार–कमीजों की चुस्त फिटिंग नापेंगे!
बाजार का रंग-ढंग,
चलने का डीलडौल भांपेंगे!
इजहार करेंगे अपनी पसंद–नापसंद का!
कसाई की नीयत से
देखेंगे लेनदार!
गुण नहीं,
रूप और रुपये पर उठी है अकसर ही
कान्यकुब्ज-कन्या!
रस और दायित्व —
कविता के धंधे में पाते अस्थायित्व
नया कवि समझदार —
अपनी ही पूंजी से किसी रोज कविता के
हल्दी चढ़ाता है।
संग्रह छपा कर वह नामी प्रकाशक को
घरजमाई बनाता है।
कविता – कन्या की चिन्ता में आकंठ डूबे
कान्यकुब्ज पिता–सा
दो– राहे खड़ा हूं!

अनुक्रमणिका

जल्दी करो।" और उसका आवेश पलकों के बीच से बहकर बाहर आने लगा।

मैं स्तब्ध बैठा उसे देखता ही रहा, बोलूं क्या, तय न कर पाया।

लेकिन उसके मन की सतहों को फोड़कर तो जैसे कोई ज्वालामुखी सुलग चुका था, वह उसी आवेश में बोलती गयी, "लगता है, तुम्हारी सम्वेदना सो गयी है, मुझे साधारण लोगों की तरह से तुम्हें सब सुनाना ही होगा। सब-कुछ खोल कर रख देना होगा। तो सुनो–मैं जिस घर में गयी हूं, वहां खूब धन-वैभव है, ऐश्वर्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। मुझको हाथ हिलाने भर की भी जरूरत नहीं, इतना आराम है। मेरा इतना मान-सम्मान और प्यार-दुलार होता है कि मैं उससे ऊब ऊब जाती हूं। लेकिन इस सबमें इतनी कृत्रिमता, इतनी औपचारिकता, इतना दुराव सा लगता है कि मैं उसमें अपने को संलिप्त ही नहीं कर पाती। मुझे लगता है कि ये लोग मुझे मान देते हैं, क्योंकि मुझे मान देना है, मुझे प्यार करते हैं क्योंकि मुझे प्यार करना है। कहीं कोई अपनापन नहीं दीखता मुझे। और बन्धन इतने हैं कि सूर्य भी न देख ले मुझे, इसका ध्यान भी रखना पड़ता है। फिर बताओ, मिनू, मेरे जैसी लड़की, जिसने कभी संकोच को भी पास नहीं आने दिया, ऐसे कैदखाने में कैसे रह सकती है, कब तक रह सकती है?"

"और तुम्हारे पति?" मेरे मुंह से निकला।

"पति! पति के लिए पत्नी का इतना ही महत्व है, जितना रोटी खाने के लिए दाल का होता है। हम रोटी दाल से भी खा सकते हैं और तरकारी से भी। और तरकारी भी कोई ही हो सकती है, इतना ही न? बस, वही हाल उनका है, उन्हें पत्नी चाहिए थी, जो कोई भी हो सकती थी, मैं ही नहीं। मैं यदि भाग्य से उनके पल्ले पड़ गयी हूं, तो इसमें मेरा कोई महत्व नहीं, मेरा कोई गुण अथवा दोष उनके निकट महत्वपूर्ण नहीं। कोई भी स्त्री अपने अहम् को इस हद तक कुचल देने को तैयार नहीं हो सकती फिर मेरा तो प्रश्न ही नहीं उठता। वह दिन भर रुपये-पैसे पर जान देते हैं, अपना प्यार लुटाते हैं और रात को एक दूसरी प्यास को बुझाने के लिए उन्हें एक स्त्री की चाहना रहती है, जो मैं होऊं या कोई और, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं। पत्नी की संज्ञा तो उन्होंने अपने घर की शोभा के लिए रखी है बस, और कोई अर्थ नहीं है इस संज्ञा का उनके लिए। पत्नी की किसी भावना का उनके निकट कोई मूल्य नहीं। भावना का तो कोई अस्तित्व उस सारे घर के वातावरण में ही नहीं है और तुम जानते ही हो कि मैं तो जैसे भावना से ही निर्मित हूं। फिर बताओ मिनू, मैं ऐसे वातावरण में तिल तिलकर मिटने के सिवा और क्या कर सकती हूं? लेकिन यही मैं करना नहीं चाहती, इसीलिए तो उस जहरीले घटाटोप से भाग आयी हूं, तुम्हारे पास। मेरे मिनू, तुम मुझे तिल तिल मरने से बचा सकते हो, मुझे जीवन दे सकते हो, इसी विश्वास के सहारे मैं आ सकी हूं, वहां से। क्यों?"

"पर..." मैं यत्न करके भी अपनी हिचकिचाहट छिपा न सका।

"पर वर कुछ नहीं। याद है, तुमने ही एक दिन कहा था कि तेरे माथे पर लगायी इस स्थायी बिन्दी को मैं कभी न झुठलाऊंगा, फिर अब क्या हुआ?" और उसने अपने माथे के उसी निशान को हाथ से छूकर दिखाया, जिसे मैं पहले ही लक्ष्य कर चुका था।

"मैं तो नहीं झुठलाता, लेकिन समय ने उसे स्वयं झूठा कर दिया है, अब तो।" मैं एकबारगी बोल उठा? "जब मैं तभी कुछ न कर सका तो अब क्या कर सकूंगा?"

"क्यों, अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। यदि तुम चाहो..."

"अब तो मेरी उस बिन्दी पर किसी और के हाथों ने सिन्दूर भर दिया है। मैं जिसके बल पर अधिकार दिखला सकता था, वह अब अधिकृत हो चुका है। नहीं, कुसुमी, नहीं, अब यह सम्भव नहीं लगता। तुझे लौटना ही पड़ेगा।"

"लेकिन तुम्हें याद नहीं क्या, मैंने यह भी कहा था कि मेरे लिए यह सिन्दूर की बिन्दी से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। तुम पर जो अधिकार है, जो अधिकार था पहले, वही मैं अब भी समझती हूं, इसी से इतना बड़ा कदम उठाकर यहां तक आ सकी हूं। मैं जानती हूं कि केवल एक तुम्हीं हो जो मुझे उस नरक से निकाल सकते हो। मुझे उबार लो, मेरे मिनू, मुझे नष्ट होने से बचा लो।" और वह अधीर हो उठी।

"लेकिन तू समझती क्यों नहीं है? अब तू वह पहलेवाली कुसुमी नहीं रही है, अब तू कुसुम है, विवाहिता है, तेरा अपना घर है, तेरे पति हैं..!"

"फिर वही बात!" वह कुछ आवेश में बोली," घर है, पति हैं, वह घर, घर है, जहां अच्छे खासे, जीते जागते मनष्य



पूरा सात मीटर कपड़ा लगा है–मेरे इस बेदिंग सूट पर!

अनुक्रमणिका

को कठपुतली होना पड़े, वह पति, पति है, जिसे पत्नी के अस्तित्व तक को स्वीकारने का अवकाश न हो? इसके बाद भी अपने स्वार्थ के लिए जिसकी पाशविकता जघन्यता की सीमा का अतिक्रमण करने में भी संकोच न करती हो । उस पति को लेकर मैं क्या करूं? मुझ पर, मेरे मन पर, और मेरे शरीर पर क्या क्या बीतती है, मैं तुमसे कैसे कहूं? स्त्री की जुबान पर कुछ ऐसा अंकुश रहता है जो बहुत सी बातें खुल कर कह भी नहीं सकती। बस, इतना ही कहती हूं कि न जाने कौन सी शक्ति है, जो मैं अब तक जीवित रही हूं । तुमसे दूर रहने की कल्पना तक से मैं कांप जाया करती थी किन्तु जैसे तैसे मैंने अपना मन इतना कठोर बना लिया था कि तुमसे अलग रह सकूं, लेकिन वहां का वातावरण और उससे अधिक उनका पाशविक व्यवहार मेरी सारी क्षमताओं को झुठला चुका है । मेरा सारा धैर्य अब जाता रहा है, मेरी सहनशक्ति ने अब हथियार डाल दिये हैं और अब अंत में फिर यदि कहीं किनारा दीखता है, तो वह तुम हो। तुम, केवल तुम, मेरे मिनू । कम से कम तुम तो अब अस्वीकार न करो । मन की सम्पूर्ण लगन से मैंने तुम्हें चाहा था, उस चाहना की भूमि पर जितना कुछ विश्वास मैं अब तक जुटा पायी हूं, वह समूचा तुम्हारे आगे आंचल पसार रहा है, उसे ठुकराओ मत ।"

मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहा था। मेरी चेतनाशक्ति जैसे जवाब दे चुकी थी । मैं उसकी स्थिति की विषमता को समझ रहा था, अनुभव कर रहा था किन्तु फिर भी जैसे उसकी स्थिति का समाधान मेरे पास नहीं था । मैं जैसे स्वयं को निरुपाय अनुभव कर रहा था । हाथ बढ़ाकर उसे स्वीकारने का मेरा मन होता भी तो मेरे संस्कार, और शायद मेरी जन्मजात भीरुता आगे आ जाती । इसलिए मैं चुप रहनेके अतिरिक्त कुछ न कर सका।

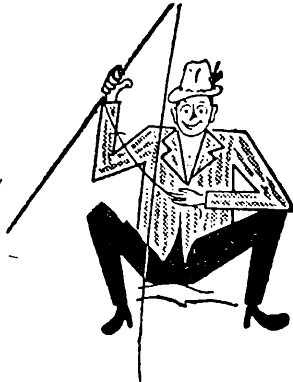
लेकिन उसके मन का ज्वालामुखी अब आंखों की राह आग-भरा पानी बहाता हुआ सा लगा । शायद मेरी झिझक को ही लक्ष्य करके वह बोली, "तुमने यदि मुझे स्वीकार न किया तो तुम पर से ही नहीं, समस्त पुरुष जाति से मेरा विश्वास उठ जायेगा जो न मेरे लिए अच्छा होगा और न समाज के लिए । बोलो न, इतना सोच-विचार क्या?"

मैं उसके प्रश्न से अधिक उसके आत्मप्रकाशन से घबरा गया । उसकी स्थिति से दुख तो मुझे भी हो रहा था किन्तु विषाद की गहनता औचित्य-अनौचित्य को भुला सकने में समर्थ नहीं हुआ करती, इसलिए मैंने कहा, "कुछ भी हो, कुसुम," इस बार चेष्टा करने पर भी मैं कुसुमी न कह सका, "अब वही तुम्हारा घर है, तुम्हें वहीं रहना चाहिये, अपने मन को थोड़ा और काबू में करो, सब ठीक हो जायेगा । वहां से भागने में तुम्हारी गति नहीं है ।"

शायद वह मुझसे ऐसे उपदेश की अपेक्षा करके न आयी थी, वह प्रायः बिखरकर ही बोली, "अच्छा, अच्छा, अपना उपदेश रहने दो । लगता है, मैंने तुम्हें समझने में गलती की तुम्हारा बचपन का संकोची और झेंपू स्वभाव आगे चलकर कायरता में







न बदलता तो और क्या होता? मैंने तुमसे दुराशा की थी। दुख इसका नहीं है कि मैं असहाय हो गयी हूं, अकेली पड़ गयी हूं, वरन् मेरा विश्वास मुझे दगा दे गया है। तुम्हारा यह अस्वीकार्य केवल मात्र तुम्हारा ही नहीं, सारी पुरुष जाति का अस्वीकार्य है, इसे याद रखना। तुम अपने गले-सड़े संस्कारों से लिपटे रहे हो, उसी रूढ़ और परिमित घेरे में कुलाचे लगाते रहो और मैं जाती हूं इस विस्तृत संसार से जूझने। मेरी जो बची खुची शक्ति है, वह इसके लिए कम न पड़ेगी, इतना मुझे विश्वास है। अवलिदा।"

और वह इस तेजी से उठकर चली गयी कि मुझे आश्चर्य हुआ कि उस जर्जर देह में इतनी शक्ति कहां से आ गयी। उसे जाते देखकर एक बार फिर उसे बुलाने की इच्छा हुई, एक बार फिर अपने निर्णय को दोहराने की इच्छा हुई किन्तु साहस न कर सका। बस, स्तब्ध बैठा रहा देर तक।

इसके बाद बहुत दिनों तक उसका कोई समाचार मुझे न मिला। उसकी दशा पर मुझे सहानुभूति होती रही और आवेश में मैंने कई बार अपने उस अस्वीकार्य को अनुचित भी ठहराया किन्तु तब उसके लिए काफी देर हो चुकी थी।

हां, काफी देर हो चुकी थी जब से मेरा ध्यान सामनेवाली उस लड़की पर नहीं गया था। मैंने उसके माथे पर भी कोई निशान ढूंढने की कोशिश की लेकिन वहां कुछ न था। उसके माथे पर किसी विदेशी लिपस्टिक जैसी कोई बिन्दी लगी हुई थी जिसका अर्थ सिवा फैशन के और कोई नहीं होता। लेकिन उसने सिर पर साड़ी का आंचल यत्नपूर्वक ढका हुआ था, किसी कुलीना वधू की तरह।

तभी पहली बार मेरी आंखें उससे टकरायी और मैंने पाया कि एक अजीब उपेक्षा उनमें है, मेरे लिए और शायद सारी पुरुष-जाति के लिए। मैंने घबराकर नजर नीची कर लीं, और नजर हटाते हटाते मैंने देखा कि साड़ी के आंचल के नीचे उसकी मांग के सिन्दूर की लालिमा भी झांक रही थी।

उसकी उपेक्षा भरी दृष्टि का अर्थ मेरी समझ में आ गया था और मैं अज्ञात भय से सहम कर निश्चेष्ट बैठ गया जैसा कि सारी पुरुष जाति की किसी भूल का प्रायश्चित कर रहा होऊं।

एक अनजाना भारीपन लिये हुए उस दिन मैं आफिस पहुंचा। यह भारीपन कुसुम की याद के कारण था, या उस युवती की उपेक्षा भरी दृष्टि के कारण था, यह तय ही न कर पाया था कि मुझे एक अप्रत्याशित समाचार मिला।

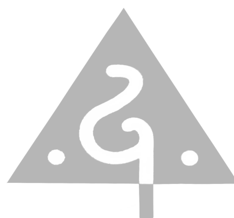
कुसुम ने अपने पति की हत्या कर दी थी और वह विक्षिप्त-प्राय अवस्था में गिरफ्तार कर ली गयी थी।

न जाने क्यों इस समाचार ने मुझे विशेष नहीं चौंकाया! न जाने क्यों मुझे लगा कि मैं कुछ इस तरह की बात सुनने की ही अपेक्षा कर रहा था! फिर भी मैं उस दिन आफिस में बैठा न रह सका।

कुसुम के विद्रोह भरे शब्द मुझे बार बार याद आ रहे थे।

●●●



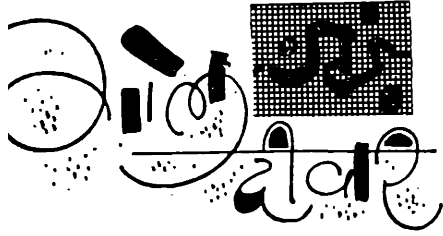


अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका







अनंतकुमार पाषाण

बोरीवलीमें तीन कमरों के मेरे फ्लैट के सामने एक बहुत बड़ी सफेद रंग की कोठी है, जिसके ऊंचे-ऊंचे बरामदों के मोटे खंभे दूर से भी दिख जाते हैं, जिसकी पुरानी दीवारों पर जरूरत से ज्यादा घनी बेलें बेहिसाब फैली हैं और जिसमें पांच साल से, याने जबसे मैं बोरीवली में रहने आया हूँ, कोई नहीं रहता है। निहायत झंखाड़ किस्म के बाग के चौड़े मोटे दरवाजेपर हमेशा एक जंगलगा मोटा ताला मुझे दिखायी दिया है। पड़ोस में रहने वाले, मोटर के स्पेयर पार्ट्स् का बिजनेस करनेवाले पंजाबी सज्जन मिस्टर अर्जननाथ गुलाटी ने मुझे बताया है कि वह बँगला खानबहादुर अजीजुर रहमान सिद्दीकी साहब का है। उनके वालिद बुजुर्गवार खानबहादुर एहतशाम हुसेन साहब अपनी जईफी के दिनों में यहाँ आराम फर्माया करते थे और उनकी विचारों की मैयत भी इस मकान में उठी। उस बात को आज आठ बरस होने आये। तब से इस मकानमें बस ताला ही पड़ा है।

जहाँ तक बात का सवाल था, वह खतम हो गयी। मकान था सो जहाँ था, वहीं रहा। दोपहर को उसमें फ़ाख्ताएँ बोलतीं और शाम की रोशनी में वह खून से तरबतर ऐसे खड़ा रहता कि देखने वाले को एक अजीब हौल-सा हो जाता। पर मैं बहुत भावुक और कल्पना प्रधान आदमी हूँ और मैं नहीं कह सकता कि जो मकान मेरी अपनी कल्पना ने खड़ा किया था वह उस मकान से कहाँ तक मिलता था जो अस्लियत में वहाँ खड़ा था और जिसमें खानबहादुर अजीजुर रहमान सिद्दीकी साहब के बुजुर्गवार आराम फरमाते थे।

बहरहाल मैं जब भी उस मकान को देखता, मुझे लगता कि इसमें कोई रहता है और जिस की लंबी साँसों की आवाज़ उस घने काले जंगल के बाहर नहीं आ सकती।

एक दिन का जिक्र है गुलाटी साहब मेरे यहाँ आये। उस दिन मेरे और मेरी बीबी के बचपन के कुछ दोस्त हमारे यहाँ खाना खाने आये हुए थे और हमारे एक मामा भी थे जो उसी दिन आठ साल बाद अफ्रीका से लौटे थे। खाना खाते-न-खाते करीब तीन बज गये और पान-वान खा कर हम लोगों ने अभी टाँगें लम्बी की ही थीं और बच्चे ट्रायसिकिल ले कर बाहर कम्पाउंड में गये ही थे कि गुलाटी साहब बलूजा साहब को लेकर आ पहुँचे।

सुबह से पहली बार हम लोग इत्मीनान से ऐसे बैठ थे और जरा एक दूसरे की तरफ मुखातिब थे और बातों के अनेक विषय और विगत की अनेक यादें घटाओं की तरह

बाप रे ! कैसी लम्बी-लम्बी उंगलियां थीं उसकी !
उसने मुँह खोला — बाप रे !
कैसी कुत्ते की सी आवाज थी उसकी ? और....!
उसके दांत कितने बड़े थे !
मेरे बहुत नजदीक आ गया और दहशत के मारे—

छायी ही थीं कि यह दोनों साहबान आ गये और कॉलोनी में बच्चों के खेलने के लिये एक मैदान के बनवाये जाने की जरूरत पर हमें दलीलें पेश करने लगे। स्पष्ट है कि जब पाँच मिनट बीते, दस मिनट बीते और बीस मिनट बीते और बात उठी वर्मा की दस बरस की लड़की सरोज के गिर जाने से और पहुँची सामने के रास्ते पर बहुत गिट्टी-पत्थर होने पर और जब गुलाटी साहब बहुत दर्दभरी आवाज में अपने सत्तर रुपये के अंग्रेजी जूते की तबाही का अफसाना सुनाने लगे— क्योंकि सड़क पर बहुत गिट्टी और पत्थर हैं, तो बात कुछ बहुत ही काबू के बाहर होने लगी। हमारे बचपन के दोस्त जो करीब करीब दस साल बाद हमें मिल रहे थे—और हमारे मामा जो आठ साल बाद अफ्रीका से आये थे —बोर हो गये और उठ गये और जाने लगे। जब वे लोग उठ कर खड़े हो गये और दरवाजे तक पहुँच गये, तो अत्यधिक निराशा से मैंने कहा — "ठहरिए, मैं भी आपके साथ चलता हूँ। मुझे आप से एक जरूरी मसले पर बहस करनी है मामाजी !" और मैं कुर्ता और तहमद पहने था उसी पर अपनी टूटी चप्पल पहनने लगा। मैंने सोचा था कि यह तरकीब काम कर जायेगी। पर गुलाटी साहब की मोहब्बत में इस से बिलकुल फर्क न पड़ा और उन्होंने बहुत अपनायत से कहा कि आप को कहीं जाना हो तो जरूर जाइए, हमारा क्या, हम थोड़ी देर बैठेंगे। कोई दूसरे का घर थोड़े ही है ! कुछ देर भाभीजी से ही गप्पें रहेंगी ! और इस गहरी मोहब्बत के आगे मैंने हथियार डाल दिये और हारे हुए सिपाही की तरह सोफे पर गिर पड़ा। मेरे मेहमान जा चुके थे और कमरे में सिर्फ तीन आदमी रह गये थे— गुलाटी साहब, बलूजा साहब और मैं !

उन्होंने बताना शुरू किया कि सड़क बनेगी, खेलने को बच्चों को सुभीता रहेगा। हरेक आदमी से पैसे जमा किये जायेंगे— सो अपने हिस्से के रुपये पच्चीस निकालिए।

"कितने ?" मैंने चौंक कर पूछा।

"पच्चीस रुपये! **Twenty Five !"**

"मैं नहीं दे सकता !" मैंने रुखाई से कहा।

"अच्छा फिर कितने दे सकते हैं ?"

"एक भी नहीं !"

"दस तो देने ही पड़ेंगे !"

मैंने कहा कि मैं आर्टिस्ट आदमी हूँ, बिजनेस नहीं करता हूँ, जो कुछ भी दो-चार पैसे बचते हैं वह 'नेशनल डिफेन्स' में जाते हैं। बहस बढ़ती गयी और लड़ाई से कम जो कुछ भी हो सकता था - हुआ। मैंने रुपये देनेवालों की सूची उनके हाथ से ले कर देखी तो मालूम हुआ कि उन्होंने सिर्फ दस ही रुपये दिये हैं ! पच्चीस रुपये तो सिर्फ मकान-मालिकों के हैं।

सड़क बनने लगी। मेरी बीवी ने एक दिन शाम को गुलाटी साहब के यहाँ से लौट कर मुझे बताया कि गुलाटी साहब मोटर खरीदना चाहते हैं और इस सड़क के बनने से उन्हें बहुत सुभीता हो जायेगा। वर्ना गिट्टी और पत्थर इतने बड़े—बड़े और मोटे—मोटे उस रास्ते पर फैले थे कि टैक्सी-वाले भी वहाँ से जाने से इन्कार कर देते थे।

सो जोरों से सड़क बनने लगी। सड़क के पार सामने मजदूरों के ठट्टर खड़े हो गये, जिनके दरवाजों पर टूटी चिमनी की पीली-पीली लालटेनें लटकने लगीं और ईटों पर मिट्टी के तवों पर मोटे-मोटे रोट सिकने लगे।

मैं गुलाटी साहब से कम ही मिल पाता था। एक दिन शाम को सबर्बन ट्रेन में मुलाकात हुई। नाराज तो होना ही था उन्हें, सो थे पर मैं उनसे ऐसे बातें करता रहा जैसे कुछ हुआ ही न हो। बड़े रहस्यमय ढंग से उन्होंने मुझसे पूछा कि आपने 'लेटेस्ट' खबर सुनी ? और फिर उन्होंने बताया कि खानबहादुर साहब अपनी कोठी को बेचनेवाले हैं क्योंकि वह बहुत मनहूस समझी जाती है और कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि उनके वालिद बुजुर्गवार की रूह उसमें अभी भी है ?

फिर बहुत पास मुंह लाकर आँख मार कर बोले- "आपको उनकी बहू के किस्से तो मालूम ही होंगे !" मैंने कहा कि उनके खानदान के बारे में मैं कुछ नहीं जानता और वह तो बहुत दूर की बात है-खुद उनके बारे में भी मेरी वाकफियत बहुत कम है !

"उनका लड़का नामर्द है ?" वह बोले।

"होगा !" मैंने लापरवाहीसे कहा और दिल-ही-दिल में सोचने में लगा कि किस कदर गप्पें उड़ाता है यह गुलाटी !





"उनकी बहू सर नजीव अहमद साहब की लड़की है। शादी में कम-से कम एक लाख मिले होंगे।"

मैंने उकता कर कहा- "भई जिसे मिले उसे मिले और जिस को देने थे उसने दिये! हम क्यों परेशान हों!"

गुलाटी साहब ने मुझे समझाया कि खानबहादुर को मालूम था कि उनका लड़का नामर्द है, फिर भी उन्होंने सिर्फ इसलिये शादी की कि उन्हें अपने खानदान का रुतवा बढ़ाना था और सर नजीव अहमद साहब की लड़की को बहू बना कर इतने बड़े आदमी का समधी बनना था।"

मैंने कहा– "भाई गुलाटी साहब, छोड़िये भी। आपने आज का अखबार पढ़ा? हमारे सोये हुए जवानों पर 'सीज फायर' होने के बीस दिन बाद चीनियों ने गोली चलायी!

पर कैसे चीनी और कैसी 'सीज फायर'! गुलाटी साहब ने ही 'फायर' करना जारी रखा– "सर नजीव अहमद साहब को लड़का नहीं है और उन्होंने अपनी वसीयत में अपनी सारी जायदाद अपने दामाद के नाम कर दी है!"

"होगा!" मैंने कहा।

"उनकी लड़की अपने बाप से चार साल से नहीं मिली है! खान बहादुर साहब का कहना है कि लड़की और दामाद विलायत गये हुए हैं। सर नजीव अहमद को कुछ शुबह है और उन्होंने मुकदमा दायर किया है!"

कहते–कहते उन्होंने मेरे हाथ में 'ईवनिंग न्यूज' थमा दिया है। जो कुछ भी खबर थी वह गुलाटी साहब मुझे जबानी सुना ही चुके थे। इतने में बोरिवली आ गया। सो मैंने उन्हें 'गुडनाइट' की।

इसके बाद करीब-करीब पाँच-छह दिन निकल गये। तीसरे पहर को हम लोग 'ड्राइंग रूम' में बैठे चाय पी रहे थे और खामोशी से दीवार पर के मनी-प्लांट पर खेलती हुई पीली धूप को देख रहे थे।

एक साथ खिड़की में से पीले नायलान की साड़ी पहने मिसेज वलूजा दिखायी दीं। वह लेडी डॉक्टर हैं और शायद अपनी डिसपेंसरी जा रही थीं। हम लोगों ने ताली बजा कर उन्हें बुलाया और एक प्याली चाय पीने का उनसे आग्रह किया।

वह बहुत ही मिलनसार, खुशमिजाज और आजाद तबीयत औरत हैं और उनकी बातें बहुत ही रोचक होती हैं। उन्होंने बताया कि चार साल के पहले जब उनकी शादी नहीं हुई थी तब उनकी डिसपेंसरी पेंडर रोड पर थी और तब वह एक बार खानबहादुर की बहू को देखने गयी थीं। उसकी बीमारी अजीब थी क्योंकि अच्छी तरह देखने पर भी बीमारी कोई नहीं मिली थी और कमजोरी इतनी थी कि वह पलंग पर से उठ भी नहीं सकती थी। उसके बाल रूखे और उलझे हुए थे, होंठ सूखे हुए थे, गाल पिचक गये थे और उनकी हड्डियाँ ऊपर को उठ आयी थीं, बेहद दुबलेपन के कारण उसके दाँत बाहर को निकले हुए दिखते थे। मेरी बीवी ने पूछा कि क्या उन्होंने उसके शौहर को देखा है? उन्होंने कहा कि हाँ, देखा क्यों नहीं है? देखने में काफी हट्टा-कट्टा है पर उसमें एक बहुत बड़ी कमी है। पहले बहुत अरसे तक उसने जिस डाक्टर से इलाज करवाया था, वह मेडिकल कालिज में मिसेज वलूजा का 'क्लास-फेलो' था।

फिर दिन बीतने लगे और सामने की सड़क बनती रही। सड़क कूटने का एक

Statement about ownership and other particulars about newspaper

DIPAWALI HINDI ANNUAL

(Form IV Rule 8)

1.	Place of Publication :	Dalal Art Studio, 40-42 Kennedy Bridge, Bombay-4.
2.	Periodicity :	Annual, published once in a year.
3.	Printer's name :	Dinanath Damodar Dalal.
	Nationality :	Indian.
	Address :	40-42, Kennedy Bridge, Bombay-4.
4.	Publisher's name: Nationality : Address :	As per 3 above.
5.	Editor's name : Nationality : Address :	As per 3 above.
6.	Name and address of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one per cent of the total capital :	Dinanath Damodar Dalal. Address as per 3 above. No partners or shareholders.

I, Dinanath Damodar Dalal hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Date :- 15th Oct. 1963.

D. D. Dalal.
Signature of Publisher.

अनुक्रमणिका

इंजन आ गया और सीटी दे कर छक् छक् करता हुआ उधर से इधर और इधर से उधर घूमने लगा तो बच्चों को एक नया शग्ल मिल गया।

गुलाटी साहब का लड़का शम्मी और लड़की शमा-दोनों बहुत चुलबुले हैं। उन्होंने सड़क का इंजन चलाने वाले से दोस्ती कर ली और दिन भर इंजन पर ही दिखायी देने लगे। मैंने मिसेज़ गुलाटी से कहा कि बच्चों का इस तरह घूमना ठीक नहीं है। वह बिचारी बेजार–सी बोली– "आप ही बताइये भाई जी, क्या करूं? वह मेरी सुनें तब ना!"

बाद में मेरी बीवी ने मुझे समझाया कि आप क्यों काजी की तरह शहर के अंदेशे में दुबले हो रहे हैं। क्या उन्हें नहीं दिखता कि बच्चे कैसे वाही–तबाही घूमते रहते हैं। परसों, आठ बरस के शम्मी को मैंने स्टेशन के सामने बरफ खाते देखा था–एक आने की वह गन्दी लकड़ी में लगी बरफ! मैंने वीरेसे जाकर उससे पूछा कि वह इतनी दूर क्या अकेला आया है तो वह भाग कर स्टेशन में घुस गया। उसके बरफ के लड्डू का भी एक हिस्सा टूट कर गिर गया। मुझे बड़ा अफसोस हुआ। प्लेटफॉर्म के भीतर जाने के गेट के पीछे छिप कर मुझे देखता रहा। मैंने बहुत बुलाया, पर नहीं आया। इन लोगों के बच्चे काफी होशियार होते हैं। उन्हें कहीं छोड़ दो, उल्लू बन कर घर नहीं आयेंगे। और एक हमारे बच्चे हैं......!"

फिर एक दिन दोपहर को शम्मी खो गया। उसकी माँ पहले तो समझी कि यहीं खेल रहा होगा, आ जायेगा। पर जब छह बज गये और शम्मी नहीं आया तो सब घबरा गये। मेरी बीवी को भी अच्छा मौका मिला और उन्होंने कहा कि आ तो खैर जायेगा ही, पर बच्चों का दिन भर इस तरह से बाहर खुदाईख्वार गधेसवार घूमना ठीक नहीं है। मैं आपसे पहले ही कहती थी। इन लोगों का क्या है? –नासमझ हैं, मगर देखिये कि परेशानी तो हम लोगों को होती है, वगैरह।

मिसेज गुलाटी, मिसेज बलूजा और मेरी बीवी को लेकर शम्मी को ढूंढने गयीं और मैं छत के सामने वाले कमरे में परेशान सा बैठा पीले पड़ते आसमान को

देखने लगा। लड़का आखिर गया कहाँ? –दिल बहुत बेचैन था।

एक साथ मुझे लगा कि छत पर कोई कूदा।

मैंने उठ कर देखा। दबे पाँव शम्मी आ रहा था। उसके लम्बे-लम्बे सीधे-सीधे बाल माथे पर पड़े थे, हाथ-पाँव और कपड़े धूल से सने थे और उसकी चेक की कमीज खाकी नेकर के बाहर निकली हुई थी!

मैंने किसी तरह अपनी चीख को रोका। वह आते ही मेरी गोद में सहमा सा चढ़ गया और उसने पानी माँगा। मेरा जी बहुत चाहा कि मैं उससे पूछूं कि वह कहाँ गया था पर मैं चुप ही रहा। पानी के गिलास में उसकी तेज साँसोंकी गूंज सुनायी दी और फिर जोर से उसने गिलास सामने की मेज पर रक्खा।

"कहाँ गये थे!" मैंने उससे पूछा

"कहीं भी तो नहीं!" कह कर वह बात को टाल कर भाग जाना चाहता था कि मैंने बड़े प्यारसे उसे रोक लिया और धीरेसे उसके कान के पास मुँह ले जा कर कहा––

"मैं भी जब तुम्हारे बराबर था तो वहीं गया था, जहाँ आज तुम गये थे!" और फिर उसको सहमा हुआ-सा देखकर खुद भी सहमने का अभिनय करते हुए मैंने कहा– "बाप रे!" और फिर मैं चुप हो गया।

वह मेरे बहुत पास आ कर मेरी गोद में दुबक गया पर बोला कुछ नहीं। मुझे लगा कि मेरी तरकीब काम कर रही है। मैंने उसके मुँह के पास मुँह ले जाकर कहा- " किसीसे कहना नहीं– मैंने भी किसीसे नहीं कहा था!"

वह धीरे से अविश्वास के स्वर में बोला- "तो आपको मालूम है? आपने भी देखा है?"

मैंने सिर हिला कर गंभीरता से कहा कि-"हाँ! देखा जरूर है मगर बापरे! अब मैं कभी फिर वहाँ नहीं जाऊंगा!"

उसके दिल पर इस बात का बहुत ही गहरा असर हुआ। मैंने प्यार से उसे गोदी से थोड़ा अलग करते हुए कहा कि– "अब जाओ! देखो तुम्हारी अम्मा बहुत ही परेशान है!"

ऐसा मैंने सिर्फ इसलिए किया कि शम्मी को यह शक बिलकुल न पड़े कि मैं उससे कुछ जानने की कोशिश कर रहा हूँ। दाँव ठीक पड़ा। वह गया तो नहीं, मेरे पास आकर बहुत रुआँसा–सा होकर बोला-

"अंकल आपने भी देखा है वह भूत? आप भी गये थे वहाँ?"

मैंने अंदाज से काफी कुछ समझने की कोशिश करते हुए कहा– "सामनेवाली सफेद कोठी में ना?"

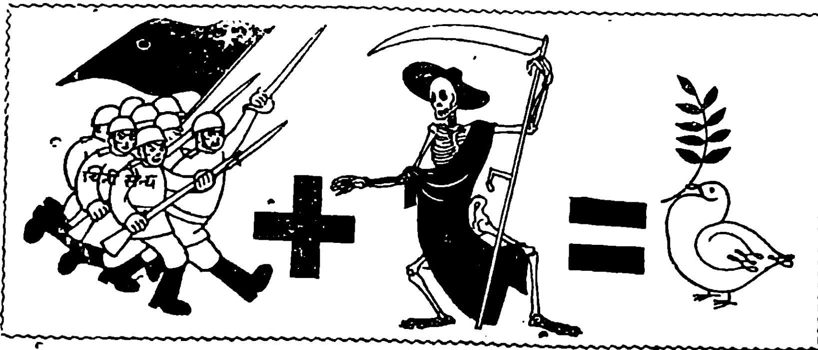
वह डरा हुआ-सा शून्य में देखता हुआ बोला–– "अंकल! वह औरत कौन है अंकल? वह ऐसे क्यों पड़ी थी? कितना डर लगता है उसे देख कर!"

––मैंने घटनाओं का सूत्र जोड़ते हुए कहा-" उसमें डर की क्या बात है? बीमार है विचारी!"

"नहीं, नहीं अंकल! एक बुढ़िया उसके कमरे में आती–जाती है। वह कौन है अंकल?"

"है विचारी एक औरत! बीमार ही है! बहुत ही बीमार है। उससे डरने की कोई बात नहीं है। मैं उसे जानता हूँ। वह बच्चों को बहुत प्यार करती है।"

"नहीं नहीं अंकल! वह बच्चों को बिलकुल प्यार नहीं करती! मैं दीवार पर बैठा उसे देख रहा था अंकल कि उसने मुझे देख लिया। हाथ उठा कर बुलाने लगी– बाप रे! कैसी लम्बी–लम्बी उंगलियां थीं उसकी! उसने मुँह खोला–बाप रे! कैसी कुत्ते की–सी आवाज थी उसकी? और अंकल, अंकल! उसके दांत कितने बड़े थे!" कहते कहते वह मेरे बहुत नजदीक आ गया और दहशत के मारे मुझसे चिपट गया।



इतन में उसकी माँ, उसका बाप, मिसेज़, बलूजा और मेरी बीबी कमरे में घुसे और उसे देखकर खुशी के मारे चीख पड़े। मैंने उन्हें बताया कि शम्मी अपने स्कूल के कुछ दोस्तोंके साथ नैशनल पार्क में चला गया था। मैंने उसे समझा दिया है, अब वह कभी नहीं जायेगा!

शम्मी तो अपने माँ–बाप के साथ चला गया और मेरी बीबी मुझे उसे खोजने का पूरा किस्सा सुनाने लगी। मेरा मन कहीं और था और एक अजीब बेसब्री मुझे खाये डाल रही थी। रात का इन्तजार मैंने कैसे किया, यह मेरा दिल ही जानता है। करीब आधी रात को मैं उठा।

दीवार गोल थी और बहुत ऊंची थी। इत्तिफाक की बात कि रात अँधेरी थी। अच्छी तरह कोशिश की और बहुत आँखें गड़ा कर देखा – मगर कहीं कोई रोशनी नहीं दिखायी दी। इस अंधेरे में कोई कैसे हो सकता है? शम्मी की एक–एक बात मुझे याद आने लगी। तो क्या जिस औरत को शम्मीने देखा, वह कोई भुतनी थी???

मैं मुँडेर पर पाँव लटकाये बैठा था। नीचे घोर अँधेरा था। इतने में इमली की शाखों में से मैंने माचिस की काड़ी जलने का प्रकाश देखा और एक आवाज़ सुनी जो किसी ट्रक के नीचे आ जानेवाली कुतिया की-सी थी। मेरा कलेजा-तक सहम गया और जब मुझे इत्मीनान हो गया कि गश्त का सिपाही कहीं आस–पास नहीं है तो मैं धीरे-से लौट आया और रातभर बिस्तरे में पड़ा जागता रहा।

मुकदमे का फैसला यह हुआ कि खानबहादुर ने अपनी बहू को बिना खाना दिये कमरे में बन्द कर दिया और वह भूख से तड़प तड़प कर मरी। मुलजिम यह चाहता था कि मौत की वजह कोई समझ न सके। जुर्म की संजीदगी को मद्दनज़र रखते हुए दफा ३०२ में उसे फांसी की सजा दी जाती है।

• • •



कहानी का भूत

सड़कों पर चलते-फिरते लोगों के चेहरे देखे,
शिष्टाचार से युवतियों की ताक-झांक की,
भिखारियों से बातें की। मजदूरों से
गप्पे हांकी पर कलम अटकी सो अटकी—

—डा. हरिदत्त भट्ट 'शैलेश'

उस दिन प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र में जब मैंने अपने नाम से एक कहानी छपी देखी तो मैं हतप्रभ-सा रह गया। अखिल भारतीय कहानी प्रतियोगिता के लिए आयोजित हिंदी कथा प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार प्राप्त कहानी! पांच सौ रुपये का पुरस्कार! मैं पागल सा हो गया। अपने तीस साल के जीवन में मैंने कभी कहानी के नाम पर 'क' भी न लिखा था फिर यह कहानी मेरे नाम से कैसे छपी, किसने लिखी? ऐसे अनेक प्रश्न मेरे दिमाग में चक्कर काटने लगे। पता देखा तो बिलकुल अपना ही। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। कालेज जाने को देर हो रही थी पर मैं कहानी में ही खो गया। इतनी सुंदर, मजेदार कहानी, और मेरे नाम से, कुछ ही मिनटों में चट पड़ गया। कमाल किया है लिखने वाले ने। काश! मैं भी ऐसी कहानियां लिख पाता? इसी बीच श्रीमतीजी आ टपकी और एकदम बरसने लगी कि अभी तो सारा घर सिर पर उठा रखा था कि देर हो गई, देर हो गई, और अब खाना-पीना भी भूल गए। क्या कालेज में छुट्टी हो गई है जो जनाब इस प्रकार निश्चिन्त होकर पढ़ने में तल्लीन हैं।

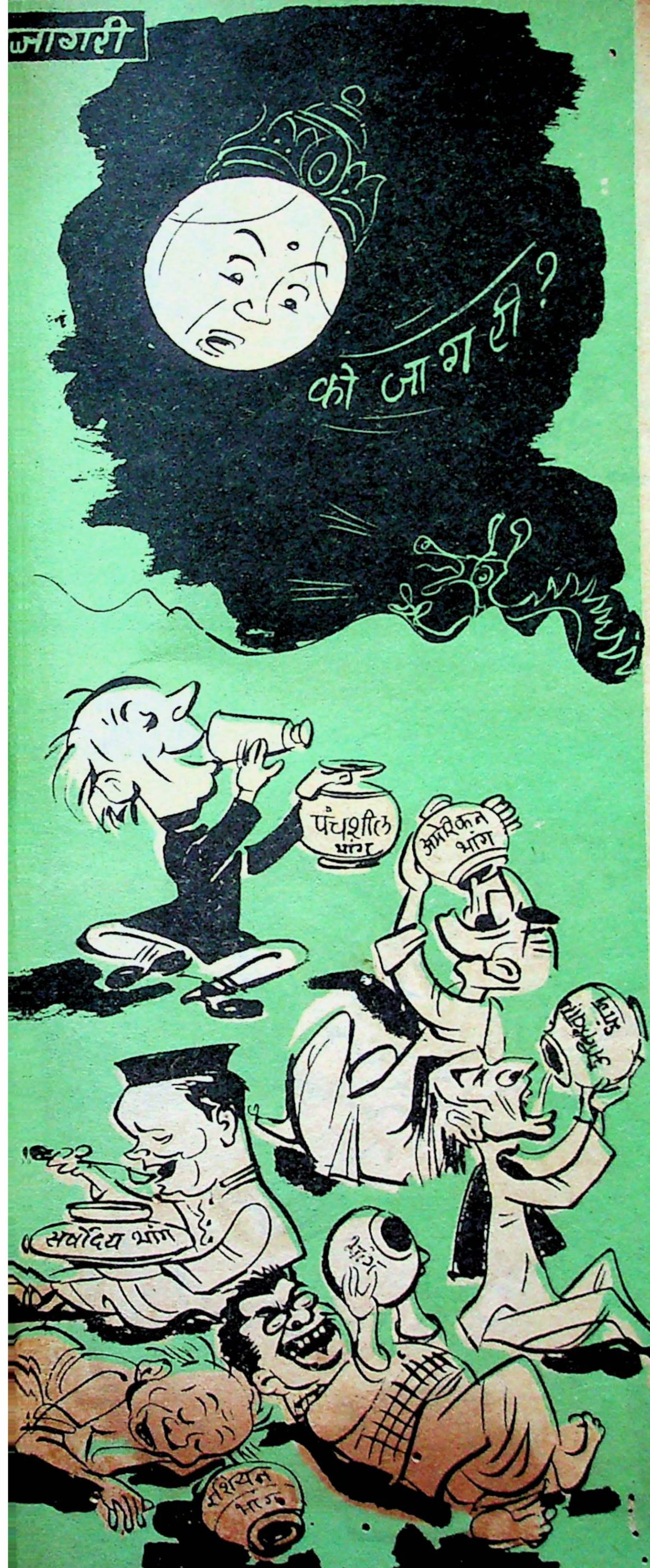
मुझसे जब कुछ कहते न बना तो झट से मैंने वही साप्ताहिक-पत्र पत्नी की तरफ बढ़ा दिया और अपने आप झूठमूठ को अखबार के पन्ने पलटने लगा। श्रीमतीजी ने जल्दी-जल्दी दो-चार पृष्ठ उलटे और फिर झल्लाने लगी— 'चलो-चलो', खाना परोसा हुआ है, ठंडा हो जाएगा। अखबार फिर इत्मीनान से पढ़ लेना और कालेज में छुट्टी हो गई तो पिक्चर चलो। कई दिन से कोई अच्छी पिक्चर नही देखी।

मैं भीतर-ही-भीतर 'धत्तेरे की, धत्तेरे की' कहने लगा कि यह औरत भी कैसी है। छापे में अपने पति का नाम नहीं देख सकी। इतने अच्छे ढंग से तो नाम छपा हुआ है और इसे दिखाई ही नहीं दे रहा फिर झक मार कर अपने आप अपना नाम दिखाया, जहां कहानी छपी थी, वह पृष्ठ दिखाया और पत्नी फिर तो सब भूल-भालकर

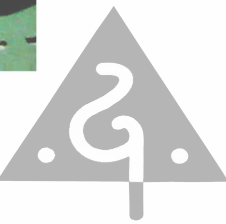
अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

चालू जमाने के भारतीय दिव्य महोत्सव









नागपंच

भारत के दिव्य महोत्सव







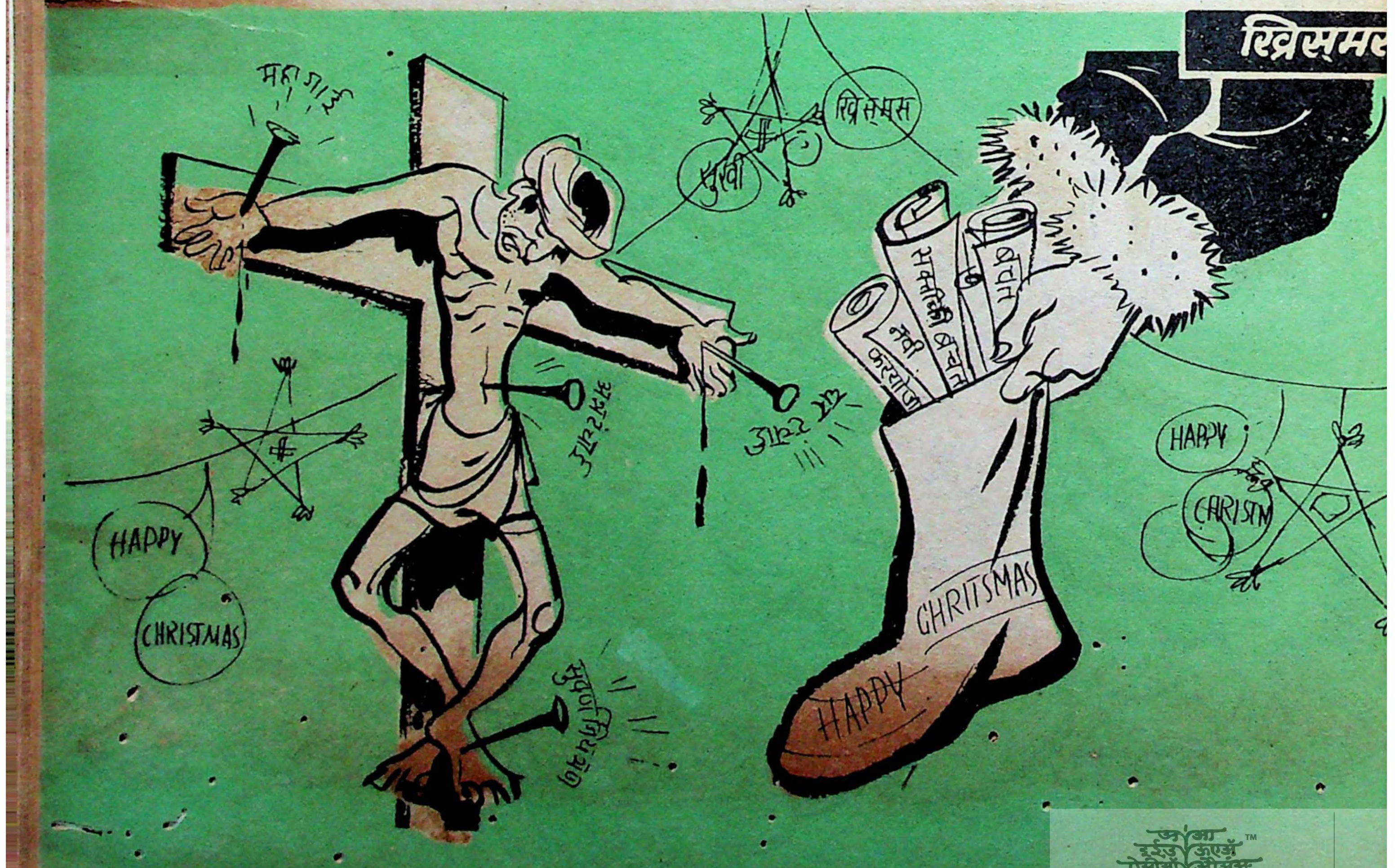


भारत के दिव्य महोत्सव

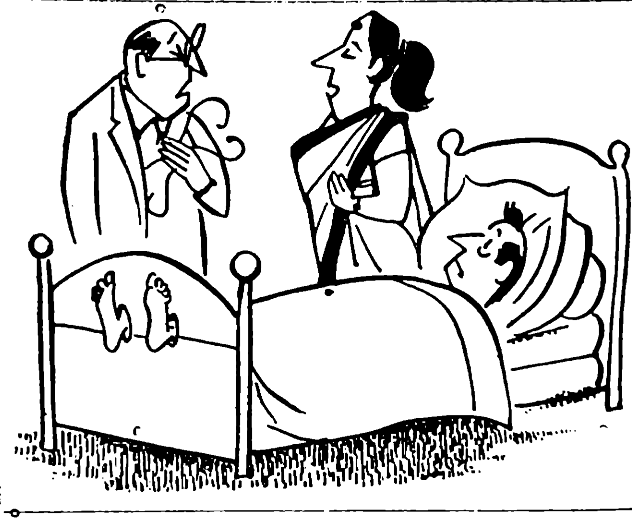




भारत के दिव्य महोत्सव



अनुक्रमणिका



पड़ोसियों ने आते ही बधाइयों की वर्षा की । एक ने तपाक से कहा 'भई कमाल है ? हमें तो पता ही नहीं कि आप इतने बड़े लेखक हैं । आपको पांच सौ रुपए का प्रथम पुरस्कार मिला है । बोलो, हमारी दावत कब होगी ? तो दूसरे ने कहा– 'अशोक बाबू, आप तो गजब के लेखक हैं । आपकी कलम में तो वह जादू है कि बस पूछिए मत । आपने कभी बताया तक नहीं कि आप कहानियां भी लिखते हैं । हमने तो जब से आपकी कहानी पढ़ी बस पूछिए मत । पूरे मुहल्ले में आपकी ही चर्चा हो रही है कि अपने इस गए–बीते मुहल्ले में भी ऐसे–ऐसे पहुंचे हुए कलाकार मौजूद हैं ।' 'बस, फिर तो चारों ओर बात फैल गई कि मैं एक बहुत 'बड़ा' कहानीकार हूं । कालेज के कुछ अध्यापकों ने कालेज में इसी बात का ढिंढोरा–सा पीट दिया । झक मार कर उन्हें चाय भी पिलानी पड़ी । पड़ोस की कुछ औरतें श्रीमतीजी से और कहानियां मांगने लगीं कि अशोक बाबू की कुछ कहानियां हों तो पढ़ने के लिए दे दीजिए ।

बड़े मनोयोग से पढ़ने लगी । एक ही सांस में जैसे कहानी खत्म हुई कि पत्नी के चेहरे पर खुशी के अनगिनत तारे जगमगाने लगे । पांच–सौ रुपये का पुरस्कार देख कर श्रीमतीजी के भी छक्के छूट गए ।

'बड़े छिपे रुस्तम हो जी । ऐसी अच्छी–अच्छी कहानियां लिखते हो और मुझे आज तक नहीं बताया । तुम बड़े वैसे हो, हमसे भी इस प्रकार की बातें छिपाया करते हो । अब तुम्हारा कोई यकीन नहीं । वैसे तो, फुसलाने के लिए कहते रहते हैं, कि मेरा जीवन तो खुली हुई किताब के समान है । मैं कभी कोई बात नहीं छिपाता और अब तमाशा देखिए'–फिर बातों का प्रकरण बदलते हुए श्रीमती जी कहने लगी कि, 'भई तुमने तो वाकई कमाल किया है ? मैं रोज कई कहानियां पढ़ती हूं पर इतनी सुन्दर कहानी आज तक नहीं पढ़ी ।'

मैं भीतर–ही–भीतर, सोच रहा था कि अब तो बुरा फंसा । कैसे हां कह दूं और कैसे ना । जब इतनी अच्छी कहानी मेरे नाम से छप ही गई तो 'ना' भी क्यों करूं । और इस प्रकार कालेज से छुट्टी लेकर दिन भर बिस्तर पर पड़े-पड़े कहानी के ही बारे में सोचता रहा । दो-तीन बार खुद लिखने की कोशिश की पर कलम से कोई शब्द ही ठीक से नहीं उतरता । पचीस बार वही कहानी पढ़ी । हर बार अपना नाम देखा । ध्यान से पता देखा । साप्ताहिक पत्र को बड़ी हिफाजत से उठाता, रखता और इसी ऊहापोह में शाम के पांच बज गए । श्रीमतीजी ने खुशी में गरमागरम पकोड़े खिलाए, पास ही हलवाई की दूकान थी, गरमा गरम अमृतियां मंगवाई और साहबाना ढंग से चाय पिलाई । मैं गद्‌गद् हो गया कि इस कहानी ने ही श्रीमती जी में इतना परिवर्तन कर दिया । चाय पी ही रहा था कि कालेज से अपने दो–चार दोस्त आ गए, बीमारी के बारे में पूछने लगे । मैंने कहा–भई बुखार तो उतर गया पर सिर दर्द बढ़ गया है । सुबह से बढ़ता ही जा रहा है, क्या बताऊं । इसी बीच तीन पड़ौसी आ गए । एक के हाथ में वही साप्ताहिक पत्र । मैं समझ गया, पर जान–बूझकर गंभीर बन गया ।

इधर कुछ पाठकों के पत्र भी आए । एक–दो संपादकों की मांगें भी आईं कि आप ऐसी ही कुछ कहानियां हमारे पत्र को भी भेजिए । साथ हां अपना परिचय और चित्र भी । मैं बेहद परेशान हो गया । लिखूं तो लिखूं कहां से । दिमाग में तो भूसा भरा हुआ है । जिन्दगी के आठ साल तो कालेज में कोरे लेक्चर झाड़ने में ही काटे । लिखने की प्रेरणा मिलती कहां से । रात–रात भर बैठा जागता रहा । बाजार से अच्छे–अच्छे पेन खरीदे, क्योंकि मैंने कहीं पढ़ा था कि शरत्‌चन्द्र चट्टोपाध्याय सदा अच्छे पेन से ही कहानियां लिखा करते । बढ़िया–से–बढ़िया कागज खरीदा, क्योंकि सुना था कि रवीन्द्र ठाकुर की कल्पना बढ़िया पेपर पर ही उतरती थी । सिग्रेट के पाकेट मंगाये, फूंकता गया, क्योंकि किसी बड़े लेखक के बारे में सुना था कि धुएं के छल्लों के साथ उनकी कहानियां स्वतः कागज़ पर उतर पड़ती थीं । श्रीमतीजी 'कौफी' के प्याले देती गई पर कलम से कुछ उतर ही नहीं पाता । दिल में अनेक 'प्लाट' चक्कर काट रहे थे । अनेक घटनाएं घूम रही थीं पर कैसे आरम्भ किया जाय, कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था । दिल की बात दिल में रह जाती । इसी प्रकार मैंने न–जाने कितनी रातें खराब कीं, कितने बढ़िया कागज खराब किए, कितने निब घिसे, कितने सिग्रेट पिए, पर कहानी तो रही दूर 'कहानी की दुम' भी न बनी । मैं कुछ विक्षिप्त–सा हो गया । एक दिन उसी पत्र से मांग आई कि हमारा विशेषांक अगले महीने निकल रहा है । आप तुरन्त एक कहानी भेज दीजिए । उसके लिए पचास रुपए अगाऊ भेज रहे हैं । और पुरस्कार के पांच सौ रुपये भी । इस प्रकार साढ़े पांच सौ का चैक आ गया था । मेरी सिट्टी–पिट्टी गोल । क्या करूं संपादक भी पहुंचे मालूम होते हैं । एक दम अग्रिम भेज दिए । अब कहानी कहां से भेजूं । पांच सौ रुपये आते तो चलो कोई बात ही नहीं थी । श्रीमती ने पांच सौ पचास रुपये का चैक

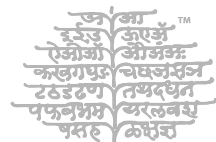
अनुक्रमणिका

देखा तो उनका मुख सूरजमुखी–सा खिल गया। पर मेरी मुसीबत। न इधर का न उधर का। मैंने साप्ताहिक पत्र के संपादक को लिख भेजा कि अभी किसी जरूरी काम से बाहर जा रहा हूं। लौटने पर किसी अगले अंक के लिए कहानी भेजूंगा। विशेषांक के लिए नहीं भेज पाऊंगा। अतः क्षमा करें। कुछ दिन तो सिर का बोझ हलका हो गया किन्तु संपादक का पत्र फिर आया कि आप जल्दी ही कहानी भेजिए।

फिर कहानी के चक्कर में सड़कों के चक्कर काटने लगा, क्योंकि कहीं पढ़ा था कि घर बैठे–बैठे कुछ नहीं लिखा जा सकता। सड़कों पर चलते–फिरते लोगों के चेहरे देखे, शिष्टाचार से युवतियों की ताक–झांक भी की कि कुछ प्रेरणा ही मिल जाय, पर कुछ न बना। भिखारियों से बातें कीं। मजदूरों से गप्पें हांकी पर कलम अटकी सो अटकी। कई बार सोचा कि श्रीमतीजी से कहा जाय कि वह लिखें और मैं डिक्टेट कराते जाऊं। एक–आध बार ऐसा किया भी तो श्रीमतीजी बौखला गई कि यह बचकाना क्या लिखा रहे हो। बस, यों समझिए कि मुसीबत के पहाड़ टूटने लगे। मैं परेशान रहने लगा। कई बार अपने कुछ पुराने पत्र उठा कर पढ़ डाले पर कहानी न बनी। कालेज-पत्रिका बीस बार पढ़ डाली पर कुछ मसाला न मिला। मैं पेसोपेश में पड़ा था कि वह कहानी किसने लिखी। पुरस्कार प्रतियोगिता में मेरे नाम से क्यों भेजी। कई विकल्प उठे पर कुछ सूत्र न मिला। आखिर, ऐसा कलाकार कौन है जिसने अपनी इतनी सुन्दर कृति मेरे नाम से भेजी। इसके पीछे क्या राज है, क्या रहस्य है। कई बार सोचा कि संपादक को साफ-साफ लिख दूं कि वह कहानी मैंने नहीं लिखी फिर मेरे नाम से कैसे छाप दी। कई बार सोचा कि किसी दूसरे नाम से पत्र लिखा जाय कि जिस-किसी ने वह कहानी लिखी-फलानी जगह पर मिल जाय। ऐसी अनेक ऊल-जलूल बातें दिमाग में घूम रहीं थीं।

और मैं कहानी के चक्कर में बेहद परेशान। कुछ चारा न देखा तो एक-आध ज्योतिषियों के दरवाजे खटखटाए परन्तु मन को सन्तोष न हुआ। एक ने कहा कि इन दिनों आपका सितारा बुलन्द है। आपको कोई शुभ समाचार मिलने वाला है तो दूसरे ने कहा कि आप बहुत व्याकुल हैं। दो-तीन महीने तक ऐसी ही परेशानियां रहेंगी, क्योंकि आप पर राहु सवार है, शनि उतर रहा है। इसी ऊहापोह में शहर के एक जाने-माने हस्त-रेखा-विशेषज्ञ के पास भी जाना पड़ा। उन्होंने हाथ की रेखाओं को बड़े अन्दाज से देख कर कहा-आप इन दिनों किसी बुरे चक्कर में फंसे हैं। मैंने कहा-भई, चक्कर में न होता तो आपकी शरण में क्यों आता, पर यह तो बताइए कि यह चक्कर रहेगा कब तक? उन्होंने आव देखा न ताव, तपाक से उबल पड़े-जब तक लड़की का व्याह कहीं दूसरी जगह नहीं हो जाता। वह आपको बिलकुल पसन्द नहीं करती, आप तो जबर्दस्ती 'मान न मान मैं तेरा मेहमान की तरह खामखाह उसके पीछे परेशान हैं।

मेरी सिट्टी-पिट्टी गोल। मैंने कहा–भाई ऐसा-वैसा चक्कर तो नहीं है जैसा आप समझते हैं, कुछ और ही बात है। वे मुंह बनाकर बरस पड़े-मियां हमसे छिपाते हो। दाई से पेट क्या छिपाना?







गीत

चन्द्रकान्त सोनवलकर

साथी भूल अवश्य हुई है लेकिन बिलकुल अनजाने में ही।
इसीलिये तो पछतावे का ढोंग नहीं करता हूँ मैं ॥
मुझको क्या मालूम था साथी जग के नियम न टूटा करते
जिनकी प्यास बकाया रहती प्याले उनके फूटा करते
इतना अगर न भोला होता क्यों कर्जा में तुमसे लेता
उसी कर्ज को ब्याज रूप में रोज रोज ही भरता हूँ मैं।
साथी.................................करता हूँ मैं ॥१॥
मेरी तेरी राह जगत की राहों से है अलग अनोखी
एक दूसरे के हृदयों की गहराई ना नापी जोखी
रोज सूर्य बगिया में मेरी आग लगाने आ जाता है
उस जलनेवाले पापी से रत्तीमात्र न डरता हूँ मैं।
साथी.................................करता हूँ मैं ॥२॥
लंबी चौड़ी बगिया में से एक यही तो फूल चुना है
एक एक तिनके को लेकर एक यही तो नीड़ बुना है
फूल हमेशा फूल रहे औ नीड़ कभी भी उजड़ न पाये
यह छोटी सी विनती केवल तुमसे ही तो करता हूँ मैं।
साथी.................................करता हूँ मैं ॥३॥

तोबा-तोबा कर फिर घर वापस। न दिन को चैन न रात को नींद। इसी बीच अपने शहर में कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ। मैं भी पहली बार आमंत्रित। श्रीमतीजी पीछे पड़ गई कि जरूर जाना है। सुना है कि बड़े पहुंचे-पहुंचे कवि लोग आ रहे हैं। झक मार कर श्रीमती जी के साथ जाना पड़ा। संयोजक ने एकदम लपकते हुए जो स्वागत किया कि हम फूल कर कुप्पा हो गए। उन्होंने सीधे रंगमंच पर बैठने को कहा, जहां दूसरे साहित्यिक पहले से ही विराजमान थे। श्रीमती जी ने भी जोर लगाया-जाइए, जाइए, मैं इधर खुद बैठ जाऊंगी। अब 'ननु-नच' करने का कोई चारा न था।

रंगमंच पर पहुंचते ही अपने शहर की उदीयमान कहानी लेखिका कुमारी मंजुला अपनी ओर बढ़ी और एकदम बधाइयों की बौछार करने लगी कि आपने तो कमाल किया है, इतनी सुन्दर कहानी लिखी।

अपने बुरे हाल। वैसे कुमारी मंजुला बी. ए. में अपने ही साथ पढ़ती थीं और आजकल कन्या-विद्यालय में प्रिंसिपल हैं और धड़ल्ले से कहानियां लिख रही हैं। चोटी के पत्र-पत्रिकाओं में दनादन उनकी कहानियां इन दिनों छप रही थीं। उनकी बधाइयों से अपनी भी छाती कुछ चौड़ी-सी हो गई। कवि-सम्मेलन का कार्यक्रम आरम्भ होने में अभी पन्द्रह-बीस मिनट बाकी थे, क्योंकि संयोजक ने अभी-अभी घोषित किया कि बाहर के दो कवि अभी तक नहीं आए हैं। सम्मेलन के सभापति उन्हें लेने गए हैं। उनके आते ही कवि-सम्मेलन शुरू हो जायेगा। तब तक आप लोग शान्ति से बैठिए। इधर रंगमंच पर खूब गप्प-शप्प हो रही थी कि कुमारी मंजुला ने फिर मुझे छेड़ा कि आपको ऐसी सुन्दर कहानी लिखने की प्रेरणा कहां से मिली।

मैं प्रत्युत्तर में केवल मुस्करा दिया।

क्या आपने एक ही सीटिंग में यह कहानी लिखी या महीनों तक प्लाट आपके दिमाग में मंडराता रहा? उन्होंने फिर जैसे जान बूझकर मुझे छेड़ा हो।

मैं पानी-पानी हो गया। क्या कहूं, क्या न कहूं। कुछ संभल कर बस इतना ही कह पाया कि वह कहानी तो एक ही सीटिंग में अपने आप पूरी हो गई।

"आपने अब तक कितनी कहानियाँ लिखीं?" उन्होंने जैसे 'इंटरव्यू' का रुख धारण कर लिया हो——

मैं, कहाँ लिखता। फुरसत ही नहीं मिलती। मैंने कुछ बनते हुए कहा।

"आपको याद है बी० ए० में आपने मेरे लिए एक कहानी लिखी थी, जो 'कालेज पत्रिका' में छपी थी और काफी दिनों तक जिसकी चर्चा रही। उसी कहानी की बदौलत मुझे लिखने की प्रेरणा मिली और इसका श्रेय आपको ही है।"

मैं बिलकुल कट-सा गया। लो अब अपनी कलई खुल गई। कहीं इन्हें मेरी जालसाजी का पता तो नहीं लग गया। असल में वह तो किसी दूसरे लेखक की कहानी थी। उसका शीर्षक और पात्रों के नाम मात्र बदल कर इनके नाम से कहानी 'कालेज मेगजीन' में मैंने दे दी थी अपना रोब जमाने के लिए, क्योंकि मैं जबर्दस्ती या यूं कहिए, अखाड़े बाजी से हिन्दी विभाग का संपादक बनाया गया था और कुमारी मंजुला थी सह-संपादिका। तब सामग्री जुटाने के लिए क्या-क्या किया था— भगवान् ही जानता है। पत्रिका के नब्बे प्रतिशत लेख इधर-उधर से टपाए और उड़ाए गए थे।

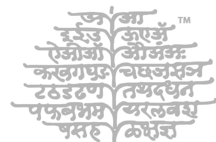
मैं विचारों की तलहटियों में खो-सा गया कि अब अपनी मिट्टी पलीत हुई। 'मैंने आपका ऋण चुका दिया है' कुमारी मंजुला ने एकाएक बदलते हुए-से कहा।

मैं चार खाने चित्त। काटो तो खून नहीं। चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगी। छाती बिलकुल सिकुड़-सी गई जैसे एकाएक गुब्बारे की फूंक सरक गई हो। रंगमंच पर बैठना मुश्किल हो गया। जैसे घड़ों पानी पड़ गया हो और तब बहाना बनाकर वहां से यूं चंपत हो गया कि बस पूछिए मत। पर गनीमत इतनी थी कि कहानी का भूत सिर से उतर गया था।

•••









अनुक्रमणिका

कहानी

— मेरी और माधवी की भी हो

श्रीनिवास पाटणकर



कुछ झिझक के साथ मैंने उससे कहा, "तुम्हारे मेरे घर आने पर मुझे किसी समय जो प्रसन्नता होती थी वह मैं धीरे धीरे भूलता जा रहा हूँ। अब उलटे घंटे दो घंटे की बातचीत के बाद जब तुम जाने को निकलती हो तो मैं वस्तुतः 'मुक्ति' का सा आनंद अनुभव करने लगता हूँ।" इसपर वह कुछ न बोली। फिर उसने पूछा, "क्या एक एक कप कॉफी और ली जाय?" और उसने दोनों प्यालियों में थोड़ी थोड़ी कॉफी उँड़ेली। अव्वल दर्जे के शराबी को शराब से जितनी मुहब्बत होती है, कुछ कुछ वैसी ही मुहब्बत मुझे कॉफी से है। कॉफी का एक घूँट लेकर मैंने उससे पूछा—

"मैंने समझा था कि मेरे बोलने से तुम्हें कुछ बोलने की प्रेरणा मिलेगी। लेकिन देख रहा हूँ तुम तो एकदम गुमसुम बैठी हो।"

"तुम कुछ ऐसा बोल गये हो कि उसे सुनकर मुझे तुम्हारी बुद्धिमानी पर संदेह होने लगा है।"

"इसमें मेरी बुद्धिमानी का सवाल कैसे पैदा हुआ?"

"कैसे पैदा हुआ यह तुम भली-भाँति समझते हो। जो बात मैं अच्छी तरह जानती हूँ, वही बार-बार कहने की आवश्यकता ही क्या है?"

"क्या कह रही हो माधवी? क्या तुम यह पहले से ही जानती हो कि तुम मेरे घर से जाने को निकलती हो उस समय मैं मुक्ति का आनंद अनुभव करने लगता हूँ?"

अनुक्रमणिका

माधवी ने मेरी ओर मुस्कराहट भरी नजर से देखा–फिर मानो मेरे अज्ञान पर दया करती हुई सी बोली, "क्यों न जानूंगी । साहव, इतनी सी बात भी समझ में न आने के लिए मैं न तो नन्हीं बच्ची हूं और न ही इतनी भोली ही हूँ ।"

मुझे "साहव" इस संबोधन से वह यदा–कदा ही संबोधित करती थी । मैंने एक समय उससे कहा था कि जब कभी वह मुझे "साहव" कहती थी तो मुझे इतना हर्ष होता था कि मानो उसने बड़े दुलार से मेरी पीठ सहलाई हो। और तब से उसने "साहव" कहना लगभग बंद कर दिया था । आज कई दिनों बाद वह प्रिय संबोधन कानों पर पड़ते ही मेरे शरीर पर रोएँ खड़े हो गए जो उसकी पैनी नजर से छूटे नहीं ।

"मेरे आने पर तुम्हें प्रसन्नता नहीं होती ऐसी बात नहीं । किंतु तुम्हें सदैव यह भय रहता है कि मैं अनवधान से कुछ बोलूंगी या मणी किसी समय रुष्ट होकर कठोर शब्द बोल जाएगी । यही कारण है कि जब तक मैं तुम्हारे यहां होती हू तुम घबड़ाए से और बेचैन रहते हो, आंधी और तूफान के डर से घोंसलों में परिंदे जैसे चुपचाप बैठे रहते हैं ठीक उसी तरह ।"

हालांकि वह सच और मेरे मन के भीतर की बात बोल रही थी तथापि उसके शब्द मुझे अत्यधिक अस्वस्थ कर रहे थे । कुछ बोलकर इस अस्वस्थता को दूर करने के इरादे से मैंने कहा––

"यों कहकर तुम अपने साथ, मणी के साथ कुछ अन्याय कर रही हो और मुझ पर कुछ अनुग्रह । मैं डरता हूं वह तुम्हारे दोनों के बोलने के लिए नहीं बल्कि मैं स्वयं अपने उत्साह और हर्ष से डरता हूं । मुझे डर लगता है कि प्रसन्नता के आवेग में मैं अनवधान से कुछ बोल जाऊंगा । तुम न मेरे छिछलेपन को समझती हो और न ही तुम ठीक से इस बात को ही समझती हो कि तुम्हारी मुलाकात से मुझे कितनी प्रसन्नता होती है ।"

माधवी गर्दन नीचे झुकाये बैठी थी । उसने ऊपर नजर उठाई और कुछ मुसकरी भरी आवाज में सिर्फ "हूं" कहा ।

मेरी जीभ कुछ पैनी होती चली । माधवी ने मानो मुझे उकसाया था ।

"स्त्री जाति को जितना संयम होता है उसका आधा हिस्सा भी यदि पुरुष जाति को मिलता तो मैं परमात्मा का ऋणी होता । प्रीति की बाढ़ में बहती हुई स्त्री संयम का संबल संभवतः न छोड़ेगी । किंतु प्रणय के केवल स्पर्शमात्र से हमारा संयम ढह जाता है ।"

यह प्रीति और प्रणय की भाषा माधवी को सुहाती न दीख पड़ी । मेरे संभाषण को कुछ मोड़ देने की कोशिश करती हुई वह बोली––

"प्रीति की बाढ़ में बहती हुई कितनी स्त्रियों का अनुभव है तुम्हें?"

उसका स्वर और सुर मैं समझ गया । हम दोनों में यह एक अनुक्त संकेत था कि आपसी मित्रता की चर्चा करते हुए उसे केवल परस्पर स्नेहमात्र कहा जाय । उस स्नेह के वर्णन के लिये प्रणय, प्रीति जैसे शब्दों का परहेज था । मेरे ही हाथों संकेत भंग होने का अवसर आया था । कुछ पल दोनों ही चुप रहे । मुझे वह शांति बेचैन करने लगी ।

"तुम यदि सब कुछ जानती हो तो क्यों मेरे घर आती हो ? यदि तुम्हारे स्थान पर मैं होता-----"

माधवी और मैं दोनों ही एक दूसरे को अच्छी तरह जानते थे । और यही वजह है कि मेरे इतने अनुदार शब्द बोल जाने के बाद भी उसे खीझ न हुई । एकाएक अप्रत्याशित सी वह बोली–"दूसरों का दुःख शीतल ही हुआ करता है । मैं एक वयस्क कुआंरी अकेली रहती हूँ, नौकरी करती हूँ और बड़ी नीरसता से दिन व्यतीत करती हूँ । बीच-बीच में किसी परिचित के घर उठना-बैठना हुआ तो मन का बोझ कुछ हलका होता है । मन में प्रसन्नता का अनुभव होने लगता है । जीवन की नीरसता कुछ कम होने लगती है । क्या तुम्हें इतना भी नहीं सुहाता ?"

मुझे चिढ़ाने के हेतु माधवी ने ऐसे शब्द बोले होंगे ऐसा हालांकि मैं नहीं समझता तथापि उसके शब्द मुझे कुछ चुभ से गये । वह एक वयस्क कुआंरी थी, अकेली रहती थी, नौकरी करती थी यह सब ठीक था । किंतु वह नीरसता से दिन व्यतीत कर रही थी ऐसा कम से कम ऊपर से देखनेवाला तो कोई भी नहीं कह सकता था । आनंद और उत्साह की पूर्ति बनी माधवी हमेशा बड़ी प्रसन्नता के साथ किसी उद्योग में लगी रहती थी । संगीत से उसे प्रेम था । अंधे व्यक्तियों की सेवा के लिए खोली गई किसी संस्था में भी वह कभी-कभी काम करने के लिए जाती थी । बाल-अपराधियों के प्रश्न में भी उसे 'इंटरेस्ट' था ऐसा उसने स्वयं उस अंग्रेजी शब्द

के उपयोग से मुझे जताया था । इन विभिन्न उद्योगों के जरिये कई प्रकार के मित्र उसने इकठ्ठा किये थे। एक तरह उसके ये कई दोस्त मुझे फूटी आंखों न सुहाते और एक तरह मुझे उनसे कोई सरोकार न था । दो तीन महीनों की अवधि के बाद जब कभी जभी हम दोनों एक दूसरे से मिल पाते थे और यह मुलाकात भी बस हुई न हुई ऐसी ही। ऐसे प्रसंग पर उसके मित्रों के बारे में चर्चा कदाचित ही हो पाती थी। उसके बोलने से भी कभी किसी के विशेष स्नेह अभ्यास से इसी शब्द का प्रयोग मैंने आत्मसात् कर लिया है–का उल्लेख नहीं होता था । किंतु फिर भी माधवी के कई मित्र थे । तबलची शंभुनाथ से लेकर पोपले मुँहवाले बुड्ढे प्रोफेसर डिसिल्वा तक। गिनती करें तो आठ–नौ मित्र तो उसके अवश्य ही होंगे । एक समय एक गाने की महफिल में इस शंभुनाथ को और माधवी को एक-दूसरे की ओर देखकर हंसते हुए मैंने देखा था। उस समय से मेरे मन के किसी कोने में चुभता हुआ कांटा ही मानो आज बाहर निकला।

"हाँ, हाँ देवीजी ! आपके हजार-धंधे और लगभग उतने ही मित्र । तुम्हारा जीवन रूखेपन से व्यतीत हो रहा है ऐसा कौन समझेगा?" माधवी समझ गई कि मैं नाराज हूं । वह चुप रही । किंतु उसकी चुप्पी ने मुझे बड़ा शरमिंदा किया। कुछ मीठे शब्दों द्वारा उससे सुलह करने की इच्छा से मैंने कहा–"मुझसे रूठ गई हो माधवी ?"

झुकी हुई गर्दन न उठाते हुए उसने केवल इशारे से ही सूचित किया कि वह रूठी नहीं । किंतु उसकी चुप्पी ज्यों की त्यों बनी रही । किसी तरह उसे मुखर करने के लिए मैंने कहा, "अब और अधिक देर तक तुम गुमसुम बैठी रहीं तो गुदगुदी करके हंसाऊंगा ।"

इसका भी कुछ अनुकूल प्रभाव न हुआ । ऊपर देखते हुए कुछ तेजी से ही वह बोली, "माफ करो। वहीं से बोलो ।"

मेरी तो दशा ऐसी हुई कि काटो तो खून नहीं । उसके साथ मधुर भाषण करने का मेरा उत्साह एकाएक काफूर हुआ। मेरे चेहरे पर जो फर्क हुआ वह संभवतः उसकी नजर में आ गया। मैंने उससे कहा–



"तुम्हें भूख लगी होगी, माधवी । घर चलके खाना नहीं खाना ?"

मेरे प्रश्न को अनसुना करते हुए उसने पूछा, "तो तुम्हारी राय में मुझे तुम्हारे घर कभी जभी आना भी बंद करना चाहिए न ?"

उसके प्रश्न से फिर एक बार मैं अपने मन का संतुलन खो बैठा । रूंधे कंठ से अस्पष्ट आवाज में मैंने कहा, "तुम नहीं जानती माधवी कि तुम्हारी राह मैं कितने तृषित और दुर्दम्य मानस से देखता रहता हूं । यही वजह है कि तुम ऐसे शब्द बोल सकती हो ।"

माधवी ने प्रेमयुक्त हंसी से मुझे आश्वासन दिया कि वह सब-कुछ जानती है । किंतु कुछ ही पलों बाद स्वर बदलकर उसने कहा, "लेकिन मैंने तुम्हें कितनी ही बार बताया कि ऐसी प्यास लगना अच्छा नहीं। इससे मन को क्लेश मात्र होते हैं ।"

"जताने से क्या होता है? यह कहना कितना व्यर्थ है कि पानी मिलने की आशा होने पर ही प्यास लगने दी जाय?"

माधवी ने इस पर कोई प्रत्युत्तर न दिया । उल्टे शिकायत के स्वर में बोली, "घर चलो । भोजन करना है न?"

मुझे भोजन की जल्दी न थी । मैंने कहा, "माधवी, कुछ देर मेरे सामने खड़ी रहो । एक बार तुम्हें आंखों में समा लेना चाहता हूँ ।"

माधवी के मन में न जाने क्या आया? वह दौड़ती हुई एक पेड़ की शाखा के पास जा खड़ी हुई और किसी फ़िल्मी नायिका की तरह अठखेलियां सी करती हुई मुझ से कहने लगी—"पेट भर के देख लो । यह प्यास फिर बाकी न रहे ।"

उस स्थिति में उसकी ओर देखते ही मैं क्षणभर में सावधान हुआ । उसकी बगल में जाकर झुकी हुई गर्दन से मैंने कहा, "चलो माधवी घर चलो। केवल मेरा अकेले का पेट भरने से काम न होगा । तुम्हारा पेट भरना भी जरूरी है। चलो, अंधेरा हो रहा है और हमें अभी दूर जाना है।"

अनुक्रमणिका

"--मेरी परिवर्तित मनःस्थिति को समझते माधवी को देर न लगी। टालमटोल बंद करके उसने सीधे चप्पलों में पैर घुसाये, थर्मास गले में डाल लिया और कहने लगी, "चलो।"

दोनों चल रहे थे। दोनों की गर्दन झुकी हुई थी। अंतर टूट रहा था। पथिक अवाक् था। देर तक चलते रहने के बाद मैंने माधवी से कहा, "माधवी, अब तक जो बात मैंने तुमसे नहीं कही वह अब कह देता हूं। तुम्हें उस पेड़ की शाख से खड़ी देखा तब ऐसा लगा कि तुम्हारे हाथ अपने हाथों में लेकर मजे से घूमता रहूं।"

माधवी ने मेरी ओर देखा--कुछ घूर कर और कुछ ममता से और फिर धीरे से बोली, "मैं समझ रही थी।"

उसका देखना या बोलना कुछ भी मेरी समझ में न आया। दबी आवाज में मैंने पूछा "क्या तुम मुझसे नाराज हो?"

आज संभवतः मेरा सौभाग्य जाग उठा था। शब्दों से मानो मुझे थपकियां सी लगाती हुई वह बोली, "नहीं, नाराज क्योंकर हूंगी। मुझे विश्वास है कि तुम्हारे वर्तन पर जो संयम पड़ा है वह कभी हटेगा नहीं।"

वस्तुतः मुझे यह पूछना चाहिए था कि इस प्रकार के विश्वास का आधार क्या है? किंतु उसके शब्दों में मेरी प्रशंसा भरी होने के कारण उन पर विश्वास करना ही मैंने भी उचित समझा। मेरे घर की बत्ती दूर से दिखाई दे रही थी। नुक्कड़ से मुड़े कि घर। घर के सुरक्षित छत्र के दर्शन से मन का बोझ काफी हलका हुआ और मुझे मसखरी करने की सूझी--

"तुम्हें मेरे संबंध में विश्वास है, तो मुझे तुम्हारे विषय में भय है।"

"भय कैसा?"

"कि तुम्हारा संयम कभी न टूटेगा।"

"हटो, भी।"

घर आते ही मुंह-हाथ धोकर हम लोग भोजन के लिए बैठे तब रात के आठ बज रहे थे। माधवी के जाने के लिए अब सिर्फ दो घंटे बाकी थे। संभवतः उसी कारण मुक्ति के कुछ आनंद का कुछ अनुभव अब मुझे होने लगा था। उसे खूब आग्रह के साथ मैंने खिलाया। अंत में कुछ गुस्से के स्वर में उसने कहा--

"खिला खिला के दूसरों को संतुष्ट करने का यह स्त्रियों का गुण तुममें कहां से आया?"

"मुझ में, मैं समझता हूं, स्त्रियों के ही गुणों की अधिकता है। पुरुष के गुण होते तो अब तक दस पांच युवतियों का प्रेमभाजन बना होता।"

"क्यों, जितनी युवतियों का प्रेम तुम्हें प्राप्त है वह अपर्याप्त है क्या?"

"इन युवतियों में किस किस का समावेश है?"

"मणी और मैं। और इस सूची में किस किस के नाम लिखने हैं, मैं नहीं जानती।"

मणी की याद संभवतः माधवी ने जानबूझ कर ही दिलाई थी। उससे हृदय में हालांकि कुछ वेदना-सी अनुभव हुई तथापि उसकी गुप्त स्वीकृति से मुझे प्रसन्नता हुई। असीम प्रसन्नता जिसके अनुभव से मनुष्य मुग्ध बन जाय।

"मुझसे इतना स्नेह होते हुए भी मेरे तबादले के इस नये गांव में कुछ दिन रहने के इरादे से आने के बाद भी आने के कुछ घंटों बाद जाने की बात कर रही हो, सो किस लिए?"

"माधवी की वृत्ति भी कुछ विचलित हुई। स्कूल के बच्चों जैसी जीभ बाहर निकाले उसने मुझे चिढ़ाया।

"क्या तुम इतने वृद्ध हो कि मैं क्यों जा रही हूं यह तुम नहीं समझ सकते?"

गत कुछ सालों में मुझे किसी ने कम से कम मेरे सामने वृद्ध नहीं कहा था। उस अपरिचित संबोधन से मन पर कुछ आघात सा हुआ। किंतु तुरंत ही अपने आपको सँभालते हुए मैंने कहा, "समझ लो कि मैं वृद्ध हूं और बताओ।"

माधवी खीझ उठी। संभवतः वह खीझ केवल मुझपर नहीं, उसकी कुल परिस्थिति पर थी।

"मणी के घर न होते हुए मेरा यहां रहना उचित नहीं।"

"उसकी नानी का स्वास्थ्य अचानक खराब होने के कारण उसे निकल जाना पड़ा। तुमसे मुलाकात न होगी उसका उसे दुःख हुआ।"

मणी ने कहा था, "माधवी के आने के समय मैं यहां होती तो अच्छा होता।"

माधवी ने इस पर कोई उत्तर न दिया। उसका जानेका समय नजदीक आ रहा था। किस हेतु से मैंने उससे कहा यह तो याद नहीं, लेकिन मैंने कहा था--

"मेरे संयम के विषय में जब से विश्वास जता रही हो तो मेरे रहते हुए तुम्हें क्यों डर लगता है?"



"माधवी जो अब तक किसी अदृश्य से नाराज थी मुझसे भी नाराज हुई । एक बार कहे देती हूं, "मूर्ख जैसे बोलकर मुझे खिझाओ मत ।"

एक बार उसन मुझे वुद्धू कहा था, अब उसने मूर्ख भी कह डाला । बात कुछ समझ में नहीं आ रही थी । उसके मुंह से इतने तीव्र अशोभन शब्द मैंने आज तक सुने नहीं थे । मैं कुछ सहम गया ।

"माधवी, नौ बज चुके हैं । तुम्हें सामान भरना है न ? उठो ।"

माधवी की आँखों में अप्रत्याशित रूप से आंसू उमड़ आये । उसके रोने का अनुभव होने के पहले ही वह फूट पड़ी । मुझे लगा कि आगे बढ़ कर उसके आंसू पोंछूं और उसकी पीठ सहलाऊँ । लेकिन मेरे हाथों ऐसा कुछ होना असंभव था । मेरी पत्नी-भुवनमोहिनी ने एक दिन हंसी हँसी में मुझसे कहा था, "रोती हुई युवती दिखी की पिघल गये यह तुम्हारा उसूल बस हुआ । दूर से ही दो सांत्वनाभरे शब्द बोलना काफी है । और फिर किसी युवती की आंखें भर आने के लिए आवश्यक स्नेहपूर्ण वार्तालाप उसके साथ करने की मुझे तो कोई वजह नजर नहीं आती ।" उस समय उसने यह सलाह अकारण ही दी थी । किंतु मुझे तो ऐसा हुआ था कि मानो मेरे कानों में खौलता हुआ तेल डाला हो । मणी के सांसारिक चातुर्य की कोई सीमा नहीं थी यही ठीक है । इस दृष्टिसे उसके पति के गर्त में गिरने की कोई संभाव्यता बाकी नहीं थी । दूर से दो सांत्वनाभरे शब्द बोलने के लिए संमति तो पहले ही वह दे चुकी थी। उसकी इस उदारता के लिए उस क्षण मुझे बड़ी कृतज्ञता का अनुभव हुआ ।

"क्या हो गया है तुम्हें, माधवी ? मेरा कहना तुम्हें बुरा लगा ?" अपने स्वरपर भी नियंत्रण न रहा । जिसके साथ मुझे निःसीम प्रेम था उस माधवी की आंखों में आंसू देख मेरा चेहरा भी रुआँसा हुआ । किंतु मेरी आँखों में आँसू देख, माधवी हंस पड़ी । उसने अपनी आखें पोंछ कर मेरी ओर बढ़कर मेरे कंधों पर दोनों हाथ रखकर कहा,

"रोऊं नहीं तो और क्या करूँ ? तुम एक तो ऐसा बोलते हो फिर वैसा । मैं तुम्हारी दोस्त हूं ना ? फिर मुझे निकाल भगाने की बात बार बार क्यों कर रहे हो?"

मेरी ओर एक टक किंतु धीमी नजर से देखती हुई वह बोली, पास आकर गुदगुदी करना या फिर जाने का समय होने की सूचना देना इसके अलावा कोई तीसरा प्रकार तुम्हारे पास नहीं है क्या ?"

तीसरा प्रकार भी मैं जानता हूं यह उसे जताने के लिए मैंने उसके हाथों को धीरे से अपने कंधों से अलग किया । मेरी इस कृति का माधवी ने प्रेमभरी कृतज्ञ- नजर से प्रत्युत्तर दिया, वह दूर जा बैठी । उसकी उस प्रेमभरी कृतज्ञ नजर के कारण उसकी ओर से सराहना प्राप्त करने की मेरी इच्छा बलवती हुई ।

"माधवी, तुम्हें अॅन्युअल एस्टाब्लिशमेंट रिटर्न का मतलब मालूम है ? बर्मा में शरच्चंद्र जिस कचहरी में नौकरी करते थे उस कचहरी से मैंने उस समय के अॅन्युअल एस्टाब्लिशमेंट रिटर्न के बारे में थोड़ासा पत्र-व्यवहार किया है । क्या तुम्हें वह देखना है ?"

"सरकारी कचहरियों के पत्रों को पढ़कर भी मुझे कुछ बोध नहीं होता । तुम्हारे उस पत्र-व्यवहार का क्या निष्कर्ष निकला उतना भर तुम मुझे बताओ ।"

शरच्चंद्र को लेकर बातचीत का दौर शुरू हुआ । शरच्चंद्र के बाद रवीन्द्रनाथ, तत्पश्चात् उनका संगीत, उसके बाद खयाल का गीत, अंधों का संगीत-संबंधी प्रेम, अंधे व्यक्तियों के कुछ प्रश्न इन जैसे विषयों पर बातचीत होती रही । माधवी मगन हो चुकी थी किंतु मेरा घड़ी की ओर ध्यान था । दस बजते ही मैंने उसे टोका—

"उठिये, विदुषी उठिये । अब जल्दी न करने पर गाड़ी चूक जाएगी ।"

स्टेशन पर टिकिट के लिए लाइन में मैं खड़ा था कि माधवी ने मेरे कानों में कहा, "नींद इस कदर आ रही है कि सोचती हूं रह जाती तो अच्छा होता । शांति के साथ सुखभरी नींद होती ।"

मेरे घर पर माधवी सचमुच शांति और सुख से सो पाती यह सोचकर मैं कुछ रुष्ट हुआ । कुछ कड़ुआहट से मैंने उससे कहा, "यह सब विचार कुछ दूर दृष्टि से पहले ही कर लिया होता ।"

माधवी, मणी को कभी भूलती न थी । गाड़ी में बैठने पर वह बोली, "मणी से कहो इस समय उसकी और मेरी फुरसत से मुलाकात होने का संयोग न हुआ । फिर कभी आऊंगी ।"

मणी ने माधवी से फिर मुलाकात होने के विषय में जरा भी उत्सुकता नहीं दिखाई थी यह विचार मन में आया । इस वजह से माधवी के ऐसा कहने पर मैं सिर्फ हंस पड़ा - उजड्ड जैसा - छिछलेपन के साथ । माधवी को मेरा हंसना अच्छा नहीं लगा। इशारे से उसने मुझे पास बुलाया । और उस प्रौढ़ किंतु मुझ पर तहे दिलसे प्रेम करनेवाली उस कुआंरी ने मुझे समझाते हुए कहा—

"मणी का उल्लेख आने पर ऐसे अनादर से हंसना उचित नहीं । तुम उससे डरते हो और मैं उसकी विचारधारा को मानती हूं — यही वजह है कि हम कम से कम इस हद तक अपने आपको निभा रहे हैं ।"

हम अपने आपको किस तरह निभा रहे थे और वह ठीक था या नहीं यह कुछ भी मैं नहीं समझ पा रहा था । इसी वजह से मैं चुप्पी साधे खड़ा था ।

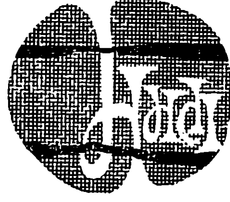
फिर आवाज को और भी कोमल और धीमी करती हुई माधवी बोली, "मैं याचक हूं । मणी की कृपा यदि न रही तो तुम्हारे द्वार पर आज मिलनेवाली भीख भी मुझे नसीब न होगी ।"

माधवी ने अपने लिए चुने हुए इस हीनातिहीन स्थान से उसे उबारना और कुछ नहीं तो शिष्टाचार मात्र के लिए तो आवश्यक था । इतने में इंजिन का भोंपू बज उठा और गाड़ी चल निकली । फिर योग्य शब्द यद्यपि मुझे नहीं मिले फिर भी कुछ कहना जरूरी ही था यह जान कर मैं बोला —

"बिलकुल झूठ । वास्तव में बात ऐसी है कि मणी से तुम डरती हो और मैं उस पर और उसकी विचारधारा पर भी प्रेम करता हूं।"

इसका सत्यासत्य परमात्मा जाने । माधवी ने मेरे शब्द सुने या नहीं, मैं नहीं जानता। गाड़ी चलने पर वह सिर्फ हंस पड़ी । मुझ से मुलाकात होने पर हमेशा जैसे वह हंसती थी वैसे ही । क्यों क्या जाने ?

रूपा. : सुधाकर सामंत



न जाने माँ-बाप ने उसमें ऐसा क्या देखा था
कि उन्होंने उसका नाम ममता रख दिया।
और वह उस नाम को हर तरीके से
बेमानी करने पर जैसे तुल बैठी थी....

~प्रेम कपूर

वह जग रही थी मगर आंखें बन्द किये चुपचाप पड़ी रही। दूर कहीं बहुत से घुंघरुओं की झनकार हवा को जानदार बनाये हुए थी। यह घुंघरू जैसे पाइन्स पत्तियों में अटके थे और हवा उन्हें बजा रही थी। बीच-बीच में कोई पक्षी बेतालसुर मिला कर अलाप दे देते थे। वह वैसे ही पड़ी रही। लाल और पीली पत्तियां जमीन में बिखरी थीं। नयी कोंपलें पेड़ पर आ चुकी थीं। उसे लगा उसके चारों और पत्तियां नहीं शोले हैं जो उसे पका रहे हैं। इस लाल रंग की गर्मी उसे बड़ी-प्यारी लगी। उसने अपने जिस्म को आहिस्ता से समेटा और फिर फैल जाने दिया। आंखों के पोपटे खोल देने चाहे मगर वे न खुले। उसे लगा कुछ देर पहले दिखा सूरज उसकी आंखों में घूम रहा है और एकदम से कुछ याद आ गया। दिमाग में सुई-सी चुभी और भाला बन गयी। आंखें बुज़दिल चिड़ियों की तरह बचती बचती खुल गयीं और उसे सामने की चोटी पर सूरज डूबता नजर आया। नजर आया पाइन्स के झुरमुटों से घिरा डाक बंगला। यह डाक बंगला उसे कितना प्यारा लगता था। वह अपने प्यार की वर्षगांठ मनाने लगभग पिछले सात-आठ साल से बराबर यहां आती रही है।

इस साल भी आयी है पर वह बहुत थकी हुई है। नीचे से चढ़कर यहां तक आते-आते उसकी सांस फूल आयी। जब उससे आगे नहीं चढ़ा गया तो वह पेड़ का सहारा ले बैठ गयी। बबलू और उसके पापा दोनों को वह पगडंडी-पगडंडी आड़े-तिरछे ऊपर जाते देखती रही। फिर उसके पोपटे धीरे-धीरे मुंदने लगे और वह अपने आप में डूब गयी। उसे याद नहीं वह कितनी देर यों ही पड़ी रही। पर जब उसकी स्मृति लौटी तो वह पाइन्स में बंधे घुंघरुओं की झनकार सुन रही थी और जब उसने आंखें खोलीं तो इस फैले हुए विराट में उसकी आंखें बबलू को खोज रही थीं। उसके लिए बबलू एक छोटा-सा मुन्ना नहीं पूरा आदमी बन कर इस लैण्डस्केप पर छा गया था। आंखें बन्द होने और खुलने के बीच एक रेवीलियेशन हुआ था और एक बारगी सब कुछ बदल गया था। लेटे-लेटे खिसक कर उसने पेड़ का सहारा ले लिया और दूर तक फैले विभिन्न रंगों में उसकी दृष्टि डूबती उतराती आंख-मिचौली खेलती रही।

क्या सोच रही थी वह?

ऊपर सामने मकान तक वह न जा सकी। कैसा हताश अनुभव किया था उसने अपने आप को। दुपास्ता औरत की जिंदगी केवल अपनी नहीं होती। वह उस जीव के लिए भी जीती है जो उसके पेट में पल रहा होता है। पास से चीड़ का एक लाल पत्ता उठाकर वह उसके उभड़े पके हुए रेशे को देखती रही। पति और बच्चों के साथ वह ऊपर न जा सकी थी तो कैसी तड़पन हुई थी उसके मन में। कभी वह खुद बच्ची थी और वह अपने पापा के साथ पहाड़ों पर आती थी तभी से यह जगह उसके मन में बस गयी थी। और इसी लिए शादी के बाद ही उसने पहाड़ पर चलने की बात पति के आगे रखी थी। इस पाइन्स के नीचे खड़े होकर उसने



अनुक्रमणिका

क्या-क्या वादे किये थे और कराये थे अपने पति से । फिर पति-पत्नी दोनों इस जिंदगी के आदी हो गये थे । पति पर वह किस कदर जान देती थी । यों पति के लिए हर औरत यदि वह भली है तो सावित्री की तरह जान हथेली पर ले यम से लड़ सकती है पर ममता उन सारी औरतों से भिन्न थी और इसलिए उसकी बात भी दूसरी थी ।

वैसे ही पड़े पड़े उसकी आंखों में नीली साटन की फ्राक पहने एक लड़की उछलने लगी । उसके पैरों में लाल बूट थे और उनपर सफेद मोजे । वह अपने पापा का हाथ पकड़े थी और एक कदम भी ढलुआं जमीन नहीं चल सकती थी । शायद वह भी आज कल का दिन था । प्लेन में बला की गर्मी थी और उसके पापा उसे यहां ले आये थे । पाइन्स की भूरे रंग की सीक वाले पत्तियों की गद्दियां बिछी थीं चिकनी फिसलनेवाली गद्दियां । उसके पापा उसे घसीट रहे थे और वह पूरे जोर से उनकी बाहों में चिपकी दोनों पैर सटाये खड़ी थी ।

फिर वैसे ही वह उस दिन भी दोनों पैर जोड़े रोमी की बाहों से चिपकी खड़ी थी । वह सोच रही थी किस तरह दिन इतनी जल्दी उड़ जाते हैं ? वे सारी बातें उसे कल की ही तो लग रही थीं । रोमी के शरीर की भीनी-भीनी खुशबू उसकी नाक में अभी भी ताजी हो गयी थी । वह जब पहाड़ पर रोमी के साथ पहली बार आयी थी तो रोमी को कितना कम जानती थी । रोमी जिंदगी में पहली बार पहाड़ पर आया था उसके बैग में हाइकिंग का कोई भी समान नहीं था । रबड़ के जूतों के नाम पर एक घिसी-पिटी चप्पल थी । वह उसी को पैरों में डालकर उस पेड़ के नीचे आ खड़ा हुआ था । ममता को शैतानी सूझी तो उसने अपने बाटा वाले जूतों से उसके पैरों की अंगुलियां पीच दी थीं और बड़े स्वाभाविक ढंग से उसने 'सौरी' कह दिया था । अपनी इस बदमाशी पर वह बड़ी देर तक मन ही मन में हंसती रही ।

ममता और रोमी दोनों पिछले सात-आठ वर्षों में इस बुरी तरह से एक दूसरे के आदी हो गये थे कि किसी भी दूसरी चीज की उन्हें जरूरत ही नहीं महसूस हुई थी । जिंदगी बिना उतार चढ़ाव के एक सीधी पगडंडी पर चल रही थी ।

जिंदगी की इस तरह की चाल ममता की अपनी पसंद थी । इस पसंद को उसने अपने आप चुना था और आज से कभी पहले उसने इस पसंद और इस जिंदगी के बारे में नहीं सोचा था । सोचने का मौका ही नहीं आया था । लेकिन आज जब दूर तक पहाड़ी और घाटियों के बीच घिरी वह अकेली पड़ी थी तो उसके मन में तरह-तरह के ख्याल आ रहे थे । और बरबस उसकी स्मृति उसे पीछे लौटा लिये जा रही थी और उसके साथ चलती हुई वह वहां जा खड़ी हुई थी जहां जिंदगी में उसने समझ के कदम रखने शुरू किये थे ।

वह कंधे पर बैग टांगे दालान में खड़ी है । एक काला-सा नौकर बड़े प्यार से उसे मोटर तक ले जाने के लिए पुचकार रहा है । मां ठाकुर की पूजा कर रही है । पुचकारते हुए नौकर ने कंधे पर हाथ रखा है । एक क्षण के लिए उसके मन में आया है वह नौकर के साथ मोटर तक चली जाये । उसका ठुनकना, गुस्सा होना कोई नहीं सुन रहा है । उसने चलने के लिये पैर बढ़ाये हैं कि पापा ने पुकारा है 'मेमो बेटे---।' और इसके पहले कि वह और कुछ सुन पाये नौकर का काला-काला हाथ उसके कंधों को छूता हुआ मुंह तक आ गया है और उसने मुंह खोलकर नौकर की काली चमड़ी दांतों के बीच भर ली है ।

नौकर ज्यादा बड़ा नहीं है यही कोई लड़का-सा है । पहले उसने छुड़ाने की कोशिश की है और अब ममता किचकिचा कर काटती चली गयी है तो उसने तड़ातड़ तमाचे रसीद किये हैं । इतने तेज की गाल पर उपट आये हैं ।

इस पाइन्स के पेड़ के नीचे पड़ी ममता सोचती रही उस नौकर का नाम क्या था पर दिमाग पर लाख जोर डालने के बाद भी उसे याद नहीं आया । मारने बाद जब ममता ने रोने के लिए मुंह खोल दिया तो नौकर बिना उसे लिये ही बाहर चला गया और फिर लौट कर नहीं आया । और पड़ी-पड़ी ममता हंसती रही उस दिन को याद कर--बेचारा डर के मारे नहीं आया । कैसा बेवकूफ था वह । और बेवकूफी की बात याद कर खुद की जिंदगी के न जाने कितने लमहे याद आ गये जो उसकी बेवकूफियों से भरे पड़े थे ।

मां ठाकुरजी पूजती थीं और वह मिशन स्कूल में पढ़ने जाती थी । कितनी बार स्कूल में कहानियां सुनते-सुनते उसके मन में यह इच्छा जाग पड़ी थी वह चुपके से ईसा मसीह की भेड़ बन जाये पर अम्मा के डर से वह कभी घर में मुंह नहीं खोल पायी थी । उसे यह सुनकर खुद हैरत होती थी कि ईसू खुदा के बेटे थे फिर भी लोगों ने क्यों उसे चैन से न रहने दिया ? आखिर यह दुनिया इस कदर गुनहगार क्यों है? लोग अच्छी-अच्छी बातें सीख कर स्वर्ग में क्यों नहीं चले जाते । घण्टों खूब सोचने के बाद भी उसकी समझ में न आता कि पाप क्या होता है ? लोग क्यों करते हैं पाप?

एक दिन वह एकाएक बेखलक ड्राइंग रूम में चली गयी । वहां निर्मल उसकी चचेरी बड़ी बहन नीरू को घेरे खड़ा था । उसके घुसते ही नीरू तो भाग कर दूसरे कमरे में चली गयी, लेकिन निर्मल ने उसका हाथ पकड़ लिया:

"कहोगी तो नहीं ममता? बोलो?"

वह चुप थी और निर्मल उसे अपने बहुत पास घसीटकर कह रहा था: "बोलो मेरी कसम, तुम्हें मेरी कसम है बोलो कहोगी तो नहीं किसी से ।"

निर्मल से सट कर खड़े होते हुए कैसी खीझ आयी थी ममता को । बौखलाहट में वह हाथ छुड़ा कर भाग निकली थी । फिर नीरू से आंखें मिलाने की उसकी भी हिम्मत न हुई । उसके जी





अनुक्रमणिका





में न जाने क्या-क्या आया था और वह सोचने लगी थी: ईसू की मां क्वांरी थी और उसका दिल अजीब तरह के विचारों से भर गया था। वह उस समय समझ न पायी थी कि क्या था? उसके मन में ऐसे विचार की बुनियाद उन दिनों पड़नी शुरू हो गयी थी जब उसके मास्टर साहब घर पर पढ़ाने आते थे। मास्टर की सूरत से ही उसे नफरत थी। वह उनकी लाल क्रोध भरी आंखों से उसके मन के विचार पुख्ता हो गये थे। वह मास्टर साहब को तीखी निगाह से देखती थी और ठाकुर जी की मूर्ति के आगे खड़े होकर घण्टों मास्टर के मर जाने की प्रार्थना करती रहती थी। मास्टर साहब उसे झेलम, चिनाव, रावी, सतलज, व्यास जैसे नाम रटाते थे और नदियों के नाम उसे कभी याद नहीं हुए।

आज उसे अपनी उस खीझ और घृणा पर, उन नदियों के नामपर हँसी आ सकती है लेकिन मास्टर साहब की सूरत याद कर अभी भी उसे बुखार चढ़ने लगता है। गजब तो यह था कि उसके तमाम शर्मनाक राज की टोह में उसकी चचेरी बहिनें लगी रहती थीं। वह हमेशा उससे दूर रहना चाहती थी। उनकी हिकारत से बचना चाहती थी। अपने बाप की दुलारी बेटी थी पर अपने दुःखों में अपने आप ही घुला करती थी। लेकिन यह उम्र का अपना तगादा था वह अन्दर से जितना जलती रही उसके शरीर पर वैसे ही गोश्त थुपता चला गया।

उसका भागना-दौड़ना कम हो गया था। हवा उसके शरीर से लड़ती उसे नोचती मालूम होती थी। शरीर के अंग-अंग से टीसन छूटती थी पिंडलियों से ऐंठन होती थी। लेकिन इन सारी आपा-धापी के बाद भी उसके मन में नफरत और हिकारत के कुंदे जला करते थे। उसे सकून नहीं था। ऐसा नहीं था कि वह इन सारे परिवर्तनों से परिचित थी। सब कुछ उसकी समझदारी में होता था। एक ऐंठन थी जो उसके मन को खींचा करती थी। एक जिद थी जिसके दवाव में वह काम करती थी। हर समय उसकी नाक पर सुपाड़ी फूटती थी। उसे लगता था जैसे आस-पास के हर लोग उसका मजाक उड़ा रहे हैं। अपनी हम उम्र की लड़कियों से वह हमेशा बचकर रहती थी और उनका साथ न देने उनसे वगलिया जाने के लिए एक बार जबकि रस्सी कूदने का कम्पीटीशन चल रहा था तो उसने बहाना बनाने के लिए अपने पैर के तलुवे ब्लेड से काट लिये थे। और बड़ी देर तक कामयाबी से मुस्कराती रही।

न जाने मां-बाप ने उसमें ऐसा क्या देखा था कि उन्होंने उसका नाम ममता रख दिया। और वह उस नाम को हर तरीके से बेमानी करने पर जैसे तुल बैठी थी। कालेज में वह सबसे सीधे लड़के को छांट लेती और उसे इस तरह देखती कि वह लड़का सिटपिटा जाता। बुरी तरह हकला कर अपने कपड़े दुरुस्त करने लगता और वह उसे अच्छी तरह सताती और जब वह पसीना-पसीना हो बुरे हाल हो जाता तभी उसे छोड़ती। इस तरह के लड़कों को नीचा दिखाने में उसे मजा आता था और वह उसका आये दिन का काम था।

धीरे-धीरे उसकी चाची की बच्चियों की एक-एक कर शादियां हो गयीं। बाकी बची थी नीरू। उसकी शादी एक दिन जब हो गयी तो ममता के दिल के किसी नामालूम कोने में एक अजीब-सा शक पैदा हुआ। नीरू निर्मल की थी लेकिन निर्मल उसे छोड़ गया था या नीरू निर्मल से ऊब गयी थी क्योंकि उसने प्रकाश से शादी में उज्र नहीं की थी। क्योंकि वह आखिर तक नीरू से इस सवाल का जवाब नहीं पा सकी थी। नीरू अपने बाप की आखिरी संतान थी इसलिए ब्याह औरों से अधिक खुलकर हुआ था कहा यों जाये उन सारे दहेज और औरत की खातिर प्रकाश अपने पैर में बेड़ियां लेकर जा रहा था। नीरू, अल्हड़ नीरू। ममता जानती थी कि एक दिन नीरू इस आदमी की नकेल लेकर इसे घुमायेगी। यह सरकारी अफसर अपने कमरे में चाहे कितने बाबुओं पर धाक जमा ले असल में शासन नीरू का होगा। क्या गाय सींग नहीं मारती? कोल्हू का बैल कब किसी के सीने में सींग मारता है? हल के बैल को कब छुट्टी मिलती है कि वह किसी को तंग करे। लेकिन यह गायें सिवा घास चरने और दूध देने के और क्या कर पाती हैं? तो क्या उसे भी एक दिन----?

और यह प्रश्न उसे फांसी की तरह दिनों-दिन कसता महसूस हो रहा था इसलिए उसने रोमी को पसंद किया था। एक ऐसे आदमी को जिससे उसका मिजाज मिलता था। जो कोल्हू या हल के बैल से भी गया गुजरा था जिंदगी को सपाट बनाये रखने के लिए उसने साफ कह दिया था: 'तुम मेरे हो। मैं तुम्हारी पूजा करूंगी देवता। मेरा सब कुछ तुम्हारे लिये है। लेकिन हम दो से तीन नहीं होना चाहते—।'

रोमी ने इसी शर्त पर शादी की थी कि वह कभी भी यह नहीं सोचेगा कि ममता बेटे वाली क्यों नहीं है। ममता ने तरह-तरह के तर्क देकर रोमी को समझाया था कि उसे बच्चे नहीं चाहिए। रोमी मिट्टी का माधव था ऐसी बात नहीं। पहले तो वह ममता के रूप रंग में गिरफ्त हो गया फिर बाद में उसे सिकंजा कड़ा नजर आया। लेकिन तब तक उसकी आदतें भी पुख्ता हो चुकी थीं। उसे अपने काम से फुरसत ही नहीं थी। बच्चे न होने से उसकी जरूरत महसूस होने का प्रश्न ही नहीं उठा। धीरे-धीरे सात बरस निकल गये और एक दिन!

एक दिन ममता को अजीब तरह का खौफ सवार हो गया। घर में कोई दूसरा-तीसरा होता-कोई सास-ननद होती तो बात ही दूसरी थी।— लेकिन वह बांड़े घर में आयी इसीलिए थी कि जहां उसकी आदतों पर कोई टोकने वाला न हो। जहां वह अपने मियां पर एक-छत्र राज कर सके। और हुआ भी यही था मन चाहा पूरा हो गया था।

फिर छः-सात वर्ष बाद उसे एकाएक ऐसा लगा जैसे वह अधिक सुस्त रहने लगी है हमेशा गिरी-गिरी तबीयत रहती है। कुछ खाया-पिया नहीं जाता। धीरे-धीरे पतली महसूस होती





है । जब एक - आध बार उसे उल्टी होनी शुरू हुई तो रोमी उसे डाक्टर के पास ले गया । डाक्टर ने उसे इक्जामिन किया और मुस्कराता रहा। पर्चा लिखते-लिखते बोला: 'तुमने लेडी डाक्टर को कन्सल्ट नहीं किया ।'

ममता का जी खटक गया । ममता की जगह कोई दूसरी औरत होती तो शायद डाक्टर के यहां से उसे जाने की नौबत ही न आती ।

लौटते हुए उसका मन बार-बार पैर पटकने को होता था । उसका अंतर एक अनहोने भय से जकड़ गया था । जैसे वह अंदर ही अंदर चीख रही थी –: "पैर भारी हैं। पैर भारी हैं।"

घर जाकर उसने कई-कई सीढ़ियां फांदी । भर भर बाल्टी पानी ऊपर - नीचे फेंका और सोचती रही शायद ऐसा करने से पेट घुल जायेगा । पैर हल्के हो जायेंगे । वह जब भी जरा सा अकेली रहती कि उसके मन में अजीब अजीब तरह के भूत नाचने लगते । वह अयोग्य है । वह बच्चा नहीं पाल सकती । उसे बच्चा नहीं होना चाहिए । कभी खुद उसके हाथ उसकी गर्दन को कसकर दबोचते और तब तक दबोचे रहते जब तक उल्लू न चढ़ जाता । खांसी न आ जाती ।

मारे दहशत के वह कांपने लगती । वह चाहती की रोमी पास हो और वह उसे अपने दोनों बाजुओं में भर ले और उसके सीने में अपने चेहरे को छुपाकर रहे: 'मुझे खुद में जज्ब कर लो-- छुपा लो । यहां से कोई ऐसी जगह भाग चलो जहां मुझे डर न लगे । ऐसी जगह जहां अंधेरा न हो । जहां पड़ोस में किसी के बच्चा न हो ।'

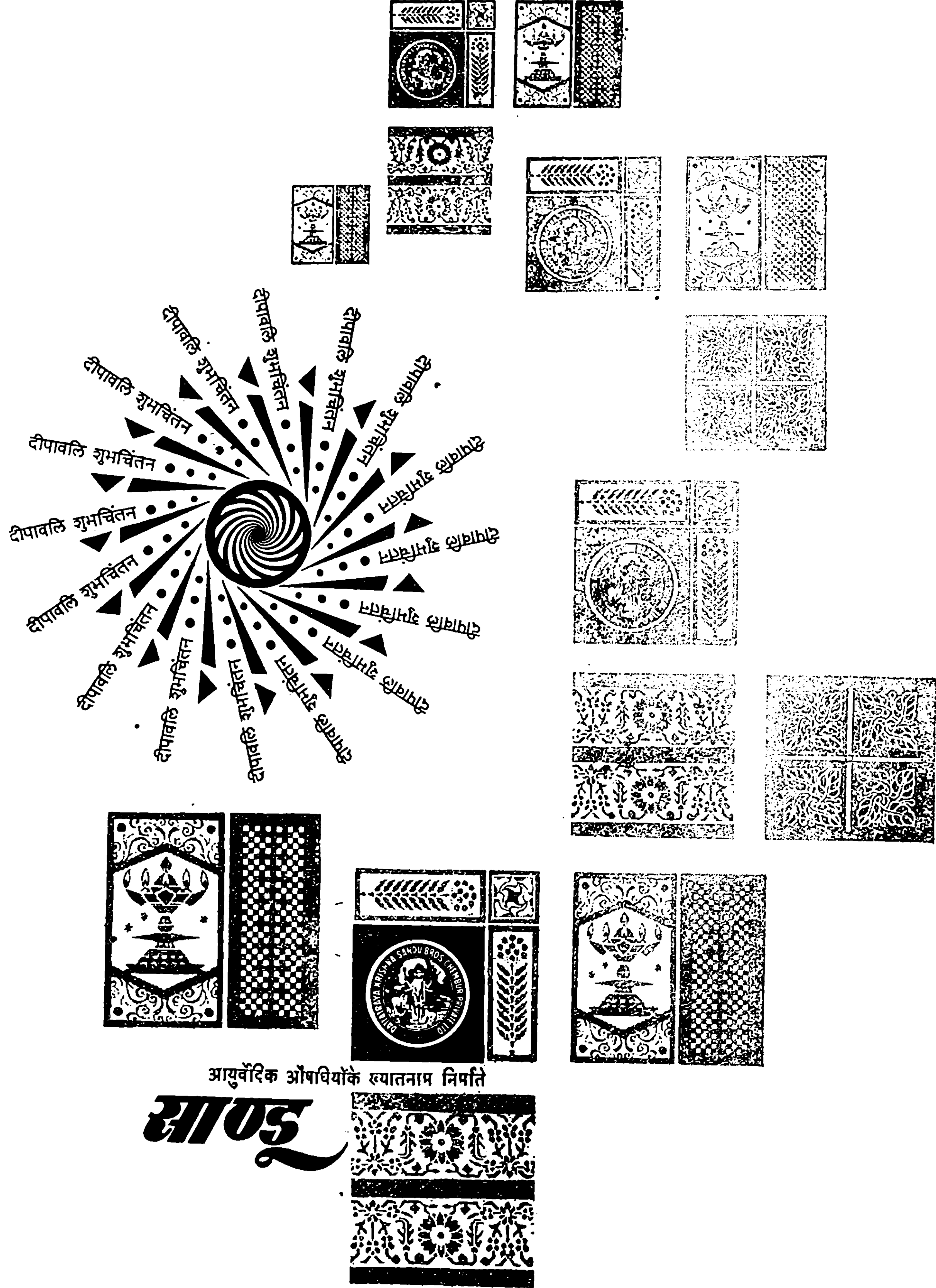
कितनी बार वह इसी तरह रोमी से लिपट कर रोई थी और जब काफी देर तक रोमी उसे थपथपाता रहता वादे करता तो वह कठिनाई से शांत हो पाती । उसे क्या मालूम था रोमी के वादे झूठे थे या सच्चे । पर रोमी उसे कह ज़रूर जाता था कि वह किसी डाक्टर से सलाह ले रहा है और शीघ्र ही ऐसी दवा लायेगा कि उसका पेट घुल जायेगा । पैर हल्के हो जायेंगे । रोमी ने दो बार लाकर दवा भी दी थी । सफेद कड़वे पावडर लाल-पीली, नन्हीं-नन्हीं गोलियां और उन्हें खाकर ममता रात-रात भर आसरे में बैठी सोचती रहती ।

उसे लगता घुटने में लिटाकर बच्चों को थपथपाना भी एक कला है। यह काम एक ऐसी मशीन का है जो एक बंधे अंदाज में इस तरह चलती रहती है कि बच्चे का सर झटका न खाये सिर्फ झूमता रहे। एक निहायत बारीक लहज़े में बेमानी आवाजें उसके मुंहसे लोरियां बनकर निकलतीं रहें । बच्चों की नींद जागना बच्चों की नींद सोने में कोई बुराई नहीं थी । बुराई तो इस बात में थी कि वह गोद में कैसे लेगी बच्चा । उस मांस के लोथड़े को छूते हुए उसे किस कदर घिन आयेगी और घिन की बात सोचते ही उसके कलेजे में सांप तड़फड़ाने लगता

वह बेलाग सोचती चली जाती बच्चा हुआ और उसका रंग गंदला हुआ सूरत खराब हुई तो वह क्या करेगी किसको मुंह दिखायेगी ।

कितनी ही बार उसके दिल में ख्याल आता हिन्दुस्तान में बच्चे पैदा होते ही चिड़ियों के बच्चों की तरह मर जाते हैं । तो फिर उनके होने से फायदा क्या है? कहीं उसका बच्चा---। नहीं इसलिए बच्चा होना ही नहीं चाहिए। और फिर उसे बचपन की याद आती उस बचपन की जब उसने ईसू के जन्म की कहानियां सुनी थीं । कुमारी मरियम के दुःख को सुनकर उसका पेट ऐंठने लगा था और कभी उसने यह भी तो सोचा था कि वह गाय का बछड़ा अगर अपनी मां के पेट में समा जाये और उसकी मां अपनी मां के पेट में चली जाये तो क्या हो? क्या ऐसा नहीं हो सकता?

इस तरह बच्चा पैदा करने का विचर-पिचर काम उसे पसंद नहीं आया था और चूंकि उसके पापा बड़े नेक ख्याल के आदमी थे उसने खुद अपने शौहर से बात करने की और उसे पसंद करने की बात मंजूर करा ली थी । बात कभी कुछ ऐसी ही बन गयी थी । रोमी को क्या मालूम था कि ममता इस तरह के सवाल क्यों पूछती-गुनती है? जब ममता उससे ऐसे सवाल पूछती थी तो वह कुछ समझ नहीं पाता था। दुनिया और दुनियादारी से वह एकदम ना वाकिफ था और बच्चे के सवाल के लिए वह खुद भी बच्चा था । और ममता भी कौन दूध की धोयी न थी । वह यों खुलकर सीधे-सीध थोड़ी कुछ कहती थी । केवल टोह लगाती थी कि रोमी से उसकी कितनी पट सकती है ।



अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

लेकिन सात साल वाद रोमी ममता की जिद से मजबूर हो गया तो उसे हार कर डाक्टर की सलाह लेनी पड़ी। डाक्टर ने उसे समझा दिया था—वेकार डरने की वात नहीं है यह दवा दो समय, पीकर सव ठीक हो जायेगा। लेकिन देखना गलत काम मत कर वैठना समझे, वरना औरत से हाथ धोना पड़ेगा। रोमी के प्लान की भनक ममता को कभी मालूम नहीं हो सकी। लेकिन उसकी परेशानी वढ़ती ही गयी। रोमी अगर घर पर किसी को रखने की वात करता तो ममता और विगड़ती: 'क्या होगा, मेरी खिल्ली उड़ाना चाहते हो। उस समय तो मैं ठीक से वात भी नहीं कर सकूंगी। भला वताओ तो हम लोग किसी के सामने रह सकते हैं? कम से कम मैं तो किसी के घर में रहते हुए कैसे तुम्हारे पास आऊंगी?' और वह वात रोमी से करती जा रही थी और उसका पेट खौल रहा था। उसे लगता था यह क्या हुआ। क्या उसकी वात ईश्वर ने मंजूर कर ली है। उसके पेट में पत्थर के डले की तरह कुछ डोल रहा था। क्या उसका वच्चा पेट में ही मर गया? जो ऐसी हिलोरी, ऐसी खौलन हो रही है। अपने मन के इस भय को वह रोमी से वता नहीं सकी लेकिन बात करते-करते उसने एक वारगी ही रोमी को झपट कर कस लिया और चीख कर रो पड़ी। उसका दायां हाथ पेट पर था और वह कुछ सुवके ही जा रही थी।

रोमी भागा हुआ उसे लेडी डाक्टर सामन्त के पास ले गया। डाक्टर मरीज की इस तरह की हालत से स्वयं परेशान हो उठी थी। पहले तो वह समझ ही नहीं पायी थी कि क्या वात है और काफी देर तक इक्जामिन करने के वाद सभी हंसने लगे थे: 'तूने तो मेरे हाथ पैर ठंडे कर दिये थे। अपने पेशे के इतने, लम्बे अर्से में ऐसी नर्वस लड़की मैंने पहली वार देखी है। अरी पगली यह तो वच्चे की हरकत है—मैं तो कहूं क्या आफत हो गयी।'

और कितना सच था आज से कभी पहले वह सोच ही नहीं सकती थी कि पेट में वच्चे हरकत करते हैं। उसे तो यही अंदाज था कि पैदा होने के पहले वे पत्थर की गोट की तरह पेट में पलते रहते हैं। उनकी सारी हरकत और सारी परेशानी पैदा होने के वाद शुरू होती है। फिर लगातार कितने दिनों तक वह पेट में वच्चों के डोलने का आसरा देखती। तनिक सा हिलने से ही उसके शरीर में एक डोर वनती और उसे अनुभव होता यह भारी हिस्सा वच्चे का सिर है। वह इधर से यूं छटक कर उधर चला गया। कभी-कभी वह उलटते-पलटते इस तरह ठंस जाता कि ममता के लिए सांस लेना दूभर हो जाता पर इस कठिनाई के वीच, इस अवासांसी में फंसे हुए भी उसे हंसी आती और वह अधिकाधिक उस मांस-पिंड को जानने समझने के लिए उतावली हो जाती: क्या हो रहा है उसके भीतर। कैसे हो रहा है वह सब।

अभी तक उसने वच्चे के लिए एक चिकट कपड़ा या मोजा विस्तर नहीं जुटाया था। उसने तो रोमी से वादा किर लिया था कि ठीक है यदि वच्चा पैदा कर लेने से ही मां का फर्ज पूरा हो जाता है तो वह उसे करेगी। पर वह वच्चे के साथ कभी रहेगी नहीं उसे किसी जच्चा खाने में जमा कर देगी। इस तरह का सारा सुझाव रोमी की ही तरफ से आया था। उसने भर कोशिश तो की पर वे उसे मिटा नहीं सके थे। लाजमी था कि वच्चे के हो जाने तक वह चुप वैठ जाती। लेकिन ममता जानती थी पास-पड़ौस में यह वात आग की तरह फैली थी और लोग किस तरह उसे बुरा-भला कहकर अपने गुव्वार निकालते थे। वैसे मुंह पर कहने की किसी की हिम्मत नहीं थी लेकिन पीठ पीछे ममता या रोमी किसी का मुंह नहीं पकड़ सकते थे। उनका कहना सच भी था। वे तो यही जानते थे कि अपने स्वार्थवश ये लोग वच्चे के सम्वन्ध में इस तरह से उदासीन हैं। उसके ऊपर पैसे नहीं खर्च करना चाहते और कहीं-कहीं पर लोग रोमी से पूछ उठते थे: 'सच बताना। वह तुम्हारा नहीं है।'

ममता के कलेजे में ये वातें तीर की तरह धंसती थीं पर वह सवको जवाव देने की कायल नहीं थी। सातवें आठवें महीने में वह वहुत ही खुश थी और उसे ऐसा लगता था कि उसका सोचना गलत था। उसका भय गलत था। नौवां महीना भी गुजर गया और वच्चा पैदा होने के कोई आसार ही नजर न आए। वह अब रेगुलर चेकअप के लिए अस्पताल जाने लगी थी। डाक्टर ने सीधे से समझा दिया था: 'अभी वच्चा बहुत छोटा है। अभी समय लगेगा।' और शायद वह पहला दिन था कि उसका दिल जैसे अपने वच्चे के लिए फट पड़ना चाहता था। ममता के दिल में जो ममत्व के शोले भड़के थे वे सारे उसे बुरी तरह दहका गये थे। उसके लिए यह सारा अनुभव एक नये ढंग का था। आज पाइन्स के नीचे पड़े-पड़े उसके मन में उन सारी बातों की पुनरावृत्ति हो रही थी। वह डर जो उसके कलेजे में समाया

था जिसने ममता के सारे स्रोतों पर बांध लगा दिया था। उसकी छाती में कैसे-कैसे उफान आते थे और कैसी कुलबुलाहट होती थी। ऐसा लगता था छाती पर के मांस पिंडों के आवृत्त बढ़ते-बढ़ते फट जायगे। उनके भीतर रस की उद्दाम लहरें टक्कर खा रही हैं। सांत्वना के लिए वह अपनी गदेलियों को उनपर रख लेती और मन मचल पड़ता।

उस रात जब दर्द में चीखते हुए वह बेहोश हो गयी थी तो उसे आश्चर्य होता था कि वह कैसे जीवित है। रोते-रोते उसने अपने बाल नोच डाले थे। सिर के नीचे की तकिया में उसके नाखून गड़ गये थे और हर दम वह चाहती थी कि दर्द और बढ़ता जाये —बढ़ता जाये। बरदाश्त करने की बला की ताकत उसमें कहां से आ गयी थी। ममता! वह ममता जो नन्हीं सी फांस अपनी अंगुली में नहीं बर्दाश्त कर पाती थी उस दर्द को सह कर भी जीवित थी और जब उसने आंख खोली तो एक नर्स सफेद मुलायम कपड़े में लपेटे एक बच्चे को उसके आगे किये खड़ी थी।

पिछले सप्ताह जो उफान उसके मन को छू गया था वह सब जहां का तहां काफूर हो गया। लाख चेष्टा के बाद भी वह उन नजरों से बच्चे को नहीं देख सकी पिछले दिनों उसे मिल गयी थी। उसने उड़ती हुई नजर से देखा और सर घुमा लिया। उसकी आंखों में गुनाह की खुमारी थी। एक अवांछित जीव को उसने जन्म दिया था जिसे पैदा होने से पहले मेंट देने के लिए उसने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी थी फिर भी वह पैदा हो कर ही रहा। वह जितने पंद्रह-बीस दिन अस्पताल में रही, रोते-रोते ही दिन काटे। वह शर्म से मर जाना चाहती थी। रोज रात को सोचती थी कि कल सुबह का मुंह वह नहीं देखेगी पर फिर दिन निकल आता था और सड़ते हुए घाव की तरह वह जीवित थी।

फिर जैसे-जैसे दिन बीतता गया वह समय भी नजदीक आने लगा जब बच्चा बच्चाखाने में छोड़कर वह उससे मुक्ति पा जायेगी। यहीं से उसकी जिंदगी का नया मोड़ शुरू हो गया था।

रोमी अक्सर अस्पताल में मिलने आता था। वह रोमी को दिखाने के लिए और भी बहुत से रूप भरती थी पर उसके दिल के एक कोने में जो नया संसार बन रहा था वह अनोखा था। पता नहीं क्यों सोते-सोते खट से उसकी आंख खुल जाती थी और अनायास ही उसका हाथ बच्चे को छूने-सहलाने के लिए मचलने लगता था। वह उठकर बच्चे के पालने के पास खड़ी हो जाती थी और उसे देखने से अपने को न रोक पाती थी।

पाइन्स के पेड़ के नीचे पड़ी पड़ी सोच रही थी वह किस बुरी तरह अपने मन में बच्चे के प्रति वे सारे संवेग फिर से पैदा कर लेना चाहती थी जो उसके पैदा होने के समय आये थे। लेकिन लाख चेष्टा के बावजूद वह उन सारे संवेग और ममता के लिए बांझ बन चुकी थी। यह उसकी सबसे बड़ी हार थी। एक पाक मुहब्बत के लिए नाकाबिल थी। उसका मन अनशेल-फिश लव के अयोग्य ही हो गया है। वह बच्चे को जच्चा खाने में नहीं रहने देगी। रोमी से कहकर उसने मां को बुलवा लिया।

एक दिन मां उसको अपने पैरों पर लिटा तेल लगा रही थी। वह बिस्तर पर पड़ी यह सब देख रही थी कि एकाएक उसका मन चीत्कार कर उठा। ऐसा लगा जैसे कहीं खुरदुरे पैरों पर पड़े हुए बच्चे की रीढ़ टूट जायेगी और उसके सीने में जो ऐंठन हुई जो बगावत हुई उसे लगा उसके मन में दूध की मीनार खड़ी हो गयी है। अपने शरीर की रक्षा के लिए उसने बच्चे को कभी छाती से नहीं लगाया था और आज वह उसके लिए परवस हो उठी थी।

उसने झपट कर बच्चे को मां के हाथों से ले लिया था और सोरशाम और लिहाज को दरकिनार कर उसने बच्चे को छाती से लगा लिया था। उसे लग रहा था जैसे बच्चे के शरीर की बिजली उसमें समाती चली जाती है, चली जा रही है।

और आज वह पेड़ के नीचे पड़ी सोच रही थी ऐसा क्यों हुआ था और मन उसे खींच कर उन दिनों में ले गया जब उसकी छोटी बहन पैदा हुई थी। उसके कानों में पापा की आवाज जोर से सुनायी पड़ रही थी! मेमो बेटे...मेमो बेटे। उसके पापा ने कभी उसे लड़की नहीं समझा। आठ-दस वर्ष तक वह कोट-पैंट पहनती रही। हमेशा लड़कों की तरह उसने व्यवहार किया और जब उसकी बहन पैदा हुई तो मां उसे अलग रखती थी छूने ही नहीं देती थी। वह उसकी तरह नहीं पली थी। सच्चे माने में वह लड़की थी सही लड़की।

और जब वह उसके बच्चे को नहला रही थी, तेल लगा रही थी तो ममता को अपनी बहन की याद आ गयी। उसके साथ भी तो वैसे ही पेश आती थी मां। एक दिन नहीं कितने दिनों तक वह मां को बहन के तेल लगाते देखती रहती। टुकर टुकर ताकने और खिजलाने के सिवा और कोई चारा नहीं था। उसे इजाजत नहीं थी कि वह बहन के हाथ लगा सके उसे छू सके सहला सके। फिर ममता उसे भूल गयी, बच्ची की याद उसे न आयी। वे भूली हुई घटनाएं उस दिन एकाएक सजीव हो उठी थीं! वह नफरत उसे अपने बच्चे के प्रति क्यों थी और वह अपने मन को अपनी अतृप्त इच्छा को समझने की चेष्टा कर रही थी। आज बबलू सात साल का था और उसके दो-तीन महीने का पेट आ गया था।

वह हताश थकी-थकी पाइन्स के पेड़ के नीचे पड़ी थी और उसके मन में कोई गम नहीं था कोई भय नहीं था। वह उस पहाड़ी और घाटी के बीच एक बच्चे को ठमक-ठमक चलते नहीं देख रही थी बल्कि बबलू एक पूरा आदमी बना उसे खड़ा दिख रहा था। जिसे देखने पाने और प्यार करने के लिए उसका दिल तड़प रहा था। ● ● ●

अनुक्रमणिका

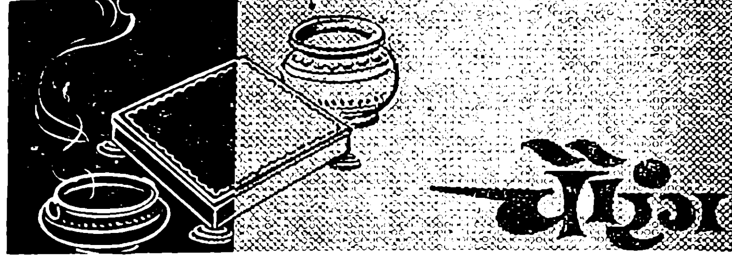


राज्य मराठी विकास संस्थेद्वारे संगणकीकृत



दीनानाथ दलाल मेमोरिअल ट्रस्ट

-दत्ता कदम



पूना शहर के शनिवार वाडे में हुकूमत थी जबकि शुक्रवार वाडे में इश्क की महफिल । शनिवार वाडे की कीर्ति पर मात करता हुआ शुक्रवार वाडा बड़ी ऐंठ के साथ खड़ा था। दिन-ब-दिन शुक्रवार वाडे पर शनिवार वाडे की फतेह हो रही थी ।

समय का फेर है सब ! विधिलिखित कौन मिटा सकता है! ना उसे शनिवार वाडा मिटा सकता था, ना शुक्रवार वाडा! बड़े महाराजा से लेकर उनके सब सरदारों ने भी महाराष्ट्र धर्म की इज्जत बचाने की कोशिश की थी— किन्तु समय के फेर के सामने कौन भला टिक सकता है !

शुक्रवार वाडे की पांच मंजिले मानों इश्कबाजी के पंचतत्व थे और उन पंच-तत्वों के सूत्रधार रसीले, रंगीले, रावबाजी पेशवा थे ।

संगमरमर के कलापूर्ण पत्थरों से शुक्रवार वाडा सजा हुआ था। दीवारों पर दस्तकारी हीरे-मोतियों की बेल-पत्तियों से बनी हुई थी। दर्वाजों की चौखटों पर हाथी-दांत के फूल लगे हुए थे । रंगीन झाड़-फानूस सोने की साँकलों से टँगे हुए थे । इश्क की महफिल में रंग के साथ खुशबू भी शामिल थी । अगर कोई भूला-भटका सन्यासी शुक्रवार वाडे की सजावट और वातावरण को देख ले तो वह भी अपना सन्यास-धर्म छोड़कर उपभोग-वादी बन जाए । शुक्रवार वाडे का सिर्फ एक ही महल आइने महल नहीं था, वह सारा वाडा ही आइने वाडा था । रावबाजी पेशवा का वह एक सुहाना सपना था...मानों मदालसा का उन्नत वक्षस्थल...

वीरता से उनका कोई नाता-रिश्ता नहीं था मगर शृंगार-शास्त्र में आप बड़े निपुण थे । शृंगार का मंत्र ही नहीं तंत्र भी आप पूरी तरह से जानते थे । शृंगार-शास्त्र में उन्हें हरानेवाला आज तक कोई पैदा ही नहीं हुआ था । ईश्वर ने उन्हें खूबसूरती दोनों हाथों से प्रदान की थी । सारी उम्र रावबाजी सिर्फ एक ही विचार में मग्न रहे..इश्क.. इश्क.. और इश्क...भोग...सिर्फ भोग । रावबाजी साम्राज्य की कल्पना जरूर कर सकते थे लेकिन वह साम्राज्य इश्क का था, शृंगार का था। कहते हैं कि सम्राट सिकंदर के वास्ते जीतने के लिये जब कोई भूमि बाकी नहीं बची, तो वे रो पड़े थे । शृंगार का, उपभोग का कोई नया रास्ता अब बाकी बचा नहीं है, यह सोचकर रावबाजी ने भी एक बार अपने आंसू बहाये थे ।

शुक्रवार वाडे के 'चम्पक-महल' में राव-बाजी अकेले खड़े थे । उनकी खूबसूरती छतों के आइनों में प्रतिबिंबित हो रही थी। अपने रूप का, रसिकता से आस्वाद लेने की उन्हें आदत थी । होंठों में ही मुस्कुराते हुए उनका मन मचल उठा । वे कुछ सहम से गये। घबराहट, तूफान की तरह टेढ़ी-तिरछी होकर उनकी आंखों में दिखाई देने लगी । नौजवान रावबाजी को आज आइने ने धोखा दिया था । अपनी खुद की खूबसूरत छवि की जगह उन्होंने एक बूढ़े की छवि देखी थी। कमर झुकी हुई, झुर्रियों से भरी हुई चमड़ी, सिर के बाल सफेद, दाँत लापता ! हाय रे मेरी तकदीर! मेरी यह सारी खूबसूरती कहां गई और उसकी जगह इस बूढ़े ने कैसे ले ली!

बूढ़े को देखते ही रावबाजी बेहोश से हो गय । होश आने पर उन्होंने फिर एक बार आइने में देखा ! अरे ! अभी तक वह बूढ़ा आइने में ही खड़ा था । रावबाजी ने आंखें मूंद लीं, कानों पर हाथ रख दिये । तो भी बूढ़े की आवाज उनके कानों में घुस कर ही रही—"क्यों बाजी मुझे पहचानते हो न ?"

जब फिरसे वह सवाल सुनाई दिया तो उन्होंने जरा होश संभाला और अपने आप में खो-से गये । —शुक्रवार वाडे में रख-वाली का इतना खासा इन्तजाम होते हुए भी यह बूढ़ा भला कैसे भीतर महल में आ पाया !

"निकल जाओ तुम यहाँ से," रावबाजी गुस्से में चिल्ला उठा ।

उनका चिल्लाना सुनकर आइने का बूढ़ा हंस पड़ा । उस बूढ़े के हंसने की प्रति-ध्वनि शुक्रवार वाडे के कोने में भर गई । रावबाजी उसकी हँसी बरदाश्त नहीं कर सके । उन्होंने अपना सिर दोनों हाथों से दबाया और आँखें मूंद लीं ।

अब शांतता छा गई । रावबाजी ने आंखें खोलकर चारों तरफ देखा । दीवारों के, छतों के आइनों में अब वही रसीले राव-बाजी दिखाई देते थे । बूढ़ा न जाने कहाँ गायब हो गया था । अब उन्हें तसल्ली हुई और वे दीवानखाने की ओर चल पड़े ।

बैठे बैठे रावबाजी अपने अभूतपूर्व अनुभव का विचार करते थे । इतने में नौकर ने आकर कहा—

"हुजूर! खाना तैयार है ।"

खाना खाने के लिये रावबाजी उठ ही रहे थे कि सरदार दीपकपंत राजवाड और राज्यके मुनीम सदाशिव माणकेश्वर





अनुक्रमणिका

शुक्रवार वाडा सारा आइने वाडा था....
उसके पाँच मंजिले इश्कबाजी के पंचतत्व थे
और
उन पंचतत्वों के सूत्रधार थे
रसीले, रंगीले राघबाजी पेशवा !



वहाँ आ पहुँचे।

"आओ, आओ।"

"सलाम सरकार !"

"तुम दोनों आ गये ! चलो ठीक हुआ ! न जाने क्यों आज, कुछ बेचैनी सी महसूस हो रही है !"

"क्यों ? क्या हुआ हुजूर?" दीपकपंत राजवाडे ने पूछा ।

राघबाजी हँस पड़े और तुरंत ही चुप हो गये । फिर हँसकर वे बोल उठे—

"दीपकपंत, हम शुक्रवार वाडे की इश्कबाजी का विचार कर रहे थे, इतने में दीवारों के आइनोंमें अपनी शक्ल, सूरत हमें बूढ़ी दिखाई दी!...."

"छीः छीः सरकार! इन बातों का ख्याल न कीजिये सरकार! इश्क के राजा को इश्क के राजा के समान ही रहना चाहिये! आप जैसे शौकीन, रसीले, रंगीले आदमीको बुढ़ापे का ख्याल भी नहीं करना चाहिये । इस दुनिया में, हमारे हाथों, वह ईश्वर ही सारे काम करवा लेता है। उसकी इच्छा में बुरी बात हो ही नहीं सकती। सरकार वे सारी बातें बेकार समझकर अपने दिलसे हटा दीजिये।"

"ठीक ही सलाह दी दीपकपंत तुमने। अब हमारे दिल को ज़रा तसल्ली हो गयी ! सारी चिंता मिट गई ! क्यों मुनीमजी, राज्य में सब ठीक तो है ?"

"ठीक ही समझिये सरकार"....

"बहुत अच्छे!"

"सभी किलों के खर्चे कम कर डाले हैं। अब पूरा इन्तजाम नये ढँग से होगा!" सदाशिव माणकेश्वर ने कहा। "खूब कही" आखिर आप पहिले जमानेके प्रसिद्ध कीर्तनकार ठहरे! आपकी कल्पनाएं हमें पसंद आयेंगी । चलिये, हमलोग खाना खाने बैठ जाएँ ..."

उन तीनोंके भोजन की व्यवस्था हो गई । राघबाजीको सोने की थाली में खाना परोसा गया । दोनों को चाँदीकी थालियाँ दी गई ! तीनों थालियां तीन सागौनी चौरंगोंपर रखी गई। चाँदीके लोटों में सुगंधी पानी रखा था । दस बारह शाक-सब्जियाँ, चटनी, अचार और मेवा मिठाइयों से थालियाँ भरी हुई थीं ।

भोजन शुरू हुआ। अपनी चारों उंगलियों में मठ्ठा लेकर राघबाजी ने बड़ी जल्दीसे मुंहमें डालना शुरू किया ।

दीपकपंत राजवाडे ने भी वैसा करने की कोशिश की किंतु वे असफल रहे। राघबाजी सरदार राजवाडे की ओर देख कर हँस पड़े, और बोले,

"अरे भाई, दही, मठ्ठा, ऐसा खाना पड़ता है...हर चीज का स्वाद ठीक ढंग से लेना पड़ता है–तभी मजा आता है।"

दीपकपंत राजवाडे अब होशियारी से मठ्ठा खाने लगे ।

"सरकार आपकी मातहती में ही हमलोग हरेक काम में होशियार बने हुए हैं । आपकी कृपा से ही हरेक चीज का पूरी तरह से स्वाद लेना हमने सीख लिया..सचमुच हम आपके ऋणी हैं !" दीपकपंत राजवाडे ने मुस्कुराके माणकेश्वर की ओर देखा ।

"ठीक तो है ! आपने हमारे मन की बात कह डाली, इसमें क्या संदेह ?" माणकेश्वरजी बोले ।

राघबाजी बड़े रोब से हँस पड़े और उन्होंने फिर मठ्ठा मुंहमें डाला ।

"सच सरकार, इस दुनिया में कौन कैसा स्वाद लेता है, कौन कैसा...."

"क्या कहा दीपकपंत?"

"स्वाद लेने का एक अनोखा तरीका

अनुक्रमणिका

मैंने अंग्रेजोंमें देखा।"

"कैसा तरीका?"

"उस बात की याद आते ही हम अपन मन में खुश हो जाते हैं! दांव पेंच लड़ाने के लिये एकबार आपने अंग्रेजों के पास भेजा था...याद है न आपको?"

"हाँ, हाँ, पूरी तरह याद है। अब कह डालो। वहाँ क्या बात हुई, आपने क्या-क्या देखा।"

"सरकार, इश्कका मजा लूटनेवाला अगर इस दुनिया में कोई हो तो वह एक अंग्रेज ही हो सकता है।"

"जल्दी कह डालो दीपकपंत! हमें क्यों बेकार तड़पा रहे हो?"

"सरकार, अंग्रेज आदमी औरतों की कमरोंमें हाथ डाले उनके साथ नाचा करते हैं... आमतौर पर...।"

"सच? और क्या-क्या करते हैं अंग्रेज?"

"और? सब लोगों के सामने उसका ...उसका चुंबन भी ले सकते हैं..."

"ये बातें सुनकर हमारा कलेजा धड़क रहा है दीपकपंत! कितने बदनसीब हैं हम! हम अंग्रेज क्यों नहीं बने?..हम हिंदुस्तान में क्यों पैदा हुये?"

"जन्म लेने की बात हम लोगों के हाथों में थोड़े ही होती है? जनम लेने के बाद हम लोग जो कर्त्तव्य करते हैं वह तो हमारे हाथों में ही है सरकार! निराश होने का कोई कारण नहीं है! अगर आप ...अगर आप निराश होंगे तो हम लोगों पर कौन मेहरबान होगा?"

"हमारा मन फूल गया दीपकपंत! पता नहीं हमने क्या गुनाह किये थे। सब एक ही ईश्वर के बच्चे हैं! हम और अंग्रेज! उसी ईश्वर ने अंग्रेजोंके लिये और हिंदुओंके लिये अलग-अलग रिवाज बनवा डाले!"

"आप व्यर्थ की बातें न कीजिये सरकार! हमारा ईश्वर कहाँ का पवित्र था? हम सारे उसी का अनुकरण कर रहे है! जनम लेने के बाद जो कुछ करना, धरना है वह तो मानव के हाथोंमें है! सचमुच सरकार!, अंग्रेजोंसे हमें बहुत कुछ सीखना है....."

"जरूर जरूर" माणकेश्वरजी बोल पड़े।

"दीपकपंत तुम बड़े भाग्यवान हो! अंग्रेजोंकी सब अच्छी अच्छी बातें तुमने देख ली हैं....दीपकपंत, माणकेश्वर, शृंगारकी एक अनोखी रीति मेरे दिल में.."

"कौनसी रीति सरकार?" दोनों पूछ बैठे।

"तुम दोनों की सहायता मिल जाये तो ...तो मेरे मन की बात सफल हो सकेगी!"

"हम वादा करते हैं सरकार! हम दोनों जरूर सहायता देंगे!"

रावबाजी खुश होकर बोले,

"सुनता हूँ हमारे सरदारों की बीवियाँ बड़ी खूबसूरत हैं।"

"जी हाँ सरकार! क्या आप उन्हें नाच करने..."

"नाच? यह बात तो असंभव है...रिवाज धीरे धीरे ही टूट सकेंगे...हमारे मनमें दूसरी ही बात.."

"क्या बात है सरकार?"

"सरदारों की बीवियोंको नहाते हुये देखने को हमारी आंखें तरस रही हैं!"

"ओ हो! गजब की बात कही आपने! सरकार, आप बड़े रसीले हैं! आपकी अभिलाषा जल्दी ही पूरी हो जायेगी।" यह बात कहते ही सरदार राजवाडे की आँखोंके सामने अपनी सुंदर धर्मपत्नी की मूर्ति खड़ी हुई और उनका मुंह नीचे झुक गया।

"सरदार, नहाने के लिये यह चंपक-महल ठीक रहेगा! क्यों? एक एक सुंदर औरत, एक एक चौरंग पर बिठाई जाएगी, चंदन की लकड़ीके चौरंग बनवाने पड़ेंगे। चाँदीके घमेलोंमें गरम पानी रखा जायगा साथ साथ लोटा भी चाँदी का होगा! वे सब औरतें अपनी चोलियाँ उतार देंगी... सिर्फ एक महीन कपड़ा उनके बदनपर रहेगा....खूबसूरती की नुमाइश..आहा! हम आँखभर कर यह चित्र देख लेंगे, कलेजेमें ठंडक पहुँचेगी...बड़ी खुशीसे हम हरएक को अपने हाथोंसे जरीकी साड़ी-चोली भेंट करेंगे! ..... ऐसा मज़ा आएगा! वाह! वाह! वाह! क्या बताऊं दीपकपंत! हमारी जिन्दगी सफल हो जाएगी! चुप क्यों हो गये सरदार! आप दोनों की बीवियाँ शुक्रवार वाडे में नहाने आयेंगी या नहीं?"

दोनों चुप हो गये।

उन दोनों के पीछे छिपकर रावबाजीने अपनी वासनापूर्ति के लिये अन्य सरदारोंपर जाल फैलाना शुरू किया! सब सरदारों के दिल दुखी हो गये। रावबाजी का सुंदर सपना टूटने लगा...

सरदार रास्ते को अपनी पत्नी के बारे में पूछा गया। सरदार रास्ते झल्ला उठे। नंगी शमशीर हाथों में लिये, घोड़ेपर सवार हो कर वे शुक्रवार वाडे में आ पहुँचे। रावबाजीके सामने खड़े होकर बोले,

"पेशवाई को नरक में डुबाने की ठान ली है आपने।"

"सरदार रास्ते, आप किसके साथ बात कर रहे हैं? पहले सलाम करो?"

"सलाम? कैसा सलाम, सलाम तो धर्मपालन करनेवाले राजाको किया जाता है आप जैसे स्त्री-लंपट को नहीं! कौड़ी के मोल के सरदार अपनी अपनी बीवियाँ राजा की सेवामें जरूर भेज सकते हैं—उन्हें जागीर का लालच है न? सभी सरदारों को आप लाचार समझ रहे हैं शायद? महाराष्ट्र की सीमा आप नहीं बढ़ा सकते हैं—मैं पूरी तरह जानता हूँ...लेकिन कम से कम धर्मनीति का पालन तो कर सकते हैं?"

रावबाजी डरके मारे काँपने लगे...किंतु वे अपना गुस्सा नहीं रोक सके। वे चिल्लाये—

"सरदार रास्ते, आपकी जागीर आपसे छीनी गई है, समझ लेना!"

"बड़ी खुशी से छीन लीजिये हमारी जागीर! ऐसी जागीर पर हम थूंकते हैं। मेरे चारित्र्य की जागीर आप खत्म नहीं कर सकते।"

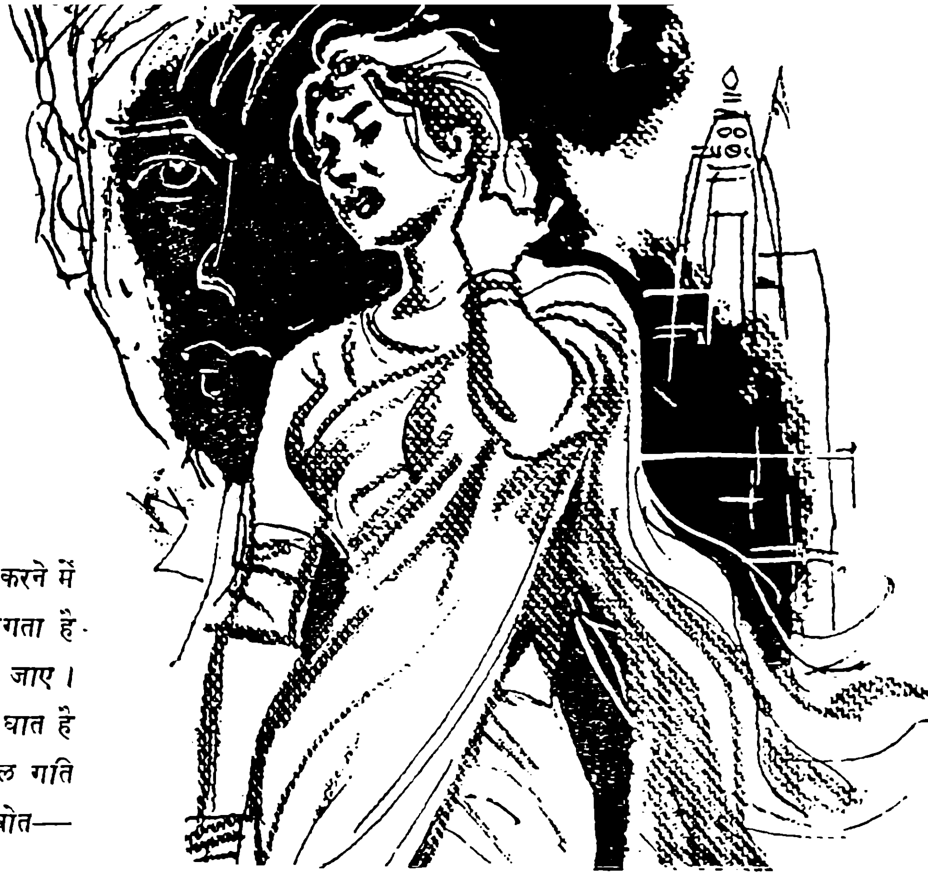
रावबाजी पीछे हटकर चंपकदालान के एक बड़े आइने के सहारे खड़े हुए।

"अगर चंपकदालान में कोई स्त्री नहाने बैठी तो समझ लेना कि ऐसा राजा होने पर मन्हाटों में एकता की भावना उत्पन्न होना सर्वथा असंभव है!" सरदार रास्ते शुक्रवार वाडे से निकल गये।

आईने में फिरसे वह बूढ़ा दिखाई पड़ा। बूढ़ा बड़ी शैतानीसे हँस रहा था। रावबाजी ने आँखें बंद कर लीं और हथेलीपर सिर रख कर लेटे रहे।

रूपा : निर्मला देशपाण्डे

अनुक्रमणिका



उसकी स्थिति-गति का वर्णन करने में
डर लगता है
कि वर्णन को ही नज़र न लग जाए।
जीवन में उसके न घात है
न अपघात....केवल अविरल गति
अखंड स्त्रोत—

स्त्रोत एक पगली की

वामन चोरघडे

उसकी याने नर्मदा की यह हमेशा की आदत है। बहुत सीधा सा, सादा सा वह बोल जाती है, बात बात में हँस देती है और बाद में भी हँसती रहती है। लेकिन जो सुनता है वह चकरा जाता है। दिल उसका बैठ जाता है। अपना दुखड़ा रोनेवालों की दुनिया में कमी नहीं। किंतु मन में जो कुछ चुभता है उसे खुशी में मिला, तीर की भाँति सहज में कहनेवाली और कहते–कहते हँसनेवाली सिर्फ नर्मदा ही एक है।

उसके माता–पिता ने उसे नर्मदा नाम दिया है। न मालूम उन्होंने क्या सोचा होगा। शायद वे भी न जानते होंगे कि इस लड़की के जीवन-प्रवाह की गति सरसर छल-छल बढ़ती ही रहेगी। उसका विलसित सतत गतिमान, हृदय, निर्मल बना रहेगा। नर्मदा को कभी किसीने रोती-बिलखती सूरत में नहीं देखा। शोक-उद्वेग की छाया उस तलक नहीं पहुँची। और भी एक बात है। खुशी के नये नशे में वह कभी आसमाँ तक उछली नहीं और दुख की खाईमें भी कभी गड़ नहीं गई। काँटा चुभनेपर भी वह हँसेगी, दूसरों को हँसायेगी।

यह जानना जरूरी नहीं कि वह देखने में कैसी है। उसके रूपने कभी उसके जीवन में रुकावट नहीं डाली। रूप का बखान करने की भी उसे ज़रूरत नहीं पड़ी। उसकी स्थिति-गति का वर्णन करने में डर लगता है कि वर्णन को ही नजर न लग जाय। जीवन में उस के न घात है न अपघात। जो कुछ है, अविरल गति, अखंड स्त्रोत!

वह यूँही सादा-सीधा कह देती है। आज से दस साल पहिले वह मुझसे ऐसा ही कुछ कह गई। कहने में उसके संकोच न था, लाज भी नहीं। उसने कहा था कि मुझसे शादी करना उसे अच्छा लगेगा। मेरे राजी होने पर वह सुख पायेगी। मैंने शादी नहीं की उससे। हमेशा उसके साथ रहनसे मैं और कुछ न सही, इतना ज़रूर जान गया था कि नर्मदा को अपनाना मेरे बूते की बात नहीं। अर्पण की शक्ति उसमें इतनी है कि मैं उस बोझ से ख़ुद को खो देता, अधमरा हो जाता। उसके मुझसे यह पूछने पर बतौर जवाब के आज से दस साल पहिले मैंने कहा था–

"देखो, नमी, बात यह है कि..."

"रहने भी दो। बात यह हो या वह हो, तुम्हारी बातों में दम नहीं, खैर, जाने दो। जो कुछ मन को मेरे अच्छा लगा, मैं कह गई। बातों में धरा ही क्या है। कोई एक फूल देखने पर मन में लालच हो जाता है, लेकिन उसके न मिलने पर क्रोध में उस का अपमान करने की आदत मेरी नहीं। ऐसा करने में मुझ को शर्म आती है।"

नर्मदा गँवार नहीं है। अच्छी खासी पढ़ी-लिखी है। लेकिन उसकी सारी शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार की बातों में ही काम आती है।

अनुक्रमणिका



मूल्य

—तारकेश्वर मैतिन

कई दिनों के अव्यवस्थित रहन-सहन के बाद वह कुछ थक-सा गया था। उसके कपड़े गंदे थे, चेहरे पर रौनक न थी और उसकी बुझी-बुझी-सी आंखें उसकी दीनता प्रगट कर रही थीं। चंद दिनों से वह इतना व्यस्त रहा था कि वह न तो अपनी दाढ़ी बना पाया था और न अचानक फटे कपड़ों को बदल पाया था।

इसीलिए जब वह अपने पिता के मित्र धनीराम से मिलने चला तो उसके मन में कुछ झिझक-सी हुई, क्योंकि वह बहुत दिनों बाद उनकी ओर जा रहा था। फिर, धनीराम शहर के सबसे बड़े अमीरों में थे। आलीशान कोठी कई मोटरें, सैकड़ों नौकर-चाकर मगर फिर भी उसने साहस किया और वह उनके कमरे तक पहुंचा दिया गया।

उसे देखकर धनीराम चौंक पड़े और अपने नौकरों पर बौखला उठे "इस भिखमंगे को किसने अंदर आने दिया? जाओ जाओ, बाहर जाओ...बेकार वक्त न बर्बाद करो।"

उसने अपना परिचय दिया, अपने पिता का उल्लेख किया, उन्हें अपने पुराने संबंधों की याद दिलाई, पर वे कुछ भी सुनने को तैयार न थे-"मैं कुछ नहीं जानता, मैं इस नाम के आदमी को पहचानता तक नहीं। मेरा माथा न खाओ और अपना रास्ता नापो। अगर कुछ पैसे चाहिए तो बाहर सेक्रेट्री से मांग लो।"

उसने अपने को कुछ अपमानित-सा महसूस किया और उल्टे पांव लौटने लगा··· "मैं जा रहा हूं। मुझे पता न था कि आप मुझसे ऐसा व्यवहार करेंगे। कई साल हुए, मैं आइ. ए. एस. हो गया और अब आपही के शहर में मेरी बदली भी हो गई है। इसी सिलसिले में मैं आपसे मिलने चला आया था। मुझे क्या पता था कि आप···"

और आश्चर्य! इतना सुनते ही धनीराम अपने सोफे से उछले और उन्होंने उसे अपनी बांहों में भरकर चूम लिया।

"मेरे बेटे, तू इतना बड़ा हो गया? मैं तो तुझे बिल्कुल ही नहीं पहचान पाया।··· अरे कोई है? साहब के लिए कुछ चाय-कॉफी, शर्बत-लस्सी का इन्तजाम करो।···तू जानता नहीं, तेरा बाप तो मेरा लंगोटिया यार है।··· आ बेटे, तुझे अपनी पत्नी से मिलाऊं। मेरी बेटी रीता तो तुझे पाकर नाच उठेगी। कॉलेज में पढ़ती है।···देखो भई, मैं पहले ही साफ-साफ कहे देता हूं कि अब तुम्हें इस घर को छोड़कर और कहीं नहीं जाना है।···आगे चलकर तुम काफी तरक्की करोगे बेटे···इतने बड़े अफसर हो गए और क्या कमाल की सादगी है!"

धनीराम बोले जा रहे थे और वह इस परिवर्तन पर चकित था, खामोश था। और पता नहीं क्यों, वैभव और सान्दर्य की इस प्रदर्शनी के बीच भी वह इन्सान मन ही मन खूब हंसता जा रहा था। •••

आजसे दस साल पहिले उसकी उमर अठ्ठारह साल की थी। चार साल बाद वह बाईस वर्ष की हो गई। इसी दरमियान उसने शादी की। शादी तय करने में मेरा काफी हाथ था। मेरे एक होनहार मित्र के हाथों में नर्मदा को सौंप मैंने उसकी गृहस्थी सुख से भर दी थी। मेरे सिर्फ यह कहने पर कि लड़का बहुत अच्छा है, नर्मदाने इस शादी को मंजूर किया। दो साल बाद वह माता बन गई।

एक दिन की बात है जब अपने बच्चे को गोदमें लिये वह अपनी जागृत अवस्था के सपनों को निहार रही थी। यह सोचकर कि कहीं दस साल पहिले का कूड़ा-करकट उस के दिल में न बचा हो, उसे साफ करने के हेतु मैंने कहा —

"नमी, तुम मेरे साथ जिंदगी बिताने को राजी थी। कहीं ऐसा होता तो मैं दावे के साथ कहता हूँ कि तुम सुखी न होती, जैसी आज हो। जो हुआ, अच्छा ही हुआ। सब देखा— कुछ कोर-कसर बची नहीं। तुम्हारे इस सुख का साक्षी मैं स्वयं हूँ। शादी करनेवाले को खुद अपना वर पसन्द नहीं करना चाहिये। ठीक है ना?"

पति के परोक्ष इस तरह की हामी से विवाहित स्त्री को चाहिये कि वह कुछ गंभीर बने, कुछ दर्द जतलाये। लेकिन वह नर्मदा जो थी। मेरी बात उसने सुन ली। बच्चे को आँचलसे अलग किया और उसे दुलारते सहजमें उसने जवाब दिया —

"हो सकता है तुम्हारा कहना सच हो। जब कि मैं तुमसे शादीको तैयार थी मैंने तुम्हें अपने से सब बातों में बड़ा ही मान लिया था। तुम्हारा कहना गलत नहीं यह मैं भी कह सकती हूँ। लेकिन अब पूछ ही रहे हो इसलिये कह देती हूँ। मेरा अपना खयाल है कि मेरा विवाह उस समय तुमसे होना नहीं था। ऐसे ही कोई दूसरी बेला में तुम्हारे मित्र से होना था। तुमसे प्यार किया उसमें दोष न था। मुझे उससे आज भी लाज नहीं होती। अब मैं मेरे संजी, नलिनी, राघू के पितासे प्यार करती हूँ उसकी भी कोई सीमा नहीं।"

"प्यार की तुम्हारी परिभाषा कुछ अजीब-सी है—"

"शू! ऐसी बात जबान पर न लाना। किसी के प्यार के बारे में कमी कोई मजाक करना मैं सह नहीं सकती। कॉलेज में पढ़ती थी तब मुझे याद है। कहीं तो प्रेम के विषय में मैंने पढ़ा ही था। उन शब्दों में सुगंध थी, शैली में मधुरता। लिखा था कि प्रेम कैसे, कब, किस से हो जाता है, कोई ठिकाना नहीं। प्यार के मनभाये परिन्दे अपनी हीरे की चोंच में अमृत-कण लेते हुए उड़ते रहते हैं। उन स्निग्ध-मधुर बिंदुओं का अवसेक जिन किन्हीं पर होता है वे प्यार करने लगते हैं। एक समय था जब वे प्यारे पंछी मेरे पास आये थे किंतु तुम्हें खबर न थी। दूसरी बार जब वे आये हम दोनोंने उनको पाया। हम एक हो गये। तुम इसके साक्षी हो।"

पहिले ही कह चुका हूँ कि इस पागल लड़की की सारी शिक्षा-दीक्षा इन्हीं बातों में खर्च होती है। और अपनी रोजमर्रा की घर-गृहस्थी में वह एक अबोध, अनजान की भाँति बरतती है। जब उसके पहिले बच्चा हुआ वह मारे खुशी के फूली न समाई। दूसरी लड़की हुई, उसकी चाह वैसी ही बनी रही। तीसरे के आने पर वह सुख से हँसती





रही। और इस सावन-भादोंकी जलधारा को रोकने के हेतु जब उसका पति इलाज कराने गया, नर्मदाने उसमें अपनी हाँ मिला दी। ठीक ही तो है। ऐसा न होता तो उस की हरी-भरी समृद्ध गृहस्थी में उसका कष्ट, अपने लिये, अपने पति-पुत्रों के लिये, दूसरों के लिये दिन-रात सजग रहना बेमतलब हो जाता। वह अपनी गृहस्थी में इतनी उलझ चुकी है कि उसका उसमें मगन रहना तक वह भूल गई है।

अभी इसी परसों की ही बात को लीजिये। सवेरे-सवेरे जब कि सारा घर मीठी नींद में मग्न था, वह जागी। घरके सबके जाग जाने और सुस्ती की अंगड़ाई लेने तक वह सुबह के काम-धन्धों से निपट अपना आंगन लीप-पोत रही थी। आँचल बांध, लीपा-पोती से अपने पैर-पिंडरी को रंगाती वह उस नीरव वेलामें अपनी ही तान में गुनगुना रही थी —'घिरी घिरी आई बदरिया —।' छिड़कावे से कढ़ी उसकी गोरी पिंडरियां सोनरंगी पके केले की भाँति.....!

इस कल्पना के साकार होने से पहिले ही न मालूम किसलिये, वह गड़बड़ मचाने लगी। लीपने की हांडी आँगन में रख वह घरमें दौड़ी। फिर बाहर आई। फिर अंदर जा अपने दोनों बच्चों को ले आंगन में खड़ी उन्हें आसमान में उड़ता हुआ हवाई जहाज दिखाने लगी।— "देखो देखो, जंतर मंतर का पंछी देखो" दिन रात नियमित रूप से आसमान में मंडराने वाला वह वायुयान। उससे नर्मदा को न कोई संबंध न सरोकार! वह जंतर-मंतर का पंखेरू कहाँ से आया, क्यों आया, कहाँ जा रहा है— नर्मदा को कुछ भी मालूम न था। अपनी तयशुदा मंजिल वह पूरी कर पायेगा या बीच में ही कहीं टकरायेगा, नर्मदा जानती न थी। उसके लिए सिर्फ इतना ही काफी था कि एक प्रचंड-परिंदा आसमान में उड़ रहा है और उस के पंखों की भर्राहट नर्मदा को सुनाई देती है। वह दूसरों को भी सुनने को मजबूर करेगी। और उसमें पहिला हक़ है उसके प्यारे निगोड़े बच्चों का, क्योंकि वे नर्मदा में और नर्मदा उनमें समा गई है।

हवाई जहाज की उड़ान आंगन में खड़े दोनों बच्चे अपनी आंखें इतनी इतनी बड़ी करके देख रहे हैं। माँ की उछल-कूद उनपर छा गई है। छोट-छोटे उनके हाथ तालियां पीट रहे हैं, उसकी तालपर नाचना शुरू हुआ है। चूंकि नर्मदा उनसे बड़ी है उसके ताल तथा नाच की रफ्तार भी तेज होनी चाहिये। उस समय उन तीनों का श्रेय-प्रेय एक ही था। वह था आसमान को कूतते आँखों से ओझल होता हुआ वह चमकीला, भर्राता हुआ परिन्दा! उस के आंख से ओट हो जाने पर नर्मदा के होश ठिकाने आये—

"हाय हाय! छोटा तो देख ही नहीं पाया। सोया जो है।"

इस एक वाक्य से मानो त्रुटि का परिमार्जन हुआ। वह उसके बाद तेजीसे अंदर चली गई। पल-भर में स्टोव सुलगाने की आवाज, कप-प्लेटों की खनखनाहट, और— "हाथ-मुँह धो लिया ना? चाय तैयार है।" उसकी यह ललकार हृदय की मधुरिमा में भींगी सी लगी। प्यार था उसमें, अधिकार भी। चाय का उबलता पानी हाथ पर उँड़ेल जानेपर वह कहेगी कि 'इस पानीसे अंगार मची है हाथों में, मुझ को तो कुछ हुआ ही नहीं।'



तुम्हें शिकायत है...

—श्यामसुंदर घोष

तुम्हें—
जिसे मैंने भावनाओं की समस्त तीव्रता से प्यार किया—
जीवन की खुरदुरी सड़कों पर
कभी पाथेय, कभी सम्बल के रूप में कल्पित किया—
—मुझ से शिकायत है।

मैंने हमेशा कहा—
मेरे साथ मत चलो, मेरे पास मत आओ
मेरे रास्ते में कांटें हैं, धूल है, धुंआ है—
बड़ी-बड़ी चट्टाने हैं
जिनसे टकराने पर घुटने छिल जाते हैं, हड्डियां टूट जाती हैं।

लेकिन मेरी बातों को सुनकर
तुम भागी नहीं, समीप चली आईं
तुमने मेरे बालों को छुआ—
सूखे ओंठों पर उंगलियां फेरीं, कपोलों को सहलाया
तुम्हें मेरी कई दिन की बढ़ी हुई खुरदुरी दाढ़ियों से
बेहद प्यार हो आया।

और आज तुम्हें मुझ से शिकायत है!
जरा सोचो तो सही मेरी क्या गल्ती है
प्रयत्न तो करता हूं पर कुछ होता कहां है
समस्याएं अजगर हैं प्रयत्नों को लील जाती हैं,
तुम समझती क्यों नहीं।

अनुक्रमणिका

पागल और किसे कहते हैं ? पगली बात करती है, सयाने अचंभे में पड़ हैरान हो जाते हैं। लेकिन जो उसीकी तरह पागल है, उसका हाल ?

उस दिन उसके घर पाँच पागल थे और एक मैं था सयाना, अकलमंद! हँसने के लिये पगलों को किसी वजह की जरूरत नहीं होती, काँटों में से फूल कर ऊपर उठ आता है गुलाब, हिलता-हिलोरता है हवा के झोंके से ! बयार का होना ही उसकी खुशी की वजह है ! नर्मदा के घर में हवा भी पागल, गुलाब भी पागल है। इसीलिये सयानों की परेशानी बढ़ती है।

नर्मदा के इतने करीब आनेपर भी मैं कुछ सीख नहीं सका। बरसात की सतत धारा बरसती है किंतु उल्टी अंजुलि में उसे समेटने की कोशिश !— वैसे मैं श्रेष्ठ हूँ क्योंकि वह मेरी अपनी होने के लिये उत्सुक थी। यही अहंकार ! यही है वह कीड़ों मकोड़ोंका मन ! यही मन आदमी को उकसाता है, कहता है— 'और कुछ नहीं तो उस लड़कीके कोई सुख-दुख की कहानी सुनकर अपनी अहमियत की तसल्ली कर लो। अपनी खुद्दारी बजा लो ! अहंकार की दीप बातीसे अपनी आरती खुद ही उतारो !'

यही तो ! इसलिये उस दिन उस पागलखाने में बड़े पागल के कामधन्धे पर चले जाने पर, और छोटे पगलें के सो जानेपर जब बची हुई एक पगली सयाने के सामने की कुर्सीपर बैठ ऊन में सूई और सूई में ऊन करती थी, सयाना पूछ बैठा—

"नर्मदा, तुम वाकई सुखी तो हो ?"

विज्ञ उम्मीद करते हैं कि ऐसे सवाल का जवाब ऐसे एकान्त समय में सिसकियों से मिले। इसीलिये उन्हें विज्ञ कहा जाता है। इसी उम्मीद में वे पूछ बैठते हैं कि नर्मदा, तुम वाक़ई सुखी हो ना ?

"नहीं तो कैसी हूँ ? दुःख मुझे किसीने दिखाया नहीं। जो कुछ पाती-लेती हूँ उसे और क्या कहते हैं मैं कैसे जानूं?"

यह जवाब जब ऊँट की भांति विज्ञों के संमुख खड़ा होता है वे सलाह देते हैं कि हाँडी फोड़नेसे पहिले बछड़े की गर्दन उतारो।

"तुम्हारी गृहस्थी मानो एक नंदनवन है। ये तुम्हारे प्यारे लाड़ले..."

"प्यारे और लाड़ले ! रात-दिन छातीपर सवार ऊधम मचाते हैं, माँको छोड़ कोई भी उन्हें प्यारे दुलारे कहे, मैं मना नहीं करूंगी।"

"लेकिन अब रोकथाम की जरूरत है। बिलकुल ही लगातार एक के पीछे एक करके तीन. . . . . "

किसी जौहरी को सलाह देने के बाद मामूली सब्जीवाली को बैंगनपर पानी छिड़कने की सलाह देने की नौबत विज्ञोंपर ऐसे हीं समयमें आती है।

"सुनो, मैं सच ही कहता हूँ। अब इस तुम्हारे छोटे के बाद कम से कम पाँच साल कोई बच्चा. . . . . . "

"ठीक तो कह रहे हो। मैं समझी कि कुछ बड़ी भारी बात कहोगे। क्योंकि अकेली जो हूँ। कहोगे कि गृहस्थी का बोझ ढोनेसे मैं सूख के काठ हो गई हूँ।"

"जो उचित है वही कह रहा हूँ।"

"तो फिर सीधी बात करो न ! जिसका सादा जवाब मैं दे सकूं। जवाब है कि अब छोटे के बाद कोई अपत्य संभव नहीं। देखते क्या हो ? तुम्हारे मित्र अगर इतना न समझे होते तो तुम मुझको उनके हाथ कैसे सौंपते ? चिंता न करो। अब आराम है।"

"चलो, अच्छा ही हुआ !"

"अच्छा हुआ सो ठीक ही है लेकिन और भी कुछ हुआ है जो तुम्हारे न पूछने पर भी बताये देती हूँ। तुमसे मुझे कोई संकोच नहीं। सिर्फ यही सोचती हूँ कि शायद तुम्हारे समझने से वह परे हो। समझो तो ठीक, न समझो तो कोई बात नहीं। कहते हैं ना कि खिड़की खुली रखनेपर लोग बाग-झाँकते हैं और बन्द करनेपर दम घुटने लगता है। फसल के काम आया सो उसे पावस कहेंगे। नहीं तो बरखा हुई, वह गई। वैसे अब आराम है, रोक थाम की जरूरत नहीं। डर भी कुछ नहीं। खिड़की खुली रहे तो भी झाँकनेवालों से लाज नहीं। सब ठीक ही है।..........."

"लेकिन अब वह बात नहीं जो पहिले थी। मन में हूक उठती है वे दिन जब डर ही डर था। क्या रात और क्या दिन ! डरती थी मैं। डरते थे वे। इसीलिये चाहत की भी कोई सीमा नहीं थी। चाहत के न चाहने पर आस बढ़ती जाती.......... !"

"समय-असमय में एक दूसरे की ओर देखना - निहारना.....दीदार होने पर नजर धरती की ओर झुका लेना....वे इशारे....वह आस.. तृप्ति पहिले भय..... तृप्ति के बाद भी डर.... फिर वही आस, वैसी ही चाहत...मन को रोको, तन को काबू में रखो। और इस ताव की कोशिश में बेताब हो.....!"

किसी कमरे में बन्द किये छात्र मास्टर की आहट से डरते हैं। आपस में इशारे करते रहते हैं...मैं तुम्हारे साथ हूं, तुम मेरे साथ हो...

"वे दिन...जब थी सरूपता, सायुज्जता !...सुनो ! इस छोटे के समय की ही बात याद आती है। उस के पेटमें आनेसे पहिले और बाद में भी....उन्हें चिंता थी कि मैं सुख में रहूँ और...और मैं तड़पती थी उनकी राजी-खुशी के लिये...दोनों के बीच मानो तलवार रखी हुई.. उँगली कटे तो अधरोंसे चूम लेना...सब कुछ मन ही मन एक दूसरेको साक्षी रखकर...मन में दिन-रात कसक, धड़कन...और दिन-भर मानो इसी कमरे में आवाज गूँजती थी...तुम मेरे हो और... तुम मेरी हो........"

"अब वह तलवार नहीं। उँगली कटने का डर नहीं.....जो कुछ है सो है रोजमर्रा की रफ्तार... महज एक खिलवाड़...जैसे...जैसे... वही चौके की तैयारी करना....बैंगन तोड़ना...बनारवुनूरने की कोशिश— वही सानना-गूँधना...उंगलियाँ गड़ाना...बघार देने पर भी तरकारी में स्वाद नहीं। रुचि के लिये मिर्च-मसाला बढ़ाओ...आटा गूँधते समय कुछ अधिक मोहन....फिर भी चैन नहीं...दिल उभरता है, बैठ भी जाता है...दिनमें डर नहीं, रात में डर नहीं....निर्लज्जता की लाज चैन भी लेने देती नहीं...."

नर्मदा कहती गई और विज्ञ की सवारी का ऊँट न मालूम कब और कहाँ कैसे खिसक गया।

• • •





अनुक्रमणिका



धुँधले रंग

—महीप सिंह

बस बात शुरू हो गयी तो हो गयी। और जव एक वार शुरू हुई तो वढ़ती ही गयी। परन्तु वह कोई झगड़ा तो था नहीं। पति और पत्नी दोनों अपनी वातें वताते हुए हंस रहे थे, एक दूसरे को चिढ़ा रहे थे। और जव एक पक्ष अधिक चिढ़ जाता तो दूसरे पर भयानक गुस्से का अभिनय करता हुआ दौड़ता और दूसरा पक्ष खिलखिलाता हुआ इधर–उधर भागने लगता। फिर दोनों ही पक्ष खिलखिलाकर हंस पड़ते।

दिन शायद शनिवार का था। जुगिन्दर आफिस से दो वजे ही लौट आया था। शाम को सिनेमा जाने का प्रोग्राम सुवह ही निश्चित हो चुका था। वह खाना खाकर लेट गया। परन्तु वह देख रहा था, आज मीती के चेहरे पर यह कैसी विचित्र सी मुस्कराहट खेल रही है। आफिस से आकर जव उसने कपड़े उतारे, खाना खाते समय जब मीती उसे खाना परोस रही थी और जव वह खाकर आ लेटा है, वह मुस्कराहट उसे लगातार दिखायी दे रही थी। ऐसी मुस्कराहट, जो कुछ वोलना चाहती है, जो कुछ कहना चाहती है।

और फिर मीती वोल ही पड़ी।

'एक वात वताऊं।'

जुगिन्दर ने मुस्कराते हुए उसकी ओर देखा। आखिर मुस्कराहट का भेद खुला तो मीती कह रही थी, 'भैया का पत्र आया है। उन्होंने लिखा है रंजीत अपनी पत्नी को लेकर यहां आ रहा है। वह हम लोगों के यहां भी आएगा।'

जुगिन्दर की मुस्कराहट लुप्त हो गयी- 'कौन रंजीत?'

'वही।'

'वही कौन..?'

'अरे भैया का अंवालावाला दोस्त।

'अरे हां...समझा। वो रंजीत।' जुगिन्दर ने याद करते हुए कहा– 'तुम्हारा पुराना प्रेमी।'

मीती कुछ गंभीर हो गयी, परन्तु मुस्कराहटों की छवि वैसी ही थी। वोली- 'होगा प्रेमी। पर मैंने तो उससे कभी वात तक नहीं की।'

'क्यों..? आखिर उसमें क्या कमी थी?

मीती हंस पड़ी–'कमी तो कुछ नहीं थी। लेकिन तव मैं कुछ समझती–वूझती ही कहां थी।'

जुगिन्दर ने काटा- 'अव तो समझने–वूझने लगी हो।'

मीती ने आंखें नचायीं-'हां अव सव समझती हूं।'

जुगिन्दर ठहाका मार कर हंसा- 'इन चार सालों में तुम वहुत सयानी हो गयी हो। अच्छा, रंजीत तुमसे व्याह करने को वहुत लालायित था.. क्यों?'

मीती भी हंसी- 'क्यों नहीं। धर के कितने ही चक्कर रोज लगाता था। भैया को पूछने उसी समय आता था जव भैया घर में नहीं होते थे।'

जुगिन्दर ने वड़े व्यंग्य से मुस्कराते हुए कहा– 'विचारे पर कुछ तो तरस खाती, पता नहीं तुम्हारे लिए दीवाना वना वह कहीं-कहां की खाक छानता फिरा हो।'

फिर एक खामोशी सी छा गयी। कुछ देर बाद दोनों की नज़रें मिलीं और दोनों हँस पड़े। पर उस हँसी में से फीकापन फूट रहा था....फिर दो सजीव आकृतियाँ दो धुँधली परछाइयाँ बन गयी थीं....

'अहहह...आपको बड़ी हमदर्दी हो रही है उससे..?' मीती भौंहें चढ़ाती हुई बोली।

'क्यों न हो। आखिर मर्द जात ठहरा। और यदि वह सफल हो जाता तो तुम्हें अपने गले डालने से कम से कम मैं तो बच जाता।'

'अच्छा..तो मैं तुम्हारे गले पड़ी हूं?'

'सो तो है ही।'

'अच्छा आओ तो...।' मीती गुस्से से भर कर जुगिन्दर को पकड़ने दौड़ी और वह हंसता हुआ कमरे से बाहर दौड़ गया।

'अच्छा आगे की बात बताओ... तो रंजीत तुम्हारे घर के रोज चक्कर लगाता था... फिर?'

'जाओ मैं तुमसे नहीं बोलती।'

'अरे नाराज़ क्यों होती हो?'

'मैं क्यों नाराज़ होने लगी? मैं तो तुम्हारे गले पड़ी हूं न?'

'भई, पड़ी तो हो।' जुगिन्दर ने धीरे से उसके कान में कहा- 'गले में नहीं दिल में।' मीती ने दोनों हाथों से उसका एक हाथ कस कर पकड़ लिया- 'अब बनाओ बातें।'

'अच्छा भई, माफी मांगता हूं। अब मेरा हाथ तो छोड़ो। जानता हूं तुम्हारा पेशावरी खून है। पर इस गरीब की हड्डियों पर तो कुछ रहम करो।'

मीती ने हाथ छोड़ दिया।

'हां तो रंजीत...?' जुगिन्दर ने फिर वही बात चलाई।

मीती हंसी और एकाएक उसकी हंसी में हल्की सी लज्जा घुलमिल गयी। बोली-'उसने मुझे एक पत्र भी लिखा था।'

'अच्छा? क्या लिखा था उसमें?'

'यह तो मुझे याद नहीं। पर था खासा लम्बा।'

जुगिन्दर की उत्सुकता बढ़ी- 'अरे कुछ तो याद होगा। क्या लिखा था उसमें?'

मीती ने बड़ी उपेक्षा से कहा-'पता नहीं क्या क्या ऊटपटांग लिखा हुआ था उसमें।'

'मैं बताता हूं।' जुगिन्दर ने स्वयं बताना शुरू किया- 'उसमें लिखा होगा मेरी प्यारी मीती, तुमने मुझे दीवाना बना दिया है। जितना तुम्हें भूलने की कोशिश करता हूं, उतनी ही तुम याद आती हो। दिन में भूख नहीं लगती, रात को नींद नहीं आती। हमेशा तुम्हारी याद में तड़पता रहता हूं... और क्या लिखूं.. थोड़ा लिखा बहुत समझना ....तुम्हारा दीवाना-रंजीत।'

जितनी देर जुगिन्दर साभिनय पत्र का वर्णन करता रहा मीती हंसती रही और जब उसने अंतिम वाक्य कहा तो वह खिलखिलाकर हंस पड़ी। बोली- 'उसने अंत में दीवाना रंजीत नहीं, बदनसीब रंजीत लिखा था।'

'तुमने पत्र का उत्तर दिया था?' जुगिन्दर ने सांस रोक कर पूछा।

'नहीं... पर उस एक पत्र ने ही तूफान खड़ा कर दिया। वह पत्र मैया के हाथ में पड़ गया। वे तो क्रोध से आग बबूला हो गये। मैया ने रंजीत को बहुत पीटा, बहुत गालियां दीं, अपमान किया। शर्म का

मारा रंजीत घर छोड़ कर कहीं चला गया। उसके मां-बाप रो रो कर बेहाल हो गये। दो साल तक उसका कुछ पता न चला। उन दो सालों में मेरा दिल भी बड़ा बेचैन रहा। आखिर मेरे कारण ही विचारे की यह दुर्दशा हुई थी। फिर पता नहीं उसे हमारी शादी की बात कैसे मालूम हुई। ठीक बारात वाले दिन आकर उसने भैया से माफी मांगी। भैया ने भी उसे रोते हुए गले से लगा लिया। फिर वह मेरे पास आया। उसे देखते ही पता नहीं क्यों मेरा रोना फूट निकला। वह बोला-'मुझे माफ नहीं करोगी मीती बहन।'

'पर मैं रोती ही रही। पता नहीं क्यों उस दिन लग रहा था कि खूब रोऊं। इतना रोऊं कि खुद अपने आंसुओं में डूब जाऊं। वह एक साड़ी मेरे पास रख कर बाहर चला गया। फिर वह शादी के काम में भूत की तरह जुट गया। मैं जिस के मुंह से सुनती वह रंजीत की ही बात करता। रंजीत ने आकर जैसे सबका बोझ हल्का कर दिया।'

जुगिन्दर ने देखा मीती के चेहरे की सारी मुस्काराहट वैसी ही है परन्तु न जाने क्या चीज उसके पीछे की सारी चमक खींचकर उसे फीका बना गयी है।

वह कुछ देर बैठा मीती को देखता रहा। फिर अपने अंदर खो सा गया। मीती ने हंस कर उसे झकझोरा-'अरे श्रीमान् जी किस दुनियां में खो गये हैं आप?'

जुगिन्दर जैसे नींद से जागा-'कहीं नहीं ...।'

मीती ने मुस्कराते हुए पूछा-'क्यों जलन हो रही है?'

'जलन नहीं।' वह हंसा फिर धीरे से बोला- 'मुझे तो अपनी बात याद आ गयी।'

'क्या बात?'

'सतिन्दर की बात।'

'कौन सतिन्दर..? अच्छा याद आया। आपकी पुरानी प्रेमिका।' मीती बोली।

'सच मीती।' जुगिन्दर थोड़ा गंभीर होकर बोला- 'मुझे पता ही नहीं लगा कि वह मुझे चाहती है। वह मेरे पड़ोस में रहती थी। उससे हमारा बड़ा घरेलू संबंध था। वह हमेशा घर में आया-जाया करती थी। परन्तु मैं अपने घर में रहता हुआ भी घर का नहीं था। उन दिनों मैं कालेज में पढ़ता था और दुनियां भर के सार्वजनिक कार्यों में लगा रहता था। इन सब कार्यों के पीछे मैं इतना पागल बना हुआ था कि मेरे चारों ओर कौन लोग हैं, वे मुझसे क्या चाहते हैं यह सब सोचने की कभी मुझे फुर्सत ही नहीं मिली। मानो आंखों पर सामाजिक कार्यों का केवल दूर की चीजें देखने का चश्मा चढ़ गया था।'

'उसने तुम्हें कोई पत्र नहीं लिखा।' मीती ने पूछा।

'पत्र क्या लिखती विचारी? लड़कियों की आंखें और उनसे निकलने वाले आंसू ही उनके पत्र होते हैं और सतिन्दर ने मुझे वह पत्र तब लिखा जब उत्तर मैं तुम्हें लिख चुका था।'

'मतलब..?'

'बात यह हुई कि जब मैं और मां तुम्हें देखकर वापस लौटे तो मां घर के दरवाजे पर ही रुक गयी। उन्होंने मुन्नी को आवाज दी और दरवाजे पर तेल डालने के लिए कहा। सब लोग समझ गये कि बात पक्की हो गयी है। सतिन्दर उस समय हमारे घर में थी। मैं जब अपने कमरे में पहुंचा तो वह चुपचाप आ खड़ी हुई। बोली-'लड़की पसन्द कर आए?'

मैं किसी का भी सामना करने में शर्मा रहा था। बात यह थी कि लगातार कई वर्षों से मैं शादी के नाम से नाक भौं चढ़ाता आ रहा था। फिर मैं शादी के लिए एकाएक तैयार हो गया। तैयार ही नहीं हुआ बल्कि उतावला हो उठा। जैसे वह शादी की आखिरी गाड़ी हो, छूट गयी तो दूसरी नहीं मिलेगी। मैंने उसकी ओर देखा और मुस्करा दिया।'

'कैसी है?' उसने पूछा।

'तुम खुद ही देख लेना।' मैंने कहा।

'बड़े खुश नजर आते हो।' उसके मुंह से निकला और फिर उसके होंठ फड़फड़ाने लगे। फिर उसकी आंखें एकाएक डबडबा आईं।

मैं भौंचक्का सा उसे देख रहा था। होंठों को अपने दांतों से दबाती हुई वह बोली-' दूर की चीज देखने के लिए लोग किराया-भाड़ा खर्च करके कहां तक चले जाते हैं। पर पास की चीज को आंख उठा कर भी नहीं देखते।'

उस दिन सतिन्दर मानो एक नये रूप में मेरे सामने अवतरित हुई। उसकी आंखों से झरझर आंसू बह रहे थे और उन आंसुओं से पिघली हुई सतिन्दर ने मुझे पूरी तरह भिगो दिया था। फिर उसने मेरे घर आना ही बंद कर दिया लेकिन उसकी आंखें मेरे सामने सदा चमकती रहतीं और मुझे बींधती रहतीं। एक बार तो मेरे मन में आया कि तुमसे शादी की बात तोड़ दूं। परन्तु बात बहुत आगे बढ़ चुकी थी।'

जुगिन्दर ने एक लम्बी सांस ली- 'सचमुच सतिन्दर मुझसे बहुत प्यार करती थी।'

दोनों कुछ देर चुप बैठे रहे। फिर मीती बोली- 'रंजीत भी मुझे बहुत प्यार करता था।'

फिर एक खामोशी सी छा गयी। कुछ देर बाद दोनों की नज़रें मिलीं और दोनों हंस पड़े। पर दोनों की हंसी में से फीकापन फूट रहा था। फिर दोनों तैयार हुए और सिनेमा चल दिए।

सिनेमा हाल के अंधेरे वातावरण में दोनों पर्दे पर घटती हुई घटनाओं को देख रहे थे। धीरे से जुगिन्दर के हाथ में मीती का हाथ आ गया। दोनों ने एक दूसरे के हाथों को दबाया। उस अंधेरे में मीती को लगा, उसके साथ की सीट पर रंजीत बैठा हुआ है। और जुगिन्दर को लग रहा था, उसके साथ सतिन्दर बैठी हुई है।

दो सजीव आकृतियां दो धुंधली परछाइयां बन गयी थीं। ● ● ●







अनुक्रमणिका



*घटना संभाव्य ही....मगर इतनी जल्दी....।
कुछ यूं ही गपशप हुई और सदानंद ने उसे
आलिंगन में ले लिया....उस मदभरे आलिंगन से
सुनीता का दिल धड़कने लगा किंतु सदानंद....*

-विजया राजाध्यक्ष

सितम्बरकी एक संध्या। यह मौसम कैसा निर्मल, सुहावना और हरीतिमा लिये होता है। सूर्यकी कोमल किरणोंके स्पर्शसे उसकी हरीतिमा कुछ ओनोखी-सी ही प्रतीत होती है। ऐसे मौसम में कहीं जानेको जी करता है। थकेमांदे मनसे-सपनों की चादर ओढ़े किसीकी राह देखने को जी चाहता है। लेकिन दोपहरसे ही वर्षा शुरू हो जाती है.....और हरीतिमा-पूर्ण-संध्या पूर्ववत् नहीं रहती। पेड़ोंके पत्ते झड़कर आँधीमें उड़ने लग जाते हैं। सारा रास्ता जलमय हो जाता है। न कोई आ सकता है न कोई कहीं जा सकता है। तेज हवासे सारा बदन कांपने लगता है। और घरमें बैठे-बैठे पुरानी बातें याद आने लगती हैं। और उन्हीं बातों की मस्तीमें मशगूल-से हो जाते हैं। छः महिने पहले सदानन्द के कमरे में आयी हुई मस्ती की तरह। सारी बातें कैसी अचानक ही घट गई, सुनीता उससे मिलने गई,.....मन ही मन सपनोंको दुहराती। जो घटना घटी वह संभाव्य ही थी...मगर इतनी जल्दी.... इसकी कल्पना तक न थी। कुछ यूं ही गपशप हुई और सदानंद ने उसे आलिंगन में ले लिया..बिलकुल निःशब्द आलिंगन....।

उस मदभरे आलिंगन से सुनीताका दिल धड़कने लगा किंतु सदानंद बिलकुल स्थिर था। घबराया क्यों नहीं? रोमांचित क्यों नहीं हुआ? पहले स्पर्श के बाद भी क्या आदमी स्थिर रह सकता है? मानों कुछ हुआ ही नहीं। उस अवस्थामें सुनीताकी कुछ समझ में नहीं आया; लेकिन चंद ही दिनों में वह जान गई कि सदानंद हमेशा ही ऐसे खामोश-सा-स्थिर ही रहता है। और शायद इसी वजहसे सुनीता उससे प्यार करती होगी। और इसी स्थिरतामें सदियों तक धोखा न मिलनेका आश्वासन सुनीता पा सकती थी। कुछ दिनों के बाद सदानंदने उसे अपने पहले प्रेम-सम्बन्ध के बारेमें सारी बातें बता दीं... वह भी कितनी सरलता से ...। उसका नाम और उनकी शादी न होनेका कारण भी। सुनीता और भी बहुत कुछ पूछ सकती थी मगर वह खामोश ही रही। उसने पूछने की जरुरत ही न समझी। उसे कभी उस लड़कीके प्रति द्वेषभावना भी नहीं प्रतीत हुई। सदानंद उसे भूल गया था। मुझे देख फिरसे खुशी में झूमने लगा था...और इसी में ही वह सब कुछ पा चुकी थी। वह हार गई-मेरी जीत हुई। शायद वह पराजित हुई थी इसी कारण सुनीता को उसके





अनुक्रमणिका

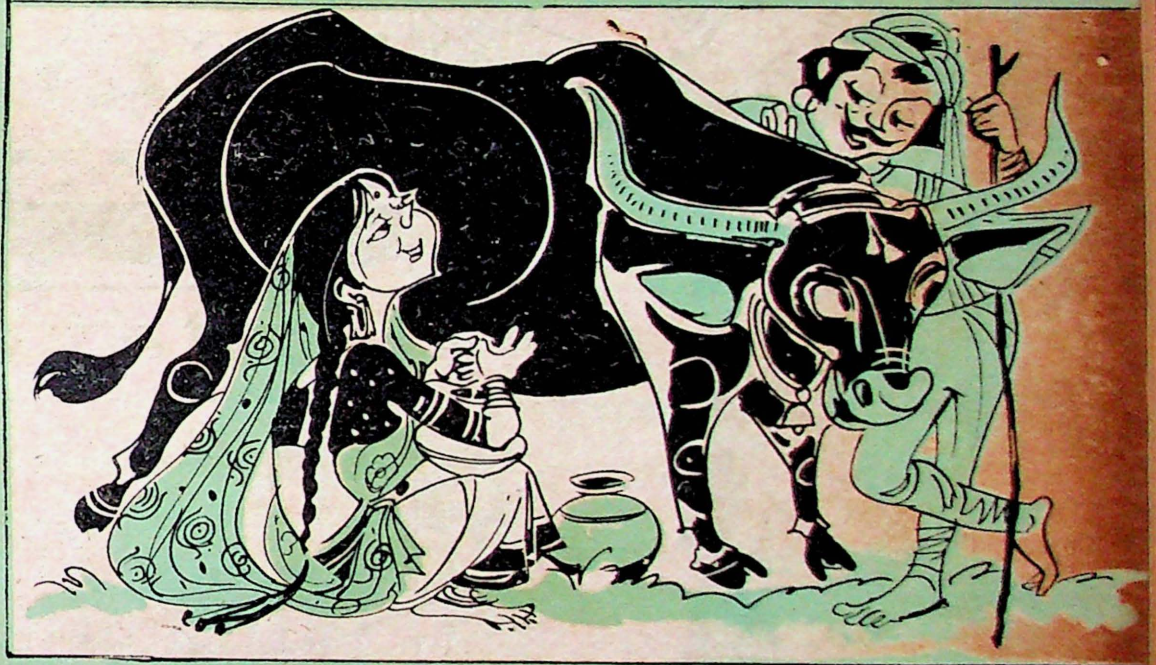
अनुक्रमणिका



मराठी गद्य-प्रेम

आंतरभारती

प्रेम-रंग-ढंग...!



गुजराती प्रेम



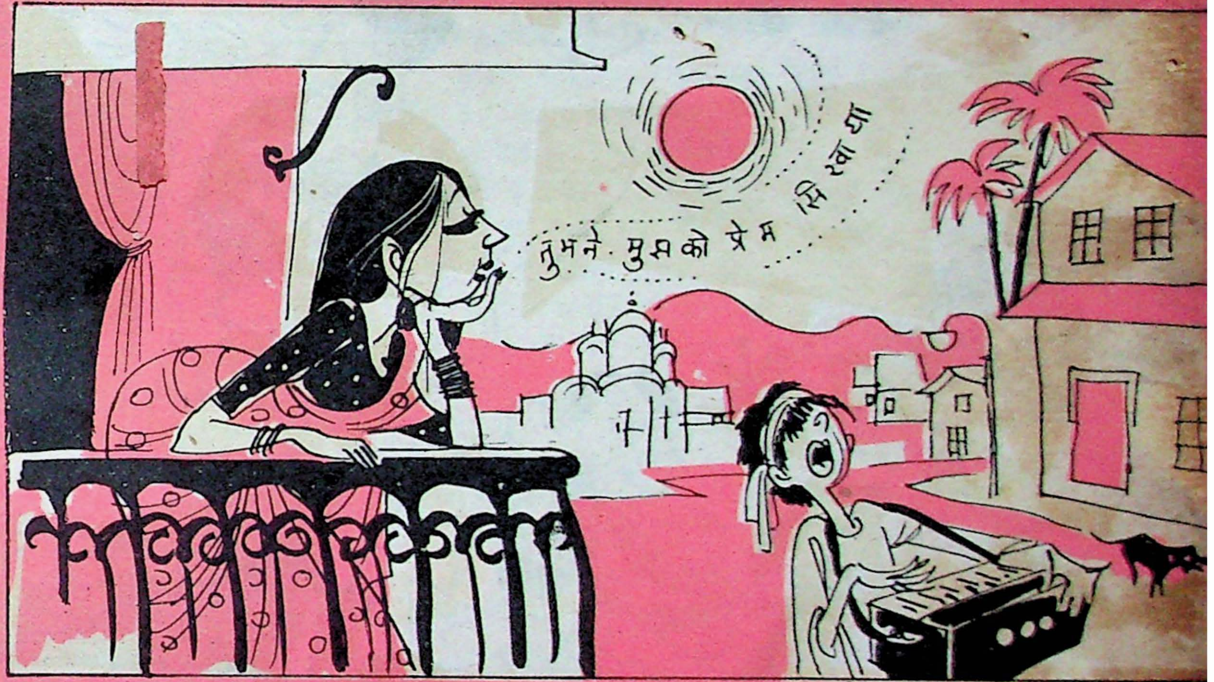
पंजाबी भांगडा-प्रेम



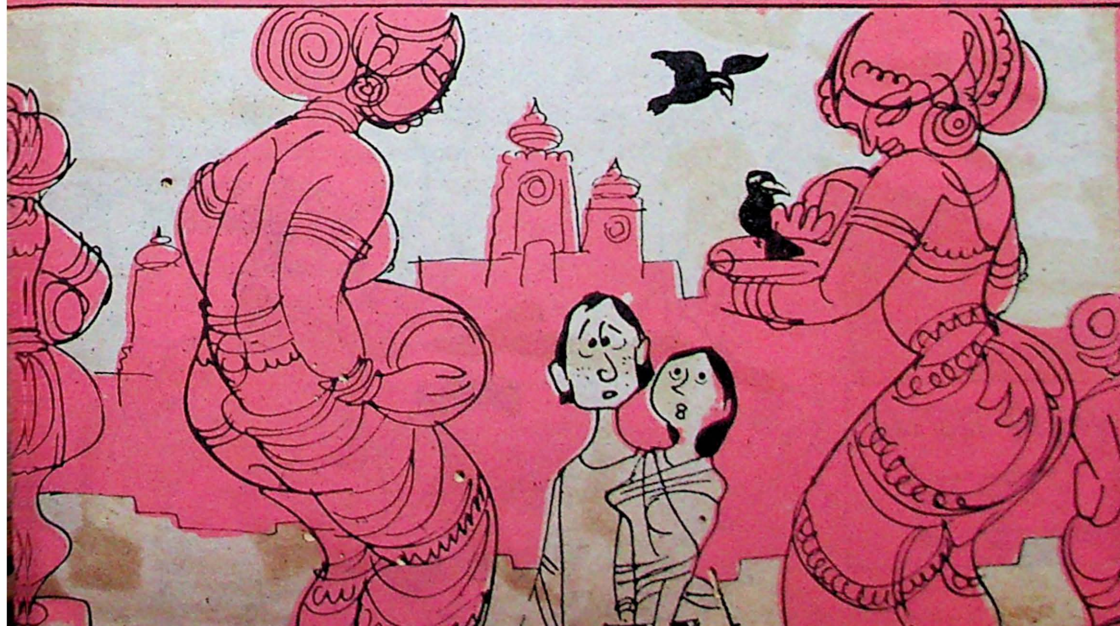
अनुक्रमणिका



मद्रासी
प्रेम की 'इडली'



बंगाली
'मजनू' प्रेम



ओडीसा का
'उडता' प्रेम


घोषवाक्यों की
'इमरजन्सी'
कम बोलो
'कृति करो
GOLD BOND
GOLD BONDS
सोना दो
सुरक्षा
खरीदो
करे
युद्धका
है
तुम्हारे धनकी
राष्ट्रको
जरूरत है

अनुक्रमणिका

प्रति कृतज्ञता—सी प्रतीत होने लगी थी और सहानुभूति भी...।

अतीत को दुहराने से क्या लाभ? अब मैं ही तो हूँ सदानंदके सपनोंकी रानी? अब तो मेरी ही राह देखता है न वह? शायद आज भी राह देखी होगी उसने? आज हमारा मिलना पक्का जो था लेकिन वर्षा के कारण घरमें ही रुकना पड़ा। लेकिन वह क्यों नहीं आया? बारिश...आँधी किसीकी परवाह न करके उसका यहाँ आना बिल्कुल आसान था। कौन था उसे रोकनेवाला? या शायद मुझपर गुस्सा हो गया हो? सुनीताका वह एक सपना था...बिना वजह वह गुस्सा हो जाये ....जिद करे...। वर्षा कम हुई थी। सुनीतासे न रहा गया। उसने रेनकोट पहना और बाइसिकल निकाल वह उसके पास जानेको बाहर निकली...।

सदानंद घरमें ही था। टेबल के पास बैठा नाइट लैंप के मंद प्रकाशमें कुछ पढ़ रहा था। लेकिन अकेला नहीं...साथ और भी था कोई कमरेमें बैठा हुआ। कौन? यह समय यथार्थ में एक-दूसरे में खो जाने का था। खुदको भूल औपचारिकता के बंधन-मुक्त हो खुदको भूल एक दूसरे में घुल-मिल जाने का, एकदूसरे के स्पर्शसे चंचल हो जाने का और ऐसे समय में यह तीसरा कौन? दरवाजा खुला होते हुए भी उसने दस्तक दी। उसने सोचा था कि अगले ही क्षण वह सदानंद को वह अपनी ओर मुड़कर देखते हुए पाएगी। क्या उसकी नज़रोंमें रुसवाई होगी? या देखकर भी दुर्लक्ष करेगा? लेकिन सदानंद स्वागत के स्वरोंमें कह रहा था, "आओ"। मानों उसने सुनीताकी तनिक भी राह न देखी हो। मानों सुनीताने बिलकुल देर न की थी मगर वह इतना शांत क्यों? सुनीता किंचित् खिन्न सी हुई। और चुपचाप अंदर आकर बैठ गई।

"भींग गई?" उसने पूछा। और सुनीताने इशारे से ही "ना" कह दिया। "इतनी भारी वर्षा में क्यों आई?" अगला प्रश्न था। "क्यों? मुझे नहीं आना चाहिये था? क्रोधके घूंट पीकर उसने पूछा। "यह बात नहीं? मैंने सोचा था कि, बारिश की वजह से शायद तुम न आओगी।"

और यह सोच उसने राह देखना छोड़ दिया था। मानव इतनी शीघ्रतासे कैसे निर्णय कर लेता है? वह नाराज थी मगर कमरेमें कोई और भी था...सो वह कुछ न बोल सकी।

"अरे! तुम दोनों की जान-पहचान कराना तो मैं भूल ही गया। यह है वामन गोखले...मेरा मित्र। पूनेमें रहता है-चंद दिनों के लिये इसका यहाँ तबादला हुआ है...।" और वामनकी ओर मुड़कर वह बोला—"यह सुनीता—"

उसने नमस्कार के लिये हाथ जोड़े और खामोशसा बैठ गया। सीधी तरहसे उसने वामनका चेहरा तक देखा नहीं। अब तो सदानंद समझ लेगा कि मैं नाराज हूँ। अब उसके शब्दों और उसके स्वरोंमें अनुनय होगी। किन्तु उसकी नाराजगी सदानंद समझ नहीं पाया था। वह सहेज-भाव से ही बातचीत कर रहा था।

"आज सारा दिन क्या करती रही?"

"कुछ नहीं।" वह नहीं चाहती थी कि सदानंद इस प्रकारके प्रश्न पूछे।

"तो भी?"

"कुछ खास नहीं।"

"खैर छोड़ो....।" सुनीता के उपेक्षापूर्ण वर्ताव से भी वह न नाराज हुआ न अस्वस्थ। स्वर में कोमलता थी।

"यह गजरा कहाँ से लिया?"

अब कहीं सुनीताके जीमें जी आया।

जवाब था-"कलही खरीद रखा था, आज आते समय बालों में लगानेके लिये।" लेकिन वामन वहाँ था। उसकी उपस्थिति में यह सब कैसे कह दे? क्या यह यहीं बैठा रहेगा? तो मेरा यहाँ आना फिजूल हुआ। क्या सदानंदको इसकी उपस्थितिसे कोई एतराज नहीं।

—सदानंद और वामन में वार्तालाप जारी था। सुनीताकी उपस्थिति मानों सदानंद भूल ही गया था।...वह एक अंग्रेजी-पत्रिका के पन्ने उलटती चुपचाप बैठी रही। मगर कान उनका संभाषण सुन रहे थे।

"माँ ठीक है न? सुभाष इस साल इंटर में होगा? आशा कैसी है?" सदानंद के इन प्रश्नों का वामन जवाब दे रहा था। कुछ देर बाद वामन बोला, "परसों कुसुम मिली थी।"

"कैसी है?"

कुसुम कौन? हाँ, उसका नाम कुसुम भागवत था। शायद वही होगी। सुनीता अस्वस्थ सी हो उठी...। लेकिन सदानंद ने उसके प्रति किसी प्रकारकी उत्सुकता नहीं प्रकट की। यह देखकर सुनीता मन ही मन खुश हुई। लेकिन वही लड़की...या कोई दूसरी...? नहीं,...नहीं। मेरी ही जीत हुई है ...और अंत तक जीत मेरी ही होनी चाहिए। सदानंद का प्रमुख आकर्षण मुझे ही बने रहना होगा।

वामन कहीं गया हुआ था। मौका देखकर उसने कहा—

"अच्छा तो अब मैं चलूं?"

"जा रही हो? इतनी जल्दी? जरा ठहरोगी नहीं?।" यह आग्रह नहीं था लेकिन नाराजगी भी नहीं थी।

"कल आओगी न?"

"आऊं? यदि रोज आने लगी तो तुम्हारा मित्र क्या समझेगा?"





घोषवाक्यों की 'इमरजन्सी'

कम बोलो कृति करो

सोना दो सुरक्षा बॉ
खरीदो

तुम्हारे धनकी राष्ट्रको जरूरत है

प्रति कृतज्ञता—सी प्रतीत होने लगी थी और सहानुभूति भी..।

अतीत को दुहराने से क्या लाभ? अब मैं ही तो हूँ सदानंदके सपनोंकी रानी? अब तो मेरी ही राह देखता है न वह? शायद आज भी राह देखी होगी उसने? आज हमारा मिलना पक्का जो था लेकिन वर्षा के कारण घरमें ही रुकना पड़ा। लेकिन वह क्यों नहीं आया? बारिश...आँधी किसीकी परवाह न करके उसका यहाँ आना बिल्कुल आसान था । कौन था उसे रोकनेवाला? या शायद मुझपर गुस्सा हो गया हो? सुनीताका वह एक सपना था...बिना वजह वह गुस्सा हो जाये ....जिद करे...। वर्षा कम हुई थी । सुनीतासे न रहा गया । उसने रेनकोट पहना और बाइसिकल निकाल वह उसके पास जानेको बाहर निकली...।

सदानंद घरमें ही था । टेबल के पास बैठा नाइट लैंप के मंद प्रकाशमें कुछ पढ़ रहा था। लेकिन अकेला नहीं...साथ और भी था कोई कमरेमें बैठा हुआ । कौन? यह समय यथार्थ में एक-दूसरे में खो जाने का था। खुदको मूल औपचारिकता के बंधन-मुक्त हो खुदको भूल एक दूसरे में घुल-मिल जाने का, एकदूसरे के स्पर्शसे चंचल हो जाने का और ऐसे समय में यह तीसरा कौन? दरवाजा खुला होते हुए भी उसने दस्तक दी । उसने सोचा था कि अगले ही क्षण वह सदानंद को वह अपनी ओर मुड़कर देखते हुए पाएगी। क्या उसकी नज़रोंमें रुसवाई होगी ? या देखकर भी दुर्लक्ष करेगा? लेकिन सदानंद स्वागत के स्वरोंमें कह रहा था, "आओ"। मानों उसने सुनीताकी तनिक भी राह न देखी हो । मानों सुनीताने बिलकुल देर न की थी मगर वह इतना शांत क्यों ? सुनीता किंचित् खिन्न सी हुई । और चुपचाप अंदर आकर बैठ गई।

"भींग गई?" उसने पूछा । और सुनीताने इशारे से ही "ना" कह दिया । "इतनी भारी वर्षा में क्यों आई?" अगला प्रश्न था । "क्यों? मुझे नहीं आना चाहिये था? क्रोधके घूंट पीकर उसने पूछा । "यह बात नहीं ? मैंने सोचा था कि, बारिश की वजह से शायद तुम न आओगी ।"

और यह सोच उसने राह देखना छोड़ दिया था । मानव इतनी शीघ्रतासे कैसे निर्णय कर लेता है? वह नाराज थी मगर कमरेमें कोई और भी था...सो वह कुछ न बोल सकी ।

"अरे! तुम दोनों की जान-पहचान कराना तो मैं भूल ही गया । यह है वामन गोखले...मेरा मित्र । पूनेमें रहता है—चंद दिनों के लिये इसका यहाँ तबादला हुआ है...।" और वामनकी ओर मुड़कर वह बोला—"यह सुनीता—"

उसने नमस्कार के लिये हाथ जोड़े और खामोशसा बैठ गया । सीधी तरहसे उसने वामनका चेहरा तक देखा नहीं । अब तो सदानंद समझ लेगा कि मैं नाराज हूँ । अब उसके शब्दों और उसके स्वरोंमें अनुनय होगी। किन्तु उसकी नाराजगी सदानंद समझ नहीं पाया था । वह सहेज-भाव से ही बातचीत कर रहा था।

"आज सारा दिन क्या करती रही ?"

"कुछ नहीं।" वह नहीं चाहती थी कि सदानंद इस प्रकारके प्रश्न पूछे।

"तो भी ?"

"कुछ खास नहीं ।"

"खैर छोड़ो....।" सुनीता के उपेक्षापूर्ण बर्ताव से भी वह न नाराज हुआ न अस्वस्थ । स्वर में कोमलता थी ।

"यह गजरा कहाँ से लिया ?"

अब कहीं सुनीताके जीमें जी आया ।

जवाब था—"कलही खरीद रखा था, आज आते समय बालों में लगानेके लिये ।" लेकिन वामन वहाँ था । उसकी उपस्थिति में यह सब कैसे कह दे? क्या यह यहीं बैठा रहेगा? तो मेरा यहाँ आना फिजूल हुआ । क्या सदानंदको इसकी उपस्थितिसे कोई एतराज नहीं ।

—सदानंद और वामन में वार्तालाप जारी था । सुनीताकी उपस्थिति मानों सदानंद भूल ही गया था ।.. वह एक अंग्रेजी-पत्रिका के पन्ने उलटती चुपचाप बैठी रही । मगर कान उनका संभाषण सुन रहे थे ।

"माँ ठीक है न? सुभाष इस साल इंटर में होगा? आशा कैसी है?" सदानंद के इन प्रश्नों का वामन जवाब दे रहा था। कुछ देर बाद वामन बोला, "परसों कुसुम मिली थी ।"

"कैसी है ?"

कुसुम कौन? हाँ, उसका नाम कुसुम भागवत था । शायद वही होगी। सुनीता अस्वस्थ सी हो उठी ...। लेकिन सदानंद ने उसके प्रति किसी प्रकारकी उत्सुकता नहीं प्रकट की । यह देखकर सुनीता मन ही मन खुश हुई । लेकिन वही लड़की...या कोई दूसरी...? नहीं,..नहीं । मेरी ही जीत हुई है ...और अंत तक जीत मेरी ही होनी चाहिए । सदानंद का प्रमुख आकर्षण मुझे ही बने रहना होगा ।

वामन कहीं गया हुआ था । मौका देखकर उसने कहा—

"अच्छा तो अब मैं चलूं?"

"जा रही हो? इतनी जल्दी? जरा ठहरोगी नहीं?।" यह आग्रह नहीं था लेकिन नाराजगी भी नहीं थी ।

"कल आओगी न?"

"आऊं? यदि रोज आने लगी तो तुम्हारा मित्र क्या समझेगा?"

"नहीं नहीं। उसकी तुम बिलकुल फिक्र मत करो । उसे सब कुछ ज्ञात है ।"

सब कुछ याने ? सिर्फ मेरे बारे में ही क्या? लेकिन सदानंदकी तो यह हमेशा की ही आदत है ...अधूरे विधान करना...। उसे छेड़ना व्यर्थ था । सुनीता नहीं चाहती थी कि वही विषय फिरसे दोहराया जाये ।

"मेरे बारे में आपने कुछ कहा उससे?"

"नहीं तो? इसमें कहने की क्या बात है ?"

वह कई बार सोचती कि शादीसे पहले ही मेरे बारेमें सदानंद अपने मित्रों से कुछ कहे...भावना में बहकर...जैसे नीलाको मैंने खुशीसे झूमते हुए सदानंद के बारे में कहा था । और सदानंद कहता है, "इसमें कहने की क्या बात है?" इतनेमें वामन लौट चुका था...और सदानंद से कहने लगा—"मैं जरा बाहर हो आता हूँ ।"

"जरा ठहरो तो । हम दोनों साथ चलेंगे !"

बारिश थम चुकी थी । ऐसे उजले नम मौसम में, वह, सिर्फ सदानंद का साथ चाहती थी ।

"नहीं भाई...मेरी क्या आवश्यकता है? तुम ही अकेले चले जाओ न...।" शरारतपूर्ण स्वर में वामन ने कहा...। सुनीता को यह अच्छा लगा ..। वामन उसे अपना—सा लगा। इतनी देर के बाद पहली बार उसने वामनकी तरफ नजर उठाकर देखा...। कितना हंसमुख था उसका चेहरा । मानों अपने मनके भावोंको छिपाना वह जानता ही नहीं था । मनका आईना था उसका चेहरा । क्या सचमुच वह अपने मन के भाव प्रकट करता है या...। और यह विचार मन में आते ही वह सहम गई ।

"चलो—चलें ।" सदानंद कह रहा था ।

"सुनो, घर लौटने की जल्दी में न रहना ।" सीढ़ियोंसे उतरते-उतरते वामनने सदानंद से कहा ।

☆ ☆ ☆ ☆

उस घटना के बाद सुनीता कई बार सदानंद के घर गई । अब वामन उसे अपना—सा लगता था । उन दोनोंमें हँसी-मज़ाक चलता रहता...बिलकुल परायापन न रहा । वह चाहती थी कि सदानंदकी प्रेयसी के नाते सारा-ज़माना उसकी ओर देखे और ऐसी नज़रोंसे देखनेवालोंमें वामन ही पहला था । कई बार सदानंद घरमें नहीं होता— ऐसे समय उनकी बात-चीत का विषय सदानंद ही होता था। सदानंद का घर..उसकी सोलह सालकी गुड़िया सी छोटी बहन—उसके अन्य मित्र जिनका संक्षिप्त परिचय उसे सदानंद की बातों के दौरान हुआ था—उनके प्रति पूरी जानकारी उसने वामनसे ही पाई थी। मगर दूसरी ही एक बातकी उत्कंठाने मनको घेर लिया था । कैसी होगी वह ? सदानंदकी और उसकी जान-पहचान कैसे हुई? वे एक दूसरेसे क्यों बिछुड़ गये? उसकी शादी हुई या नहीं ? आदि बातें क्या वामनको ज्ञात होंगी ? और यदि न हों तो उसे इसकी जानकारी क्यों दे ? फिर भी वामन को इस बारे में पूछने में उसे हीनता महसूस हो रही थी । लेकिन कौतुहल—उत्सुकता बढ़ती ही रही ।

एक शाम वह सदानंद के घर गई । उसे देखते ही सदानंदने कह दिया—"सॉरी सुनीता, मुझे बहुत जरूरी के काम के लिये बाहर जाना है, कल तुम्हें बताना मैं भूल ही गया ।"

"अरे, कहाँ जा रहे हो, बताओ तो सही ।" वामन ने कहा।

हाँ, सदानंद हमेशा ऐसे ही तो करता है, 'नाराज़ न होना' ऐसा तो कहता...मगर वह भी नहीं ...।

सदानंद के जानेके बाद उन दोनों में कुछ गपशप चली । आखिर वामनने प्रस्ताव रखा—"यदि आपको एतराज़ न हो तो कहीं बाहर घूमने चलें ।"

"चलिये ।"

संध्याका सुहाना समय था ...घने पेड़ोंकी परछाइयोंके बीच बहनेवाली नदीकी तरह, रास्ता नज़र आ रहा था ।

"क्या इसी रास्ते से हमेशा आप..?"

"हाँ ।" कुछ सकुचाकर उसने उत्तर दिया ।

"सदानंदको पहले से ही एकांतकी चाह रही है ।"

सुनीताका दिल भर आया । कई बार वह सदानंद के साथ इसी रास्तेसे गुज़री थी । सदानंद बातें करता रहता कभी-कभी उसे अपने निकट खींच लेता...उसका शरीर रोमांचित हो उठता.. उस स्पर्शगंधमें वह मस्त होकर खुदको खो बैठती. ..किन्तु उसकी समझमें यह कभी नहीं आया कि सदानंद स्वयं को कैसे तत्काल ही सम्हाल लेता ? वह चाहती...उसी अनोखे आवेगसे उसके कदम थम जाएं..प्रेमार्द्र मदभरी नज़रोंसे वह उसकी ओर देखे..उसका स्पर्श ऐसे ही सुध-बुध भुलाये रखे ।

"क्या, वे शुरू से ही ऐसे शांत स्वभावके रहे हैं ?" उसने मनकी भावनाओं को छिपाते हुए पूछा ।

"हाँ—लेकिन आजकल तो बहुत ही खामोश—सा—खोया—खोया सा रहने लगा है ।"

"क्यों?"

"इन चार बरसोंमें उसे अनेक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी हैं बहुत कुछ सहना पड़ा है । और अब उस आगसे जल-भुनकर खाक-सा बन गया है ।"

"ऐसा क्या घटित हुआ है उसके जीवन में ?"

"कुसुम की और उसकी बनी नहीं..." पलभर रुककर उसने पूछा –"लेकिन आपको तो सारी बातें मालूम ही होंगी ?"

"जी—सब कुछ जानती हूँ ।" झूठमूठ ही कह दिया उसने । क्या इससे पूछूं ? बुरा तो नहीं लगेगा न ?" मन सशंक हो उठा ।

उसका 'सरनेम, भागवत था न?" उस विषय को आगे बढ़ाते उसने पूछा ।

"हाँ ।"

"पूना की ही थी?"

"हाँ–उसके पड़ोस में ही रहती थी ।"

"उनके साथ ही कालेज में जाती थी ?"

"ऊंहूं । उसने कभी कालेज का मुंह तक नहीं देखा था । वह एम. ए. कर रहा था । न जाने कैसे उसके जादूमय जालमें यह फँस गया । पढ़ाईकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं था उसका ।"

सुनीता आंतरिक-वेदनासे सिहर उठी । फिर भी वेदनाओं को छिपाते उसने पूछा–"आपकी उससे जान-पहचान तो होगी ही?"

"हाँ–बहुत थी । मैं ही तो एक मेव गवाह हूँ इस कहानी का ।" हंसकर उसने जवाब दिया । जिस दिन उसे उसकी सहमती मिली उसी रात वह सीधे मेरे पास आया था।" आधी रात ढल चुकी थी..और कहने लगा–"चलो घूमने चलें । और हम दोनों पौ फूटने तक यूँही भटकते रहे । बिना रुके वह अकेला ही बोलता जा रहा था । विषय भी एक ही था।

सुनीताकी छातीपर जैसे साँप लोट गया।

"आजकल वह न कभी दिल खोलकर बातें करता है न कभी किसीपर नाराज होता है । मुझे याद है कि एक दिन कुसुमको आनेमें थोड़ी सी देर हुई । आँखोंमें प्राण लाकर उसने राह देखी... अस्वस्थ हुआ था ...और फिर आग बबूला भी हो गया था । बेचारीने उसे समझाने की बहुत चेष्टा की—मगर यह एक अक्षर भी बोलने को राजी नहीं था –आखिर थककर वह चली गई । दूसरे दिन उल्टा प्रकार हुआ । वह नाराज हुई थी और यह उसे समझाने की कोशिश कर रहा था ।"

सुनीता ने सोचा यहीं विषय बंद हो जाए तो अच्छा...इससे वेदना और बढ़ेगी...लेकिन उत्कंठा स्वस्थ बैठने देना नहीं चाहती थी । "कैसी थी वह?"–सुनीताने पूछा ।

"साँवली ही थी...आँखें भी छोटी थीं । केशकलाप काफी था । उसका फोटो देखा होगा आपने? बहुत से फोटो थे सदानंद के पास ।"

"देखूंगी"–साहस बटोरते सुनीताने जवाब दिया ।

"शायद अब नहीं होंगे । लेकिन बहुत दिनों तक उसके खत तो पास थे इसके ।"

"फिर शादी क्यों नहीं की?"

"मामला क्या हुआ, यह तो मैं नहीं जानता । लेकिन, उस दिन और बाद कई महिनों तक यह बिल्कुल पागल हो चुका था—हम सब मित्र चिन्तामें घुल रहे थे—इसे समझाना हम लोगों के बसकी बात नहीं रही थी । फिर एक दिन होशमें आ गया। लेकिन पहला सदानंद कहीं खो गया था। गहरी चोटका निशान रह गया था,–बल्कि चोट बुझ गई..यह भी क्या कम हुआ ? मेरी राय है, शायद आपकी मुलाकातसे ।"

"नहीं तो, मैंने कुछ भी नहीं किया ।"

"यह आपका बड़प्पन है—आपसे मुलाकात हुई और वह पुरानी बातें भूल सका ।"

श्रेय उसका था, मगर स्वीकारना नहीं चाहती थी । वह ख्वाबों में खो गई थी । किसी अन्य बात की आस थी—। बल्कि अब समझ चुकी थी...उसकी ख्वाहिश कभी पूरी होनेवाली नहीं है । वह कुछ खो चुकी थी ।

"मेरे बारेमें कुछ कहा था उन्होंने?" फिर भी उत्सुकता से उसने पूछा ।

"नहीं । आजकल वह दिल खोलकर बातें ही कहाँ करता है? छः महीने हो गये तुम दोनों की प्रीतिको–लेकिन आपका उल्लेख तक उसने कभी नहीं किया था । उस दिन आपको देखकर मैंने पूछा...उसकी मसखरी की फिर भी यह खामोश ही रहा । लेकिन उसके कहने की जरूरत ही क्या है ? आपके चेहेरेसे सब कुछ समझमें आ सकता है ।"

"सच?"

"हाँ सच कह रहा हूँ—आप कुछ छिपा नहीं सकतीं ।"

"सच है । मनकी बातोंको छिपाना मैं नहीं जानती । मेरा यह पहला-पहला प्रेम है । गहरी चोट के बाद बहनेवाले ताज़े लाल खून की तरह—जिसे रोकना मुश्किल है ।" और यह कहते-कहते उसका गला रुँध गया । फिर भी आँसू पीकर उसने उससे पूछा -"यदि उसी जगह फिरसे चोट लग गई तो क्या खून बहता ही नहीं ?"

"कौन जाने? मैंने तो अभी तक पहला प्रेम भी नहीं किया है । मगर जब करूंगा तो सर्वस्व बिखेरकर...खुदको भूलकर.. यौवनकी मदभरी मस्तीमें मस्त होकर करूंगा ...। "

उसके स्वरोंमें आवेग था...उत्कटता थी ।

"कैसा होगा वह प्रेम?" सुनीताने मनसे पूछा ।

* * *

"पहलेके सदानंदकी प्रीतिकी तरह ।" प्रतिसाद आया । वह अतीत का सदानंद चाहती थी । प्रेम साफल्य की वार्ता मित्रको कहनेके लिये मध्यरात्रीकी भी परवाह न करनेवाला उसे सदानंद चाहिये था । आँखोंमें प्राण लाकर प्रेयसीकी राह देखनेवाला... उसकी अनुपस्थितिसे नाराज होनेवाला...प्रेयसीकी रुसवाईपर अनुनय करनेवाला—एकांतमें उसके फोटो परसे नजर न उठानेवाला...उसके खतोंको रटनेवाला——। लेकिन उसने देखा था प्रेयसीके चले जानेपर जलभुनकर खाक बना हुआ..विह्वल बना हुआ...विरागी सदानंद । उसके बहते हुए लाल खूनसे उसे शांति मिली...लाल खूनकी लहरसे वह भीग उठी । जीत उसकी हुयी ... मैं हार गई हूँ । अब न शब्दों में काव्य रहा है, न गहरा रंग छिपा है । गंधमें न उन्माद बाकी रहा...न स्पर्शमें आस है । सदानंदके इस रूपके काँटोंसे वह घायल हुई—दिलपर गहरी चोट लग गयी ।

शब्दों के काव्यों का प्राशन उसने किया... मेरे लिये बचे हैं केवल रूखे-सूखे शब्द ...। रंग उड़ गया है....गंध नष्ट हुआ... न शब्द में जादू रहा है। सिर्फ़ रहा है प्रेम। और इस विचार से वह घबरा गई। उस रात सदानंदने मुझे गले लगाया था... आलिंगन दिया था मगर बिना रोमांचित होते हुए। मुझे स्पर्श करनेवाले वे हाथ अनजाने नहीं थे। जीत उसकी हुई है... मैं हारी हूँ। उसने सदानंद को मेरे अधीन किया लेकिन विरागी सदानंद को ....।

सुनीता अतीतका सदानंद चाहती थी।

* * * *

उसके बाद सुनीता सदानंद के घर जाती रही। मगर पहलेकी आस नहीं थी। अब न उसके स्पर्श से रोमांचित हो उठती न समयका ख्याल भूलती थी....। वह कल्पना से खींचे हुये पुराने सदानंदकी छवि को स्पर्शों में... शब्दों में खोजती-ढूंढती थी... और निराश हो जाती। वह मन ही-मन जल रही थी शमाकी तरह। सदानंदसे ये बातें छिपाना नहीं चाहती थी, न छिपा सकती थी... फिर भी मजबूर थी। वह चाहती सदानंद अपने आप समझ जाए...मुझे सँवारे नहीं तो —। अब जीना उसे असह्य हो रहा था। वामनने पूछा—"क्या तबीयत ठीक नहीं है?" वह भी समझ गया मगर सदानंद को क्यों मौन स्वीकार है? अब दुख सहना उसके लिये पहाड़ हो गया था। सचमुच सदानंद उसे भूला है....? या उसे जो दिया वे बातें किसी और को न देनेकी ठान ली है उसने? कौन-सी खास बात थी उसमें? क्या मैं उसके बराबर की नहीं हूं? इस प्रकारके प्रश्नों के तूफान में छटपटाने लगी। सदानंद से पूछने को जी चाहता, मगर इस संबंध में उसने सदानंद से कभी बातचीत तक नहीं की थी और पूछने में अपमान भी महसूस होता था।

कभी-कभी सदानंद घरमें नहीं होता तब वह वामन पर उत्सुकतासे प्रश्नों की बौछार करती— और प्रश्न भी पागल जैसे होते —।

"क्या वह मुझसे खूबसूरत थी?"

"नहीं। आप कदमें ऊंची हैं और आपकी आँखें भी बड़ी हैं।"

"स्वभाव कैसा था?"

"बिलकुल मीठा...। भोली-भाली थी... किसी पर नाराज तक न हो सकती थी।"

"मैं भी कहाँ नाराज होती हूँ?"

"अक्षर कैसे थे?"

"छोटे बालक की तरह।"

"मेरा भी अक्षर अच्छे हैं।"

"किस बात का शौक़ था उसे?" सिलाई का, सिनेमा-नाटक देखनेका या गाने का?"

"सीना-बुनना उसे आता था, नाटक-पिक्चर भाता था...और गाती भी बहुत खूब थी।"

"उसके माँ-बाप कैसे थे? बहुत अमीर?"

"उसकी रहन-सहन कैसी थी?"

और इन प्रश्नों के उत्तरों से एक भोली-भाली लड़की साकार होती थी। "क्या था, मुझसे बढ़कर उसमें?" मुझ में भी कुछ अनोखापन होगा...लेकिन उसके साक्षात्कार के लिये नयी आँखें होनी चाहिये...नूतन बालक की तरह निष्पाप-जिसमें पूर्व स्मृतियोंकी परछाईं नहीं होनी चाहिये। लेकिन सदानंद ने ऐसी नजरों से कभी लाड़ प्यार न किया था—न कभी कहा था कि, "आज तुम खूब-सूरत दिखाई देती हो।" एक बार सुनीता बसंती रंगकी साड़ी पहने गई थी। उस रंगसे वामनका दिल बहल गया — लेकिन सदानंद ने केवल कहा —"साड़ी अच्छी है।" एक दिन वह गुनगुना रही थी। वामन ने उसकी प्रशंसा की मगर सदानंदके कानोंपर जैसे जूं रेंगी थी। वह खुदकी और सदानंदकी तुलना करने लगी। और साथ-साथ सदानंद और वामनकी भी। वामन सदानंदकी तरह खूबसूरत न होगा ..अक्लमंद न होगा लेकिन उसकी आँखें हमेशा नवीनता की खोजमें होतीं ..। उनपर पूर्व स्मृतियोंकी परछाइयाँ न होती थीं। उसने कहा था कि—"मैंने अभी तक पहला भी प्रेम नहीं किया है। लेकिन जब करूंगा तो सर्वस्व खोकर...मस्तीमें झूमकर खुदको गँवाकर करूंगा।"

"कैसा होगा वह दिव्य-प्रेम?" सुनीता ने मनसे पूछा।

* * * *

भारी तूफान था — पेड़ सूख गये। सूखे पत्ते आँधीमें फँस गये। तूफान का जोर और भी बढ़ गया—अचानक आसमानसे वर्षा होने लगी... वातावरण शांत हुआ। पेड़-पत्ते नव-चैतन्यसे नहाये जाने लगे। बारिश हो ही रही थी... उस वर्षामें आवेग था।

—सदानंद के कमरे में वामन से पहली मुलाकात हुई उस वक्त भी ऐसी ही वर्षा हो रही थी। क्या उस वर्षासे वामन का दिल भींग उठा होगा? क्या, किसी की राह देखी होगी उसने? उस वक्त मैंने राह देखी थी...मगर सदानंद की...। और अब यह परिवर्त्तन कैसे हुआ...? वह भी नासमझ थी... और खुदको सँवारने पर वह मजबूर थी। मनोकामनाओंको काबूमें रखना मुश्किल था। किसी आससे वह अनजाने ही तड़पने लगी ...दिन धड़कने लगा...।

—आज निश्चित ही सदानंद घरपर नहीं होगा। कल ही उसने जता दिया था। शायद वामन होगा...? क्या वह सुनेगा मेरी पुकार? मान जाएगा मेरा कहना...? स्थिर रहेगा... या नाराज हो जायगा —? कुछ भी हो मगर अब छिपाना मुश्किल है। पानीसे भर बादलोंको कोई रोक सकता है?

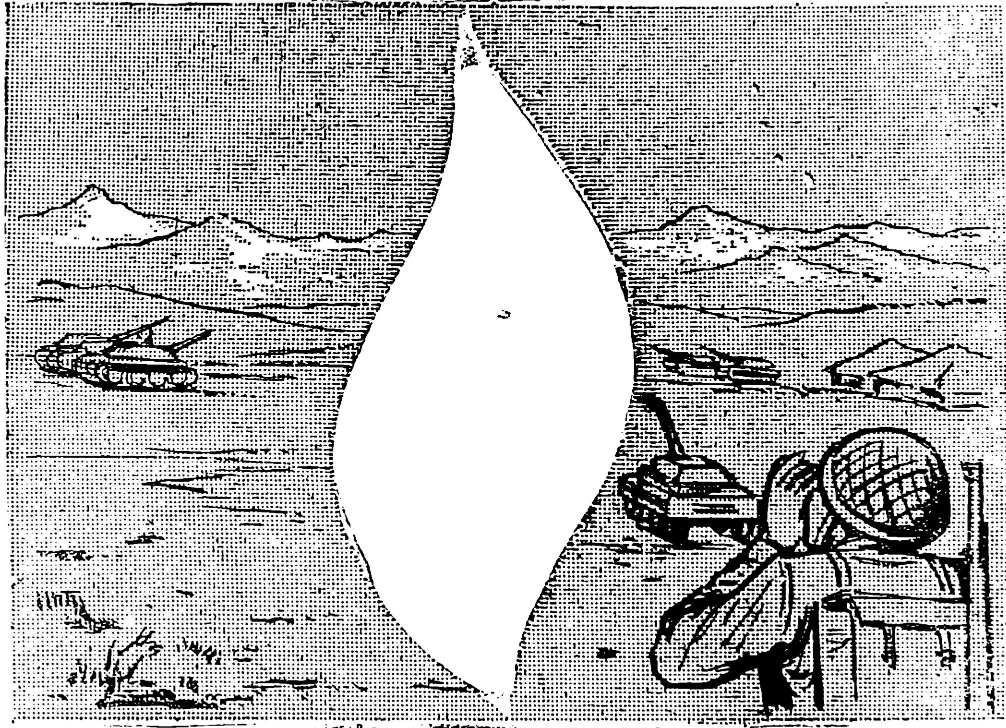
कमरा स्निग्ध प्रकाशसे प्रकाशित हो उठा है... उस रोशनीमें वामन का उजला मुखड़ा दिखाई देता है...। वामन उसकी आहट पहचानता है.... उसके शब्द सुनता है... उनके अर्थसे उसके मन की संवेदना कंपायमान होती है...। वह सिर्फ "आओ" कहता है। बस उसी एक शब्दमें काव्यसा जादू भरा हुआ है। अंधःकार और भी घना गहरा हो जाता है। गंध उन्मादसे भर जाती है... और उस अधूरे स्पर्श के भी एक धार होती है....।

उस स्पर्शसे यदि वह घायल न हुआ तो? रोमांचित न हुआ तो?

वर्षा हो रही थी। थकी-माँदी सुनीता घरपर ही बैठी रही। सोच रही थी...ताजे पानी की पहली लहरसे यह रास्ता किस प्रकार रोमांचित हुआ होगा...

रूपा: **सुनंदा देशपाण्डे**

ज्योत प्रज्वलित रखिये...



.......यह वह ज्योत है
जो हमारे हृदय में प्रज्वलित हुई है,
तथा जिससे हिमालय पर मंडरानेवाले मेघों को हटाया
जा सकेगा और अंधेरे को हमेशा के लिए दूर किया जा मकेगा।
इस दिवाली के अवसर पर,अपने कर्तव्यों का पालन करने का दृढनिश्चय
कर हम उस पवित्र ज्योत के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त कर
सकते हैं। अधिक काम और कम खर्च करते हुए
हमें अपनी मातृभूमि के लिए अपना सर्वस्व
समर्पण करना चाहिए।

शन संचालक, महाराष्ट्र शासन, बम्बई।

भय्या सहम गया।
उसने ऊपर की तरफ़ देखा।
चाँद की रोशनी में दिखनेवाली
धुँधली छाया
तीसरे मंज़िलेपर से आई थी।
उस अंधेरे में भी उस औरत की
आँखें चमक रही थीं!
बिलकुल किसी देवी की
मूर्तिपर लगी कौड़ीकी आँखें—

भय्या गणपति की तस्वीर को रोल करके हाथ में पकड़े जब घर लौटा तब शाम हो चुकी थी। उस अपरिचित शहर में दो-तीन बार रास्ता भूल जाने के कारण उसके पाँवों में दर्द था। किसी होटल की चाय उसके पेट में उपस्थिति जता रही थी। जो कुछ उसके समधी के घर हुआ था उससे उसका सर चकरा रहा था। घर लौटने में भी उसे डर लग रहा था। घर के बदले और किस जगह जाये, यह भी उसे सूझ नहीं रहा था। होटल में, पार्क पर, चौराहे के फुटपाथ पर, थियेटर के सामन अपना वक्त जाया करने से वह तंग आ गया। उसका जी चाहता था कि अपने समधी के घर के दरवाज़ पर सारी रात विताए। पर शायद कोई उसको वहां रहन न दे तो। उसकी ओर ध्यान देन की अवस्था में वहां कोई नहीं था। आखिर खुद को घसीटता वह घर लौटा।

जो कुछ जगह उसको मिली थी उसे घर थोड़े ही कहा जा सकता था। बड़ी कोठी न मिलने के कारण एक गरीब जनाब ने मारवाड़ी की शर्तों पर उसको दो कमरे, एक छोटा-सा बरामदा और छोटा-सा आंगन दो दिनों के लिये किराये पर दिया था। आंगन में मंडप लगाया हुआ था। दीये जलाये गये थे। बैठक का इन्तजाम किया गया था। बरामदे में औरतों की चिल्लाहट गूंज रही थी। दो-चार मर्दों का भोजन जारी था। बरामदे से आंगन में कूदने का बच्चों का खेल चालू था। आसन जमाये नानासाहब पंडितजी के साथ शादी की धार्मिक–विधि के बारे में बहस किये जा रहे थे।

ट्यूब लाईट की ज़गमगाहट तथा बच्चों का जमघट देख कर भय्या पूरी तरह सहम गया! शादी की गड़बड़। नारियलों का थैला, बड़ी-बड़ी कढ़ाइयां लेकर आये हुए खुले बदनवाले रसोइये, साड़ियों की गिनती करनेवाली औरतें, बार बार चाय पीने वाले मर्द, अनोखे रिश्तेदार तथा अनगिनत बच्चे। भय्या चौंक उठा। उसके ससुर शादी के गोरज मुहूर्तपर फब्तियाँ कस रहे थे। उसकी पत्नी भेंट की जानेवाली साड़ियों में देनेवालों के नामों की चिठ्ठियां लगा रही थी। उसके दो साले रसोइयों की मदद कर रहे थे — लेकिन केसकर के यहाँ तो ऐसा कुछ नहीं था। भय्या की





लड़की की शादी केसकर के लड़के के साथ होनेवाली थी – परसों सूरज के उगते ही । — पर केसकर के यहाँ मिठाइयां अभी तैयार होनेवाली ही थीं । केसकर की बड़ी कोठी के सामने बड़ा आंगन था तो भी अब तक मंडप डाला नहीं गया था । चाय, नाश्ता, ट्यूबलाईट्स, लोगों की भीड़, शादी की गड़बड़—कुछ नहीं था । वहाँ के लोग अपनी गरदनें नीचे किये परछाइयों की तरह हिल रहे थे । सन्नाटा छाया हुआ था ।

मंडप में ही एक कोने में पुराने बेंच पर मय्या बैठ गया । किसी ने उसकी ओर ध्यान तक नहीं दिया । नानासाहब ने उसकी ओर एक निगाह डाली और वे पंडितजी की बातें सुनने लगे । उसकी पत्नी ने अपने दोनों भाइयों को बुलाया और बाजार की ओर दौड़ाया । चित्रा अपनी सहेलियों के साथ लौटी और शोर मचाये वे सब अंदर गयीं । कूदनेवाले बच्चे खेलमें व्यस्त हो गये । इस तमाम समारोह में मय्या का कोई स्थान न था । वह केवल एक लड़की का पिता जो ठहरा ! भय के मारे मय्याके मन में अब धीरे धीरे नफ़रत पैदा होने लगी । मय्या ने महसूस किया कि वह जिंदगी में चारों ओर से घिर गया है । चालीस साल की उम्र अभी गुजरी ही



—अरविंद गोखले

नहीं थी कि उसे एक विवाह योग्य कन्या का पिता बनकर लाचारी को स्वीकार करना पड़ा । आज तक की तमाम बचत तथा इंशुरन्स कंपनी का और ऑफिस का कर्जा-लेकर ही उसे अपनी कन्या की शादी करनी थी । उसके सालों को, ससुर को इतना ही नहीं तो खुद की पत्नी को भी इस बोझे की कानों खबर नहीं थी । काफ़ी पैसा खर्च हो रहा था । कम से कम खर्च में शादी कराने का इरादा अब ख़त्म होकर शादी के हर एक काम में हैसियत के मुताबिक पैसे उड़ाये जा रहे थे ।

पत्नी के ब्याह के समय आंसू बहानेवाले लोग अब चित्रा के ब्याह के समय हँस रहे थे । अपनी बेटी को बीस साल पहले मेरे गले में बांध कर अब मेरी बेटी को मुझसे छीन रहे थे । सब काले कारनामे – सब मूर्खता । मय्या का जी रो उठा । उसने चाहा कि इस तमाशे को फौरन रोक दें । पर अब यह सब रुकने वाला था । शादी होगी या नहीं, यही समझ में नहीं आ रहा था । अब उसका गुस्सा पानी हो गया । चिन्ता के मारे वह कांपने लगा । उसने सोचा कि अपनी पत्नी को अब सब बता देना चाहिये । यह सोचकर वह बड़ी आवाज में उसको पुकारने लगा ।

वह काम कर रही थी । उसे वैसा ही छोड़कर, भौंहे तानें मैना आयी और पति से बोली–

“क्या है जी ? इतने लोगों के बीच आप मुझे इस तरह पुकार रहे हैं? यह शादी का घर है न ? लोग आये हुए हैं यहां ! तुम्हारी हंसी उड़ायेंगे । अपनी लड़की की शादी है, जानते हैं न आप—”

आज दोपहर को सब लोगों के साथ भोजन करते समय उसने पत्नी को बुलाया था, तब भी इसी तरह उसने कहा था । पर मय्या ने मज़ाक में कुछ कह दिया था तब उसके ससुर तो हँस पड़े, पर मैना लज्जा के मारे अन्दर भाग गयी थी और भोजन पूरा होने तक बाहर नहीं आयी थी ।

पर अब कोई दिल्लगी सूझ नहीं रही थी । मन उद्विग्न हो उठा था । वह सोच रहा था कि चिल्लाकर अपनी पत्नी से कह दे कि, “हमारी बेटी की शादी अब नहीं होनेवाली ।” पत्नी के कन्धे पर सर रख कह देना चाहता था कि, “कितनी बड़ी मुसीबत आ खड़ी हुई है । केसकर परिवार की तमाम बातें मंजूर कर ली गयीं– पर किस्मत रुकावट पैदा कर रही है । पता नहीं अब क्या होगा?’ पर वह इतना ही कह सका– “मुझे चाय दो –”

“केसकर के घर नाश्ता नहीं किया था क्या ?” मैना ने एक लड़की को चाय लाने के लिये भिजवाया और बोली– “समधिन की दावत कब होनेवाली है ? उनका निमंत्रण तो अभी नहीं आया ? मैं कल उनसे मिलने आनेवाली हूं, यह कह दिया था न आपने?”

वह अपनी ही खुशी में झूम रही थी । थोड़े ही समय में वह नानी बन गयी थी । समधी के यहाँ कल होनेवाली दावत के बारे में बड़े-बड़े इरादे कर रही थी । कल सवेरे ही समधिन से मिलने की बात सोच रही थी । वहाँ वह नयी रंगीन साड़ी पहनकर जानेवाली थी. . . . . . ।

“समधिन का भोजन कल नहीं होगा ।” –मय्या ने झट से कह दिया । इन शब्दों से सब अवाक् रह गये । मय्या ने यह देखा और अपनी आँखें बन्द कर लीं । फिर से जब आंखें खोलीं तब उसने देखा कि नाना साहब, सास, फुफेरा भाई और पत्नी ने उसे घेर लिया है । मानो वह किसी दुर्घटना में आ पड़ा हो और सब लोग उसको घेरे हुए भांवर दे रहे थे ।

सब लोगों की चिन्तायुक्त सूरतें देखकर मय्या सहम गया । अगर सच कह दिया जाय तो पत्नी रो पड़ेगी । नाना साहब ज्योतिष देखने लगेंगे । सास की तो सिट्टी-पिट्टी गुम हो जायेगी । उसकी इकलौती बेटी चित्रा ! अन्दर के कमरे से उसकी चीख सुनायी दी और उसकी सहेलियां जोरों से हँस पड़ी । मय्या वात्सल्य की भावना से तथा शोक से उत्तेजित हो उठा । एकाएक उसे कुछ सूझा और बोला– “केसकर के यहां कुछ धार्मिक-विधि होनेवाली है । कुछ मनौती मांगी जा रही है । कोई साधू वहां पधारनेवाले हैं । उनमें से किसी के पास वक्त नहीं । रात को देखा जायेगा, ऐसा वे लोग कह रहे थे ।”

“एक ही दिन पहले समधी की तरफ से भोजन ? फिर बाकी

सब विधियाँ कब होंगी ?–और परसों तो सुबह ही सात बज कर सोलह मिनट पर शादी होने वाली—?"

भय्या को घेरनेवाले अब दूर हो गये और मंडप की दूसरी तरफ अपना आसन उन्होंने जमाया। धुंएं के निकल जानेपर जिस तरह सब साफ नजर आने लगता है, वैसा ही शायद भय्या महसूस करने लगा। एकाएक उन्हें एक तरकीब सूझी। खुद ही अपनी अक्ल की और होशियारी की तारीफ करने लगे। फिर से एक बार उन्हें गरमागरम चाय पीने की इच्छा हुई। मैना को उन्होंने बुलाया। वे चाहते थे कि चित्रा से दिल्लगी करें तथा खास शादी के लिये सिलाया हुआ नया कोट पहनें।– आजकी बला कल तक के लिये टल गयी थी। कल ? कल क्या होगा ? कल की बला ? केसकर का वह बूढ़ा भाई अगर कल तक न चल बसा तो बड़ा अच्छा होगा। किसी भी हालत में एक बार शादी हो हो जाय और उसकी अर्थी भी उठ जाये तो कोई फ़िक्र नहीं।– अब तक तो वह मरा नहीं होगा ? सवेरे उसे दिल का दौरा पड़ गया था और अब तक उसकी नाड़ी बन्द है। क्या वह मर गया होगा ? पता नहीं क्या हुआ होगा ? क्या होनेवाला है ? चित्रा की तथा अपनी किस्मत में क्या लिखा हुआ है ?

सहेलियों के ठहाके बढ़ते गये और फिर रुक भी गये। एक साथ सभी जगह खामोशी छा गयी और फिर हलकी सी आवाज में चित्रा गाने लगी। हलदी लगाये, चंद घंटों में ही शादी-शुदा बननेवाली, अपनी गृहस्थी के रंगीन सपने देखनेवाली वह होनहार चित्रा खुली आवाज में गीत गा रही थी और उन सुरों को सुनकर भय्या काँप रहा था।

दोपहर का समय था। धूप तेज थी और केसकर की कोठी के सामने के आंगन में भय्या खड़ा था। उसकी बदकिस्मती ने उसको उस कड़ी धूप में खड़ा किया था। उस पुरानी कोठी के तीसरे माले पर बूढ़ा केसकर मृत्यु के पास खड़ा था और उसी घर में अपनी लड़की को व्याहनेवाले भय्या को बाहर खड़ा किया गया था। फाटक पर लगाये गये केलों के पत्तों को खानेवाले जानवर को जिस तरह खदेड़ दिया जाता है, उसी तरह भय्या को मानो खदेड़ दिया गया था। और भय्या की तीव्र इच्छा थी कि फाटक पर केले के तने लगाये जायें, घर में भगवान की प्रतिस्थापना हो।

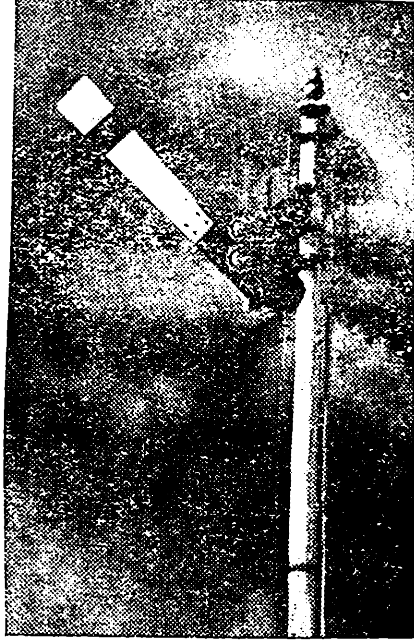
केसकर के परिवार की तरक्की करानेवाले, दूल्हे के सौतेले चाचा को दिल का दौरा पड़ा था। उसकी उम्र ढल रही थी और वह दौरा भी कोई पहली बार नहीं पड़ा था। दत्तू चाचा तन्दुरुस्ती का बड़ा ख्याल रखते थे। देहात में अपना घर छोड़कर बाहर वे कभी नहीं जाते थे। पर अपने भतीजे की शादी के समय उनसे वहाँ न रहा गया निस्संतान दत्तू चाचा ने अपने भतीजे की पढ़ाई का बोझ उठाया था—और उसकी शादी का खर्च भी वे ही करनेवाले थे। उनकी पत्नी अनके घर से बाहर जाने के पक्ष में न थी। पर पतिका उम्रभर परछाई की तरह साथ देनेवाली वह स्त्री भी मजबूर हो गयी। चाचा और चाची के आने के बाद शादी का घर भरा-सा नजर आने लगा। दो दिन चाचा बहुत खुश रहे। खा पीकर चैन से रहे। बातें करते रहे। अपनी मोटी तथा अबोल पत्नी के मजाक से केसकर की कोठी को गूंजा दिया करते थे। तीसरे माले पर एक खड़ी सीढ़ी लगाकर एक और माला तैयार किया गया था। उस माले को देखने के लिये वे ऊपर चढ़ गये और उसी समय उनके सीने में दर्द हुआ, फौरन वे वहीं गिर पड़े। माले पर ही उनका बिछौना लगाया गया। सेंक देना, दवा, इंजेक्शन्स, कार्डियोग्राफ-सब इलाज एक साथ शुरू हुए। तीन माले चढ़कर स्पेशालिस्ट डॉक्टर ऊपर गया और गर्दन हिलाते हुए नीचे उतर आया।

चील जिस तरह मँडराती है उसी तरह मृत्यु केसकर के मंजिले के चारों ओर घूमने लगी। देखते देखते घर की हालत बदल गयी। रसोइयों, पनभरों तथा बैंडवालों का आना–जाना बंद हुआ। मँडप बाँधने के लिये लाये हुए बांबू खड़े हो न सके। चावल–दाल आदि छाँटना रुक गया। खाद्य के विविध पदार्थ पकना बंद होने से मेहमान सिर्फ दलिया खाकर चुप बैठे हुये थे। इंजेक्शन की सूइयाँ, गरम पानी सेंकने की थैलियाँ, नयी नयी दवाएं, ऑक्सिजन सिलिंडर ये सब मानों जल्दी से गंभीरता के साथ तीसरे मंजिले पर आ रहे थे। शादी के लिये सिर्फ दो ही दिन बाकी थे और इसी बीच आसमान टूट पड़ा। शादी का मुहूर्त स्थगित करके जिन लोगों को न्यौते भेजे गये थे उन्हें इसकी सूचना देनेके बारे में फैसला कर दत्तू चाचा की इज्जत बचाने की कोशिश सब कर रहे थे।

मुहूर्त स्थगित करनेका फैसला सुनते ही भय्याकी सिट्टी–पिट्टी गुम हो गयी। शायद कैदी को जिंदगी की कैद की सजा सुननेके बाद ऐसा ही महसूस होता होगा। उसका दिल अनेक बातों से और ख्यालों से धड़कने लगा। क्या शादी स्थगित की जा सकती है ? कितने दूर से आया था वह बारात लेकर। बेशुमार खर्च हुआ था। एक बार यह मुहूर्त हाथसे चला गया तो फिर दूसरा मौका मिलना बहुत मुश्किल होगा। शायद कभी..... पाँव लड़खड़ाने लगे, सर चकराने लगा और भय्या केसकर के आंगन में पागल की तरह खड़ा था।

कल रात वह सो नहीं सका था। खाना काफी खाया था इसलिये सोडा पी आता हूँ ऐसी झूठी दलील देकर घरके बाहर वह चला आया था। उसका साला जो उसके साथ आया था उसे चकमा देकर भय्या अकेला ही पार्कमें जा बैठा। यह सोचते हुए कि कल क्या होगा और उस विचार को वह अपने दिलसे निकालने की कोशिश भी कर रहा था। वह चाहता था कि केसकर उस बूढ़ेको अस्पताल भिजवायें और सीधे शादी का काम पूरा करें। वह कहा करता है कि उसने भतीजे को पढ़ाया लिखाया। उसकी पत्नी ने इस दूल्हेकी माँ की बीमारी में देखभाल की–अस्पताल में इलाज ठीक होगा और यहाँ शादी हो जायेगी। फिर..... लेकिन केसकर इतना सोच भी कैसे सकते हैं। उनके लिये तो दत्तू चाचा की बीमारी ही सब कुछ थी। उसके सामने कल होनेवाली शादी भी... भय्याने-सोचा यह बूढ़ा मर जाये तो ! पर क्या अभी वह जिंदा होगा?

आइए ! हम सुरक्षा के उन प्रहरियों के सम्मान में दीप जलाएँ जो देश की रक्षा के लिए अपने काम पर हमेशा डटे रहते हैं और



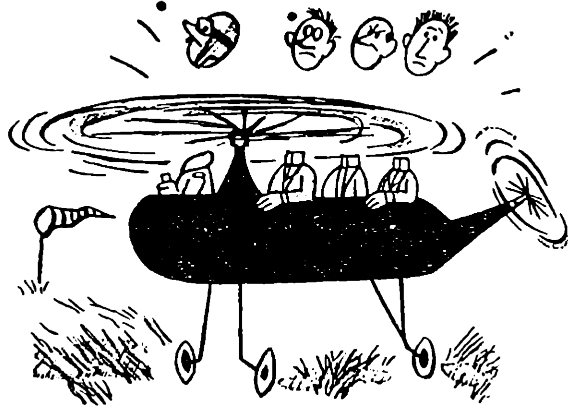


उनके सम्मान में भी जो राष्ट्र के जीवन मार्ग को निरंतर सक्रिय रखने के लिए यातायात को पक्के तौर पर सुरक्षापूर्ण और गतिवान बनाये रखते हैं।



मध्य और पश्चिम रेलवे

दीपा. १६



....वह पार्क से फौरन भागकर केसकर की कोठी के सामने जा खड़ा हुआ। सारा वातावरण शांत था। भय्याके घर रमीका खेल जारी था। दिये जलाये जा रहे थे। औरतें अपना-अपना काम कर रही थीं और यहाँ तो चहल-पहल का नाम नहीं था। भय्या पागल की तरह अँधेरे रास्ते पर कुडकुड़ाता खडा था।

एकाएक कोठी के सामने की खुली जगह पर एक छाया नजर आयी। भय्या सहम गया। उसने ऊपर देखा। चाँद की रोशनी में वह अस्पष्ट छाया तीसरे मंजिले पर खड़े किसी व्यक्ति की थी। तीसरे मंजिले के जरा आगे की ओर झुके हुए पत्रेपर सीढ़ी थी और उसपर एक औरत खड़ी थी। बूढ़ी मोटी औरत। उस अँधेरे में भी उस औरत की आँखें चमकती हुई भय्याने देखीं। मानों देवी की मूर्ति पर लगी हुई कौड़ीकी बनी आँखें। वह औरत मानों भय्याकी ओर देख रही थी और पूछ रही थी—

—कौन है? क्या चाहिये?

—कुछ नहीं। मैं दुल्हन का बाप हूँ। लौट जाता हूँ।

ऐसा कहकर यहाँ से चले जानेकी भय्या की इच्छा हुई। नसीब ही फूटा है। वहाँ एक आदमी मौतकी घड़ियाँ गिन रहा है और ऐसे मोके पर मैं अपनी बेटी की शादी का ख्याल करूं? हद दर्जेकी बेवकूफी है। मगर वह कुछ नहीं बोला। सिर्फ वहांसे हटा और घरकी ओर लौटा पड़ा।

वहाँ से निकल जाने के पहले उसने मुडकर देखा तो वह औरत भीतर चली जा रही थी। मानों मौत को लौटाकर अपने पति की सेवा के लिये कमर कस ली थी उसने। वह ओझल हुई और भय्याने पहचाना— दत्तू चाचा की ही औरत थी वह। होनेवाले दामाद के अमीर चाचा की दूसरी औरत थी। दामादको बचपनमें सँभालनेवाली और उसको पढ़ानेवाली, चित्राकी सास ही थी वह। इसी के कारण केसकरने दहेजकी शर्त रद की। इसीके कारण भय्या के करीब पांच हजार रुपये बच गये थे। शायद उसके हाँ कहने पर ही शादी तय हुई होगी। उस समय उस औरत के बारे में भय्याको कौतुहल था। उससे मिलने की इच्छा हुई लेकिन वह कभी दिखाई नहीं दी। और आज सिर्फ उसकी छाया दिख पड़ी और वह भी उस वक्त जब कि उसकी जिंदगी में अँधेरा फैल रहा है।

उसका दिल भर आया। रास्ते से चलते समय सामने के आदमी से वह टकराया।

"माफ कीजिये— टूट गयी क्या?"

उस आदमी के हाथ की बोतल देखकर उसने सवाल किया। फिर यकायक किसी शंकासे उसने पूछा,

"क्या केसकरके घर"

"जी हाँ—"

"दत्तूचाचाकी तबीयत तो ठीक है ना?"

"आजकी रात गुजरे तो गनीमत होगी। अब आरामसे सोये हुए हैं वे।" अपने ही ख्यालों में खोया सा वह आदमी कोठी में घुसा।

मतलब यह कि बूढ़ा अभी जिंदा है! उसे हँसी आ रही थी। भय्याने उसे महसूस किया। वह यकायक खिल उठा। दत्तू चाचा आराम से सोये हुऐ हैं। आजकी रात गुजरेगी ऐसे ही। कलका दिन बीत जाय तो फिर परसों....। भय्या जल्दीसे घर लौटा। दरवाजेसे ही अपनी बीबीको बुलानेकी इच्छा थी उसकी। मगर आंगन का एक दिया ही जल रहा था बाकी सब बुझा दिये गये थे। सारी औरतें लेटी हुई थीं। बच्चे लोट रहे थे। रमीका खेल खतम होनेको आया था। दरवाजा खोलते हुए नानासाहब भय्यासे बोले— "रातके समय कहाँ घूम-फिर रहे हैं आप? बीमार हो जायेंगे। कलका दिन तो गुजाराना है हमें। काम तो काफी पड़े हुए हैं। परसों शादी हो जाय और लोग खानेको बैठें तो फिर.... कलका दिन गुजर जाय तो बच जाऊँगा। जो मुसीबत आयी है उसका अन्दाजा तुम्हें कहाँ— ससुर की ओर न देखते हुए चुपचाप भय्या अंदर गया। पानी पीकर उस मंडप में ही तकिया लेकर उसके सहारे लेट गया।

सर तकियेपर था लेकिन भय्याको नींद नहीं आ रही थी। दिलका भारीपन थोडा कम हुआ था लेकिन न जाने कहाँ कहाँ के दृश्य आँखोंके सामनेसे जा रहे थे...उस औरत की बड़ी बड़ी आँखें और छाया दिखायी दे रही थी। कभी केस कर के घरसे रोनेपीटने की आवाज सुनायी देती। मानों उस ऊबम को कम करने के लिये सात आठ पुरोहित उंची आवाजमें मंगलाष्टक गाने लगते। "तारावलं चंद्रबलं तदेव लक्ष्मी बलं" जैसे शब्द जल्दी जल्दी सुनायी देते और उसके जी में जी आता। उसी समय कोने में बैठकर रोनेवाली चित्राका चेहरा सामने आता। पानसुपारी की गड़बड़, भोजन की वस्तुओंकी गंध.... शव यात्राकी तैयारी और स्मशान्—अग्नि....सुबह होने को आयी तो भी भय्या मानों ख्यालों में भुना जा रहा था।

सुबह का सारा समय जल्दी बीत गया। बिलकुल समय नहीं मिला। लोगों को बुलाना, बाजार जाना, मेहमान, खरीद— यह सारा का सारा बेकार जायगा। अपनी फजीहत होगी। इस बातका भय्याको डर था तो भी यह सारा काम भय्या यंत्रवत् कर रहा था। पहलेसे वह दुःखी था क्यों कि बेटीका विरह उसे सहन करना था। उसके घर ऐसे मंगलकार्य हुए ही कब थे? किसी को कोई शौक ही नहीं। ऐसे मंगलकार्य के समय भी मनहूस चेहरा वह देख रहा था,

अनुक्रमणिका

वहाँ के अनेक लोगों के मत वह सुन रहा था और घरके बाहर निकलने का मौका ढूंढ रहा था। इन लोगों के मत, शौक यह सारी तैयारी – सारा का सारा बेकार जायगा, यहाँ कुछ करते रहनेके बदले केसकरके घर की हालत जरा देखो— इस प्रकार दूसरों से कहना वह टाल रहा था।

सुबहका समय गुजरते ही पेट खराबी की दलील देकर उसने सिर्फ छाछ पीया– और केसकरके बरामदेमें आया। बूढ़ा अभी जिंदा था। उस बरामदेकी पीछेकी तरफ ही वह सोया हुआ था। यह बूढ़ा कल यहाँ नहीं रहेगा। मुस्कुराते हुए बाहर के आंगनमें वह जरा घूमा। कोनेमें कुछ मेहमान बैठे हुए थे— उनकी ओर देखकर मुस्कुराया।

उस की उपस्थिति पर किसीने गौर नहीं किया। कोई परिचित आदमी भी वहाँ दिखायी नहीं दिया। केसकर उनका चचेरा भाई, सगाई लानेवाले मध्यस्थ और दुल्हा—सबके सब दत्तू चाचाको घेरे रहेंगे। सच पूछा जाय तो भय्या को ही ऊपर चला जाना चाहिये। दत्तूचाचाकी पूछताछ करनी चाहिये। लेकिन कल तो "ऊपर न जाइये," ऐसा सीधा कहा गया था। आंगन में बेंचपर ही बिठाया गया था—बेंच के पास चुपचाप भय्या खड़ा था कि इतनेमें डॉक्टर बाहर आया और उनके साथ दत्तू-चाचाकी पत्नी भी।

दरवाजे तक आनेपर वे डॉक्टर से कुछ बोलीं और गंभीरतासे लौट गयीं। भय्याने पहली बार दत्तूचाचाकी पत्नी को देखा था। कल जिसकी छाया दूरसे दिखायी दे रही थी वही आज आँखोंके सामने खड़ी थीं। वह छाया ही ज्यादा स्पष्ट दिखायी देती थी। यह आकृति बेतरतीब थी। आँखोंमें समानेवाली नहीं थी।

मोम की तरह चेहरा बनाये भय्या बोले, "ठीक हैं न चाचा?"

"कौन हैं आप", रुकते हुए और सामने देखकर उसने पूछा।

"मैं—मैं तो दुल्हनका बाप हूँ। कल शादी है ना ?"

"कलकी शादी," वह आश्चर्यसे भय्याकी ओर ताकती रहीं मानों कोई नयी खबर उसे मिल गयी हो। भय्याकी तरफ गौर से अजीब तरहसे, देखने लगीं। भय्याको ऐसा लगा कि मानों वह बड़ा गुनहगार है। उत्सुकतासे वह बोला, "मुहूर्त सात सोलहका है। कल इस समय तक भोजन पूरा हुआ होगा। कल जब हम गाँवसे लौटे आपसे मिलनेके लिये तभी बीमारी का हाल मालूम पड़ा। अब ठीक हैं ना ? आराम लग रहा है ना ? एक बार दूल्हा और दुल्हनके सरपर अक्षत गिर जायें तो बस—"

उस औरतकी नजर और तीक्ष्ण बन गयी और भय्या एकदम चुप हो गया। वह इतना भी याद न कर सका कि वह क्या बोला। मानो खुद उसने रोनापीटना किया था, भीख माँगी थी....।

केसकर और मध्यस्थ जल्दीसे बाहर आये। वे उस औरत को भीतर ले जाने लगे। "चाची, तुम यहाँ तक क्यों आई ? डॉक्टर भला और क्या बताएंगे ? दवा तो दी है अब—ठीक हो जायगी उनकी तबीयत। तुम ऊपर चली जाओ। जरा लेट जाओ।

ये नये जीव सम्पादक हैं

—दीपनारायण 'कमलेश'

इनसे मिलिये, परिचय करिये, ये नये जीव सम्पादक हैं !
लेखक गण के अभिभावक हैं ।।

इनका परिचय है–किसी पत्र का ये करते हैं सम्पादन,
इनकी ड्यूटी है–नित्य प्रकाशक को करना शत अभिवादन,
दिखने में लगते कार्टून, खुद जानें, गुणी कहाँ तक हैं ।
ये नये जीव सम्पादक हैं ।।

पहले ये लेखक थे, कवि भी, जब तनिक न इनकी चल पाई,
जब बार-बार सब पत्रों से इनकी रचनायें फिर आईं,
तब एक निकाले नया पत्र कोई नव धनी सहायक हैं ।
ये नये जीव सम्पादक हैं ।।

फिर लगे छापने उसमें ये लौटी कहानियाँ, कवितायें,
अपने बेकार भतीजों–सालों औ' मित्रों की रचनायें,
उनमें से अब तो कई ख्यात कवि लेखक औ' आलोचक हैं ?
ये नये जीव सम्पादक हैं ।।

अब हर नूतन लेखक से ये अपना बदला लेते जी भर,
उनकी रचनायें बार-बार ही धन्यवाद सह लौटा कर,
केवल ये नई लेखिका की छापें कवितायें, नाटक हैं ।
ये नये जीव सम्पादक हैं ।।

इनका है एक निराला मत, इनकी अपनी है अलग नीति,
जो लेख न मिलते इनके मत से उसे न देते हैं स्वीकृति,
मानो हैं और न, उन लेखों के एक मात्र ये पाठक हैं ।
ये नये जीव सम्पादक हैं ।।

ऐसे ये रंग जमाये हैं, ऐसे कर पत्रों की सेवा,
ये कितने पत्र डुबायेंगे, खा कर के नित यश का मेवा,
इनके ही कारण होंगे कल हांकर जो आज प्रकाशक हैं ।
ये नये जीव सम्पादक हैं ।।

ऐसे ही लोगों ने नित हो नव लेखक का कर कण्ठरोध,
कर रहे सृष्ट-साहित्य-जगत् में नित्य नया गत्यवरोध,
ऐसे ही प्रतिभाहीन आज नव प्रतिभाओं के बाधक हैं ।
ये नये जीव सम्पादक हैं ।।

जितने तस्कर साहित्यिक हैं वे सब चेले हैं इनके ही,
जितनी गुटबन्दी है हम में उसके संस्थापक हैं ये ही,
जो कूड़ा करकट लिखा गया उसके ये ही उत्पादक हैं ।
इनसे मिलिये, परिचय करिये, ये नये जीव सम्पादक हैं ।।

अनुक्रमणिका



तुम सुमिता से मिलकर ही आ रहे हो न ?

कल से नींद हराम है तुम्हारी ! पेट भी खाली है। जाओ, जरा लेट जाओ भीतर। हम सब देख लेते हैं चाचाका।" वे दोनों यह कहते हुए उस औरत को जबरदस्ती भीतर ले जा रहे थे।

भय्याकी ओर लगी अपनी नजर हटाते हुए वह औरत वहाँ से चलने लगी। उसकी नज़र में गुस्सा न था। उसकी चाल में जान न थी, मेरे पति के कारण, मेरे ही कारण तुम्हारी बेटी की शादी रद हो रही है। कल बहनोई ने कहा कि तुम्हारी बेटी के पाँव अशुभ हैं। बेटी की शादी रुक गयी। मेरी बहूकी शादी। माँ के बीमार पड़नेपर मैं खुद उसे अपने घर ले गयी, उसको पाला, उसको प्रेम किया, उसमें ममता-प्रेम निर्माण किया—उसीकी बीवीका अब....सचमुच मैं अपराधी...। भय्याने सोचा ज़रा आगे बढ़ूं और उस औरत के सामने खड़ा हो जाऊँ और कहूँ, "कोई रास्ता निकालिये इन मुश्किलोंसे, कुछ कहिये केसकरजी से, सर-पर अक्षत गिरने दीजिये, सिर्फ़ मेरी बेटी के लिये..." भय्याने सोचा, शायद वह औरत वह सारा सुन लेगी। वह जरा आगे बढ़ा भी। मगर दोनों की आँखों की बातें दूसरे जान न सके। भय्याको वहीं छोड़कर उसे अंदर ले जाया गया। अब सन्नाटा छाया हुआ था।

आँगन में धूप बढ़ रही थी। बेंच भी गरम हो गयी थी। बच्चेके हत्थे पर अपना एक हाथ रखे दूसरे हाथ से पसीना पोंछते हुये भय्या खाली पेट वहां खड़ा रहा। कोई उसकी ओर देख नहीं रहा था। उसको डर था कि किसी भी समय उसे वहांसे निकाल दिया जा सकता है। यहां से चले जाने में ही अकलमंदी थी। शादी तय हुई यह बड़े जोश से और जोर से कहनेवाले केसकरजी अब शादी स्थगित हुई यह कहने में जरा भी नहीं हिचकिचाए और इतना कहकर वे पीठ फेरकर चले गये। दत्तूचाचाके भरोसे यह सारा शादीका समारोह करना और उन्हींकी बाबत यदि ...मिन्नतें-प्रार्थना करना भी अब अमानुषिक था। तो भी भैय्या लाचार बनकर दरवाजे के पास खड़ा था।

नारियल का बड़ा थैला लिये दो आदमी कोठी के बाहर चले गये और भय्या डर गया, मालेपर से पत्रेपर कोई उतर आया, थर्मामीटर देखा और लौटा। कोई रसोई घर से कुछ लेकर जल्दीसे ऊपर की तरफ़ गया। दो औरतें सोफे के पास आयीं और भय्याको देखते देखते अंदर चली गयीं। कोई बच्चा यकायक रोने लगा और तुरंत सारी कोठी गूँज उठी। उस बच्चे को चुप बिठाया गया। सन्नाटा छा गया और वह सन्नाटा और भी डरावना महसूस होने लगा। वह सन्नाटा, आदमियोंकी धीमी आवाजमें बातें, आँख बचाकर की गयी चहलपहल और चितासे भरे चेहरे... और उसी समय दुल्हा धोती का एक छोर कंधेसे लटकाये बाहर की ओर झांकने लगा।

"बाळासाहेब—" भय्याने कड़ी धूप की परवाह न करते हुए उसे बड़ी आशासे पुकारा।

बाळासाहब का ध्यान उसकी तरफ़ गया। भय्याका चेहरा और फक हो गया। गंभीर चालसे वह भय्याकी तरफ आया और नाखूनोंको दांतोंमें दबाते हुए घरके भीतर देखने लगा।

"बाळासाहब, दत्तूचाचाकी तबीयत कैसी है ?"

"सच कहूँ तो दिलकी बीमारीवाले पेशंट की बात भला कौन कहे ? एक पलमें ठीक है तो दूसरे पलमें..."

"लेकिन, ऐसी हालत में समारोह क्या स्थगित किया जाय ? सब कुछ ठीक हो जायगा। सिर्फ सोलह सत्रह घंटे और हैं। बैण्ड वगैरे जाने दो, पानसुपारी भी न रहे तो चलेगा—लेकिन सिर्फ शादी की विधि—आवश्यक धार्मिक काम—"

"आपने पिताजी के साथ सारी बातें की हैं न कल ?"

"की तो हैं। लेकिन मैं उन्हें समझा नहीं पाया।"

"तो फिर मैं और क्या कर सकता हूँ ?"

"आप शायद चाचीसे कहकर...."

"क्या कहा ? चाचीसे ?" पहली बार अपने ससुरकी नजरसे नजर मिलाकर चिढ़कर वे बोले, "यह क्या कह रहे हैं आप !—चाची के ऊपर क्या बीत रही है। चाचाको कितना प्रेम करती हैं वे। एक दिन भी चाचाको आँखोंसे दूर जाने नहीं दिया उन्होंने... चाचाको व्यापार में बड़ा भारी नुकसान हुआ। चाचा घर छोड़कर चले गये। उन्होंने दूसरी औरत को रखा—लेकिन इन सब हालातों में चाचीने एक क्षण भर भी—मुझे बच्चेकी की तरह माना.... ऐसी हालत में अपने स्वार्थके लिये उनसे यह कहूँ..."





बाळासाहेब की आवाज़ बदलती गयी और वे सुबकने लगे। फिर चुप हो गये। ऊपर थोड़ीसी हलचल हुई और उस तरफ देखते-देखते बाळासाहब जल्दी से चले गये। भय्या ढोर की तरह धूपमें तापते खड़ा रहा। कभी मालेके जिनेकी ओर और कभी दरवाजे की ओर ताक रहा था।

धूप और चिंता के मारे भय्याको शायद चक्कर आता। वह वहाँसे हट गया और सोफे पर जाकर बैठा। जरा होशियारी आ सकी और फिर क्रोध से वह कांपने लगा। क्या? यह क्या नाटक खेला जा रहा है? दत्तूचाचा तो मरे नहीं न! दिल का दौर पहला ही तो सही। दुल्हे का सौतेला चाचाही तो वह ठहरा! सबकुछ साफ है। तो फिर यह झंझट क्यों? क्या चाचाका पैसा लूटना चाहता है वह। अरे, तुम चाहते हो तो मैं खुद अपने को बेचकर पैसा दूंगा तुम्हें। तुम डुबाना चाहते हो तो डुबा दो मुझे ही पूरा। लेकिन मेरी बेटीको क्यों अशुभ समझते हो। उसपर सारा घाव क्यों? हमने कौनसा पाप किया है! चाचा को एक दिन भी अस्पताल में नहीं रख सकते? एक दिन भी दवापर उसे जिंदा नहीं रख सकते–यह क्या तमाशा लगाया है। तुम्हारी और हमारी सगाई होगी– भय्या गुस्से में काँपने लगे। अपने आप बकने लगे।

सुरज डूब रहा था। परछाइयां फैल रहीं थी। सारीं दोहपर की कडी धूपमे खड़े खड़े गुजारी थी। शरीर झुलस गया था। दिल जल गया था और अब सोफेपर बैठनेके बावजूद भी ठंडक नहीं पहुंच रही थी।

इसी सोच में थोडा और समय बीता और खुद केसकर बाहर आये। गंभीरतासे एक एक कदम नापते भय्याकी रुखमें चलने लगे। भय्या डर के मारे उठ खडा हुआ। क्या दत्तूचाचा चल बसे?

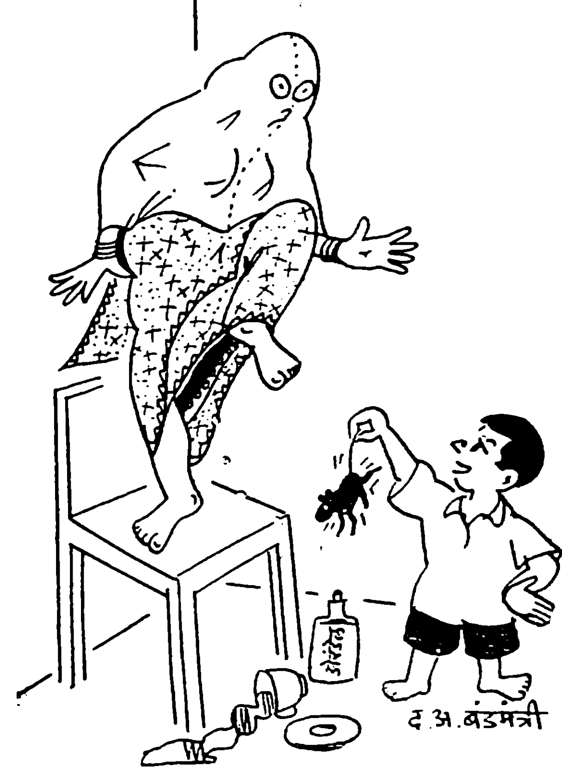
"चाचा सो गये हैं। मैं जरा आराम करता हूँ। आप जाइये। कतना इन्तजार करेंगे आप।"

"और फिर कल का....."

"कल का क्या? अभी संकट टला कहां गया है और ऐसी जल्दी में शादी करना हमें पसंद नहीं। जब सबकुछ ठीक होगा तब आकर मिलिये। अब आप जाइये। हम तो पहले से चिंतामें हैं और उसमें आपकी भन्नाहट...." इतना कहकर केसकर खुद अंदर चले गये और खटियापर लेट गये। मुख्य दरवाजे में जो आदमी दिखायी दिये थे वे सब गायब हो गये और भय्या अकेलाही सोफेपर बैठा रहा।

अब लौट जाना जरूरी था। खुद चार घंटे राह देखकर प्रार्थना करके भी कोई फायदा नहीं हुआ। चाचा अब भी साँस ले रहे थे और शादी के समारोह के संपन्न होनेके लक्षण अधिक दिखाई दे रहे थे। मगर केसकरका फैसला कायम था। उन्होंने ही भय्यासे घर जाकर कहा था कि शादी की तैय्यारियाँ रोक दें।

यह कैसा हो सकता है? घर में कहूँ भी तो क्या? कल तक जो बात कुशलता से छिपायी गयी वह किस प्रकार जाहिर करूं। अब मेरी पत्नी केसकर की पत्नी से मिलने आयेगी। घर में तोरण



अरे, तुमने यह हौवा देखा है?

लगा हुआ होगा। देवकार्यकी तैय्यारी हुई होगी, बहुतसे मेहमान आये हुए होंगे। शादी रद! शादी नहीं हो सकती...उसी समय भय्या को दीपक जलानेवाली एक लड़की बार बार दिखायी देने लगी—"तारावलं तदेव" के शब्द सुनायी देने लगे। यज्ञकुंडसे खाक उड़ रही थी। मैना सो रही थी। चित्रा गायब थी। सरमें फेटा लगाये नानासाहब और मेहमान बैठे थे। भय्या घर आया और सोफेके खंबेके सहारे खड़ा रहा।

आध-एक घंटे में भय्याने होश सँभाला और देखा कि दोनों साले बड़े फाटक में खड़े थे। लखनवी झब्बे पहने हुए, एक के गलेमें लॉकेट, दूसरेके हाथ में चांदीका कटोरा। भय्याको नानी याद आयी। लपककर और अपनेको सँभालता भय्या दरवाजे की तरफ बढ़ा और उन दोनों को बाहर खींचने लगा।

"कहाँ थे सारा दिन आप?—मैना दीदी आ जायेंगी अभी—आप की तबीयत तो ठीक है?...दहेज की माँग क्या है?...क्या काम पूरा हुआ...?"

दोनों के कंधों के सहारे भय्या रास्ते पर आया। उसकी लम्बी छाया केसकर की कोठी के फाटक तक पहुँची। 'मेरी यही छाया तीन मंजिले चढ़ पत्रेपर फैल जाये तो'—भय्या सोचने लगा। उसने ऊपर की ओर देखा। ढली धूपमें पत्रा चमक रहा था। ऐसा लग रहा था कि मानों सीढ़ी अब गिर जायगी। सीढ़ी पर वह औरत बैठी हुई थी। भय्याको इशारा कर रही थी। ऊपर बुला रही थी।




भय्या पलभरके लिये सिटपिटा गया, रुक गया। आँखें फाड़कर देखने लगा। वह औरत उसे सचमुच बुला रही थी। आँखोंके, हाथोंके इशारोंसे! भय्याके दिमाग़में अनेक विचार पैदा हुए। कुछ समय पहले जो औरतें खिड़कीसे सुन रही थीं, उनमेंसे यह भी थी। इसने मेरा शोक सुना होगा! यह औरत बड़ी समझदार नजर आती है। वही सब समझ लेगी और मुहूर्त टलने नहीं देगी! उसकी बातोंपर तो यह शादी रुक रही है। वह कहे तो फिर...

भय्याने जोरोंसे उन दोनों सालों को हटाया और वह तेजीसे फाटक से भीतर घुसा। साले पीछे ही रह गये। आंगन पार कर गया। तेज़ीसे वह सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। बालासाहब के सामने से, केसकर को हटाते हुए, औरत-बच्चों को पार करते वह पत्रेपर पहुँचा। सबके सब अवाक् हो ताकते ही रहे। क्या यह अब सोये हुए दत्तूचाचाको जगाएगा तो नहीं!! उनको वह कष्ट तो नहीं देगा!! इसी चितासे सब भय्याके पीछे दौड़ने लगे।

सीढ़ीके ऊपर की तरफ वह बैठी हुई थी। अपने मोटे शरीर को संभाले हुए। बड़ी बड़ी आँखोंसे वह कहीं देख रही थी। भय्या हाँफते हुए उसके सामने खड़ा रहा। ज़रा सा मुस्कुराया ज़रा लाचारी प्रकट हुई।

वह औरत काफ़ी समय तक कुछ बोली ही नहीं। भय्या इन्तज़ार में खड़ा रहा। घरके सब लोग बड़ी चिंताके मारे उसके पीछे जमा हो गये। फिर आखिर में उस औरतने बड़ी आवाज़में कहा—

"शादी रोकिये नहीं। स्थगित न कीजिये। मेरी बहूको दुखी न कीजये। मुहूर्त मेरा देखा हुआ है। लड़कीको मैंने पसन्द किया है। शादी होने दीजिये जल्दी। मैं न रहूँ, ये न रहें तो भी कुछ नहीं बिगड़ेगा। मैं यहीं बैठी हुई हूँ। वे भीतर सोये हुए हैं। हम यहींसे आशीर्वाद दे देंगे दूल्हा-दुल्हनको। हमारी कसम है आपको। इनकी कसम है...यहाँ कोई न आयें...मंडप लगाइये.. भगवान की प्रतिस्थापना कीजिये...."

वह चुप हो गयी और उसने आँखें बंद कर लीं। दत्तूचाचा भीतर थे और उनकी पत्नी रास्ता रोके बैठी हुई थी। उसने हुक्म दिया। दत्तूचाचाको शुश्रुषा, चिंता आदि बातों को भूलकर, ठीक मुहूर्तपर शादी करनेका हुक्म दिया था उसने। और समय तो बहुत कम था।

भय्या की खुशी का ठिकाना न था...शामका दीया लिये कोई जल्दी से निकल गया। 'तारावलं चंद्रवलं तदेव' जल्दी जल्दी बोला जाने लगा। बजाइये, बैंड बजाना शुरू कीजिये...इत्र, गुलाब पानी...जलेबी बनानेकी तैयारी और उदवत्तीकी सुवास.... यज्ञकुंड, सप्तपदी, कन्यादान...भय्या तुरंत लौटा। सीढ़ीपर अवाक् बनकर खड़े लोगोंके जमघट को तोड़ते वह दौड़ते हुए नीचे आया। आंगन में खड़े अपने सालों का हाथ पकड़े वह उन्हें खींचते घर ले जाने लगा।

फिर शादी के काम में रंग भरा जाने लगा। भय्या के घर और केसकर के घर भी। दिल का बोझ अब कम हुआ और भय्या स्वच्छंदतासे काम में लग गया। पत्नी को बुलाने लगा। चित्रासे दिल्लगी करने लगा। जिस आपत्तिका सामना उसने अभी कुछ ही समय पहले किया था उसका रंगीला वर्णन वह सबको बताने लगा और घरमें सबको एक अनोखा ही मज़ा आया उस वर्णन में। ससुर ने भय्याको बताया—अरे, तुम मुझसे कह देते—मैं सब कुछ ठीक कर देता...और भय्या पगले की तरह मुस्कराने लगा।

तीन चार घंटों में भय्या और मैनाने नये कपड़े पहने, समधी-भोज के लिये केसकर की कोठीमें प्रवेश किया। आंगन में खंबों के आधारपर मंडप लगाया जा रहा था। दोपहर को सन्नाटा छाया हुआ था, सबके मनहूस चेहरे थे, और अब, अब तो सारी कोठी गूंज उठी थी। सिर्फ़ चाची की बात रखने के लिये केसकर ने यह सारा खेल रचाया था। तीसरा माला बंद करके सबके सब नीचे काम में लग गये। कोठी के पीछे की तरफ़ पचास आदमियोंका भोजन बनने लगा। भय्या चाँदी की थाली में भोजन करने लगे तब बैंड बजने लगा।

दोनों घरोंमें काम करने में ही रातें गुजर गयीं। पानसुपारी की तैयारी, भेंटकी तैयारी, भगवान की प्रतिस्थापना करना रुखवत, भोजन की व्यवस्था ——किसी को फुर्सत न थी। ज़रूरी सामान ज्यादा दाम देकर मँगाया जा रहा था। मगर सब कां हँसी खेल में हो रहा था। भय्या तो खुश था ही, केसकर भी बड़ी दिलचस्पी से, खुशीसे हरेक बात में हिस्सा ले रहे थे। उन्हें दुःख था कि उन्होंने भय्याको व्यर्थ कष्ट दिलाया। और बाळासाहबने तो सीमांतपूजा के समय अपने ससुर से माफी माँगी।

सजी मोटर में बैठे बाळासाहब दुल्हनके घर आये। शादी की वेदी पर चढ़े। करवली आयी। भय्या वह सब देख रहे थे। मैं सपने में तो नहीं हूँ? कल दोपहरको वह हालत! झुलसा जा रहा था मैं? और आज? आज तो मेरी बेटी की, चित्रा की जिंदगी सफल हुई! मुझे दामाद मिल गया। मुहूर्त नजदीक आया। भय्याकी आँखें भर आईं। वह अपने कमरेमें जा बैठा। बाहर 'तारावलं चंद्रवलं तदेव, लक्ष्मीबलं' की द्रुतलय शुरू हुई।

बैंड एकाएक बजने लगा, वरमालायें पहनी गयीं और भय्या काँपने लगा। आँखोंसे आँसू गिर गये, अनजाने ही उसके दोनों हाथ जुड़े और उसने प्रणाम किया। सच, भगवान ने ही इज्जत बचाई। यकायक उसे दत्तूचाचाकी याद आई। बूढ़ा जिंदा था इसलिये यह शादी हो सकी। उस साध्वी स्त्रीने, चाचीने अपनी मुसीबतकी परवाह किये बिना आज्ञा दी इसलिये——

भय्याने सोचा असल में प्रणाम तो उस औरत को करना चाहिये। उसीने मेरी लाज रखी। दिलका बड़प्पन, देवतापन उसीने दर्शाया। कलसे भय्याको उसकी याद भी नहीं आयी थी। उससे बिदा लेने की बात तो दूर रही। उसने शादीके लिये इजाजत दी उसके लिये उसे धन्यवाद भी मैंने नहीं दिया। सीमांतपूजाके समय वह नीचे उतर नहीं आई। केसकर के घरके दरवाजे पर तोरण लगाया गया, सब लोग शादीकी तैयारी में लग गये थे लेकिन

उसने चाचाकी सेवा के लिये किसी को आने नहीं दिया। दवा वगैरह कुछ नहीं--मिठाई, पानसुपारी इन्हीं चीजोंमें उसने सबको मशगूल रखा। खुद तीसरे माले के कमरेके दरवाजे में बैठी रही। वरघोड़े के समय भी बाळासाहब को पाँव छूने नहीं दिया क्योंकि वह इस समारोह को बीमार की छाया से दूर रखना चाहती थी। बाकी सारी विधि बाद में। पहले वरमाला पहनाने की विधि होने दो। मुहूर्त संपन्न होने दो।--तो फिर पालागन करना, आशीर्वाद देना, बहूका मुख देखना आदि बातें की जा सकती थीं। शादी में वह खुद हाजिर नहीं रही। सबको समारोह में भिजवाया और खुद पति का साथ दिये बैठी रही। कितनी समझदार है वह! खुद के न होने पर भी बाळासाहब को बेटे की तरह प्रेम करनेवाली, हलदी लगी बहूका सुख संभालनेवाली.....

भय्या फौरन वहाँ से निकला। शादीकी जगह से अब भीड़ कम हो गई थी। होम का धुआँ अधिक हो रहा था। पानसुपारी बाँटी जा रही थी। नानासाहब ने उसे बुलाया--मगर वह रुका नहीं, आगे बढ़ता ही रहा। दरवाजेके पास ही एक साइकिल थी। उस पर सवार हो वह सीधे केसकर की कोठी के पास पहुँचा। सबके जाने के पहले, नवीन वर-वधु के प्रणाम करनेके लिये जाने के पहले भय्या उस औरतको धन्यवाद देने दौड़ा।

फाटक के पास ही साइकिल रख दी और भय्याने आंगन में प्रवेश किया। कोठीमें सन्नाटा था और आंगन में धूप थी। सब के सब शादी में थे। कोने में नौकर तम्बाकू खा रहा था। भय्या तीसरे मंजिले पर दौड़ा गया। तीसरे मंजिले के पत्रेपर वह पहुँचा। दरवाजे की चौखट पर वह औरत बैठी हुई थी। प्रसन्न मनसे और कृतज्ञता का भाव चेहरेपर लाये भय्या उसके सामने खड़ा रहा।

"शादी हो गयी?"

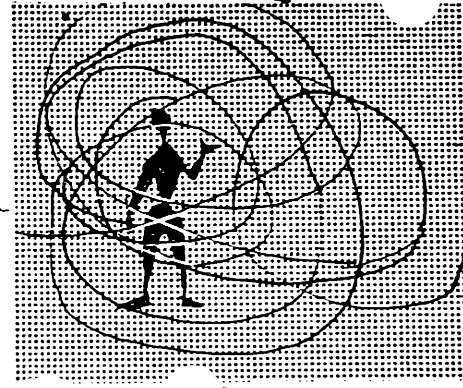
"जी, अभी! मैं इसीलिये आया था, आपको धन्यवाद देने। आपको प्रणाम करने। आपको--और चाचाको भी! चाचा ठीक हैं ना? सो गये हैं क्या?"

यह सब सुनकर वह औरत मानों नींद से जग गई थी। कल शाम से वह सीढ़ीपर बैठी हुई थी; बगैर किसीसे बोले, बगैर सोये। अब वह होश में आयी थी। उसका वह मोटासा शरीर चौखट में हो हिला। एकाएक वह पतली कमजोर दिखने लगी। पगली की तरह दिखने लगी। उसका सारा चेहरा सफेद सा पड़ गया था। बड़ी मुश्किल से वह बोली--

"सोये हुए हैं। कल आप ऊपर आये थे न--उसके पहले ही। उसके पहले ही वे चल बसे...वे चल बसे और फिर मैंने आपको ऊपर बुलाया.... उनके चल बसने पर भी उन्होंने इस घरको संभाला... विधवा होनेपर भी मैंने बांझ औरत की तरह बर्ताव नहीं किया मेरे बालू की शादी हुई--मेरे घर बहू आयी; और मुझे--

माथेपर लगा हुआ कुंकुम मिटानेकी उसने कोशिश की; पर उसके पहले ही वह बेहोश हो गई। पति के चल बसनेपर १४-१५ घंटे उसने अपने शोक को दबा रखा था, अब वह सभी दिशाओंमें फूट पड़ा। कमरे में बंद करके रखी हुई मृत्यु की छाया केसकर की कोठीमें फैलने लगी। गृह प्रवेश के पहले ही घरमें मातमी वातावरण फैल गया। उस घरानेपर अधिकार जताने वाली वह औरत बेहोश होकर तीसरे मालेपर रखे हुए पतिके सड़नेवाले शव के पास गिरी। ●●●

रुपा:--अँटोनी डिसोझा



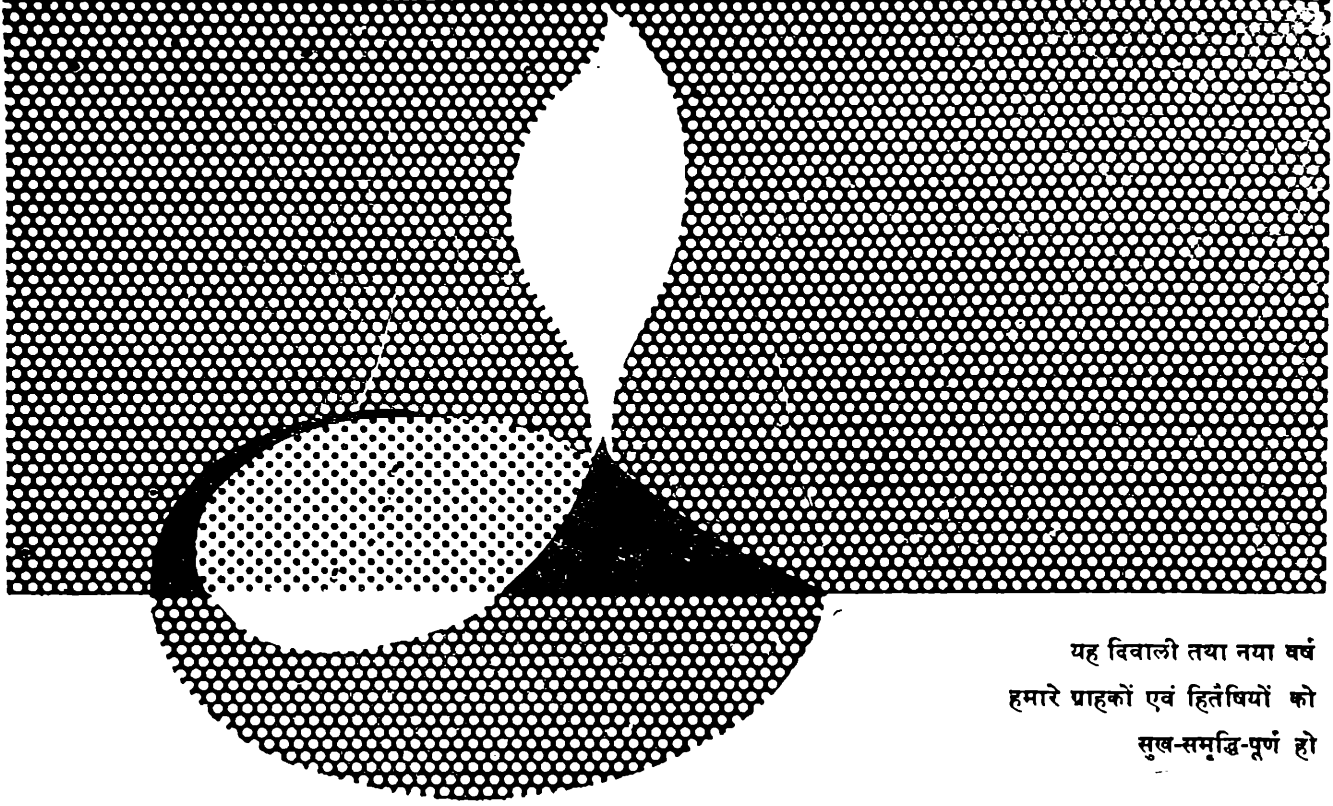
महिमामय

—व्रजकिशोर 'नारायण'

वह सृष्टि धन्य !
अस्तित्व तुम्हारा है जिसमें !
वह धरा धन्य !
अवतरित हुई हो तुम जिस पर !
वह नगर धन्य !
नागरी जहाँ की तुम जैसी !
वह घर मन्दिर-सा पूज्य
जहाँ तुम हुई मूर्त्त !
वह गली कली-सी कुसुम हुई
तुम जभी चली
हर रेणु वेणु-सी बजी--
तुम्हारे चरणों से !

★★★

फिर मेरी काया--आत्मा का
अब कहो, कहाँ अस्तित्व रहा !
इस तरह, तुम्हीं में खोकर मैं
हो गया स्वयं हूँ महिमामय !!



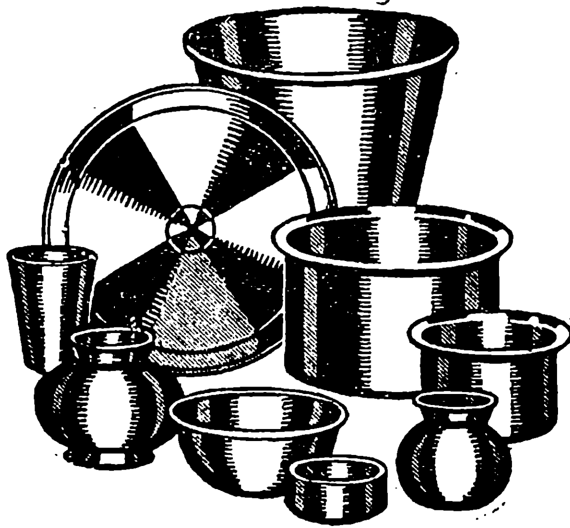
यह दिवाली तथा नया वर्ष
हमारे ग्राहकों एवं हितैषियों को
सुख-समृद्धि-पूर्ण हो

मेसर्स हुकुमचंद ईश्वरदास

(स्थापना १८७८)
१६७, गुरुवार (वेताळ) पेठ, पूना २

गुजरात मेटल फैक्टरी

(स्थापना १९०४)
२१, नागेश पेठ, पूना २

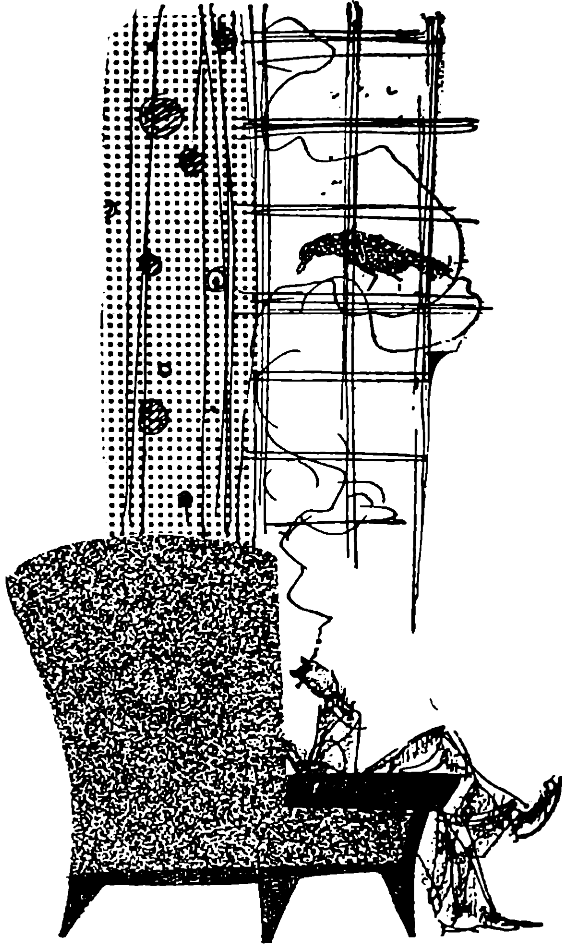




TOM & BAY

तीर्थरूपा
गोदावरी
दीपावली '६३

अनुक्रमणिका



जय जगदीश लॉज में

–जयवंत दळवी

उसकी औरत के किसी से बुरे ताल्लुकात थे। उस आदमी के साथ शादी करने की ख्वाहिश थी उसकी; इसीलिये वह वैशंपायन की मौत चाहती थी। उस औरत के एजंट वैशंपायन को मौत के घाट उतारने पर आमादा थे और वैशंपायन के दोस्त कार्टूनों से उसे इशारा दे रहे थे ....

लॉज ही एक ऐसी जगह होगी जहाँ सनकी और अजीव ढंग के लोग इकठ्ठा हुआ करते होंगे। इस वावत में किसी को शक़ हो तो वह सीधे हमारे जय जगदीश लॉज में तशरीफ़ ले आये और ज़रा सारे लॉज की सैर करे। खासकर कमरा नं ७ में, बिलकुल लॉज के ऊपर। सब के सब लोग, लॉज के मालिक से लेकर वहाँ आये हुए मुसाफिरों तक, सब वड़े ही सनकी और अजीव नज़र आयेंगे।

जय जगदीश लॉज,
सिर्फ रहने के लिए
बढ़िया दर्जे का इंतजाम

यह फलक पढ़कर आप अंदर आइये। कदम अंदर रखते ही आपको एक हॉलके, पार्टिशन डालकर वनाये गये आठ कमरेनुमा हिस्से नज़र आयेंगे। इन्हीं हिस्सोंको 'कमरा' इस नाम से पुकारा जाता है। हर एक कमरे में तीन या चार खटियाँ आपको लगी हुई नज़र आयेंगी।

एक खटिया दूसरी से सटी हुई है। जहाँ तीन खटियाँ हैं वहाँ चौथी लगाई नहीं जा सकती और जहाँ चार खटियाँ हैं वहाँ पाँचवी खटिया घुस ही नहीं सकती। यही कारण है कि रात के वक्त कोई एक लेटा हुआ मुसाफ़िर अपनी करवट वदल लेता है तो उसके पाँवों की तरफ़ से सटी हुई खटिया खुद-ब-खुद हिलने लगती है। उस खटिया पर लेटा हुआ मद्रासी उस धक्केसे जाग उठता है और, "व्हॉट्टार यू डुईंग मॅन?" ऐसा सवाल नींदमें ही कर बैठता है। इसपर करवट बदलनेवाला, "नथ्थींग रे बाबा!" कहकर फिरसे खर्राटे लेना शुरू करता है।

सुबह के वक्त नहाने के वाद धोई हुई धोती डंडी पर सुखाने के लिये रखते वक्त उसका एक छोर सीधे बगल के कमरे में बिना बुलाए पहुँच जाता है और वहाँ पास ही में रखे किसी लोटे को छू जाता है। वह लोटा अपनी जगह छोड़कर देरतक सोये हुए एक गुजराती के सर से टकराता है। "अरे, सूं छे भाय?" का सवाल पूछा जाता है। मगर यह कोई लाज़मी नहीं कि इस सवाल का जवाब दिया ही जाये।

शुरू के ही कमरे में दो खटियाँ और एक टेवल लगा हुआ है। यह मालिक का ऑफिस है। मगर जब कभी भीड़ हो जाती है तब ऑफिस में रखी इन खटियोंपर दो मुसाफिरों का इन्तज़ाम हो जाता है। बड़ी तोंदवाले मालिक वहाँ कुर्सीपर इस तरह बैठा करते हैं कि मानो बोरे ही रखे हुए हों। बैठे बैठे वदहज़मी होगी– यह बात अब उनके दिमाग़ में आती है तब वे अपनी टाँगें फैलाये खड़े रह जाते हैं। टांगों को फैलाये बगैर वे अपने वदन का बोझा संभाल ही नहीं सकते। उनकी तोंद, रीढ़ की हड्डी से एक-डेढ़ हाथ

लम्बी बाहर की तरफ़ निकल आयी हुई है। माथे पर बल डाले, डकार लेते रहना उनका खास धंधा है। इन डकारों के शोरसे बाक़ी कमरों के मुसाफिर यह अच्छी तरह जान सकते हैं कि मालिक ऑफिस में हाजिर हैं या नहीं। मोटा नया कपड़ा 'टराटर' फाड़ने से जैसे आवाज़ निकलती है, वैसी ही आवाज़ उनके डकारों से निकलती है। कबूतर की तरह गर्दन ऊपर की तरफ़ उठाये जब वे डकार लेते हैं तब ऐसा महसूस होता है कि मानो एक गज कपड़ा फाड़ा गया हो।

जब ऐंकाध नया मुसाफ़िर इस लॉज में तशरीफ़ लाता है तो उनकी हालत पूछिये ही नहीं।

"मालिक, जगह खाली है?"

"ढ र्र र्र र्र र्र. . . . . ."

गाहक हैरान हो वहीं खड़ा रह जाता है।

"क्या कहा आपने?" डकार के बदले बद्‌किस्मती से वक्तपर निकला हुआ सवाल।

"कोई जगह भी है?"

"ढ र्र र्र र्र र्र. . . . . ."

यह आवाज़ किस मतलब को जाहिर करती है, हाँ, या नहीं, यह समझ में न आने के कारण गाहक हक्का-बक्का रह जाता है।

"अरे लखू. . . . ढ र्र र्र र्र र्र...."

शायद अब लखू से कहकर यह हमें यहाँसे भगा देगा यही ख्याल गाहक कर बैठता है।

एक पैरवाला लखू लँगड़ाते लँगड़ाते वहाँ पहुँच जाता है। कटे पाँव को हवा में ही लटकाये वह खड़ा रहता है मालिक के हुक्म के इन्तज़ार में।

दरवाज़े पर खड़े महारोगी भिखमंगे को हाथों का इशारा कर जिस प्रकार भगाया जाता है उसी तरह मालिक अपने हाथों को हिला और एक गज कपड़ा फाड़ देते हैं।

वह इशारा लखू के लिये क़ाफी है। गाहक का बैग अपने कंधेपर रखे लखू चलने लगता है। और गाहक उसके पीछे पीछे!!

जिस कमरे में खटिया खाली होती है, उस कमरे में उस नये मुसाफिर का इन्तज़ाम होता है।

दिन भर में मालिक का काम बस यही होता है! और लखू का काम भी उतना ही। हाँ, कभी कभी उसे संडास में कोई ज्यादा वक्त बैठा दीखे तो दरवाजा खटखटाकर 'जल्दी करो' का फर्मान निकालनेका काम करता है।

यह है जय जगदीश लॉज की हालत।

बाक़ी कमरों में इन्सान के बर्ताव के कौनसे नमूने दिख पड़ते हैं इनसे तो मैं वाक़िफ़ नहीं, लेकिन अपने कमरे के जिन नमूनों को मैंने देखा है उनके आधारपर मैं बाक़ी कमरों के माल की परख ठीक कर सकता हूँ।

मेरे सात नंबर के कमरे में एक शख्स हैं। नाम है फड़के। असलमें उन्हें शख्स कहना ठीक नहीं होगा क्योंकि वे विधुर हैं और सांसारिक लगाव से वे बिलकुल परे हो गये हैं। उस आदमी की नीयत भली है। लेकिन हमेशा सवाल यह पैदा होता है कि उसकी हर बात पर यकीन करना चाहिये या नहीं। क्योंकि कभी कभी वे यूँ ही कह बैठते हैं कि पंडित नेहरूजी से उनकी काफ़ी पुरानी जान-पहचान है।



चूहे-बिल्ली का खेल!

"तुम्हारी पहचान कैसे?"

"हम दोनों अहमदनगर में साथ ही तो थे।"

"किस जगह?"

"जेलमें!"

इस प्रकार की बातें हुआ करती हैं। लेकिन फड़के यह कभी भूलसे भी नहीं कहते कि वे जेल में क्यों गये थे और वैसा सवाल करनेकी हिम्मत भी मुझमें नहीं।

उनके बताये मुताबिक उनके एक बेटा है और वह अच्छा कमाता भी है। लेकिन उन दोनों की बनती नहीं इसीलिये ये जनाब यहाँ लॉज में रहा करते हैं।

"अजी, हमें क्या पड़ी है? पैसा है चलो उड़ाओ चाहे जितना!" इस तरह एक नौजवान की तरह कभी कभी बोला करते हैं वे।

लेकिन वे क़ाफी बूढ़े हैं। करीब साठ सालकी उम्र होगी उनकी। नई नई ईजादें करना उनका शौक़ है। एक लकड़ी की बनी सन्दूक है उनके पास। कई काग़ज़ात भरे हुए हैं उसमें। उनका कहना है कि पुराने जमाने में सारी दुनिया में वैदिक संस्कृति का बोलबाला था। इन ईजादोंके पीछे उन्होंने क़ाफी पैसा खर्च किया है। वे दावे के साथ कहते हैं कि पश्चिमात्य राष्ट्रों में बहुत पहले हिंदू परिवार थे। आज के अनेक ख्रिश्चन नाम पहले हिंदू नाम थे यह वे साबित किया करते हैं। उसके बारे में उन्होंने कई खत लिखे हैं और कई खत उनके पास आये हुए भी हैं। मिसाल के तौरपर -अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्राध्यक्ष ट्रुमन असल में 'खरे' परिवार के रहे होंगे ऐसा फड़के का कहना है। यह साबित करने के लिये उन्होंने राष्ट्राध्यक्ष से लिखापढ़ी की थी। जवाब में "आप के ख़त के लिये राष्ट्राध्यक्ष शुक्रगुजार हैं—" इतने ही लफ्जोंके कुछ खत अमरीका की राजधानी से उनके पास आये हुए थे।

उनका दावा है कि रशिया का स्तालिन

भी स्तालिन–तालिन–तेलिन–तेली इस ख्यालसे असल में तेली परिवार का ही होगा । इसके बारे में उन्होंने स्तालिन को आठ खत भेजे थे; लेकिन एक का भी जवाब आया नहीं । फड़के यह दलील देकर इस मामले को हमेशा के लिये बंद कर देते हैं कि "स्तालीन को वह खुद तेली परिवार का है यह बताने में शर्म आती है ।"

चर्चिल यह नाम चर्चा शब्द से पैदा हुआ है इस पर उन्हें पूरा यक़ीन है ।

जब से मैं जय जगदीश लॉज में आया हूँ तब से मुझे उनकी ईजादें और इतिहास के बारेमें जबरदस्ती सुनना पड़ता है ।

एक बार वे गप्प मारने लगे कि पार्कर पेन का मालिक और उनके परिवार ने पारकर यह अपना पुराना हिंदू नाम अब भी क़ायम रखा है । यह उनकी गप्प बंद करवाने के लिये मैंने इस बातको मंजूर भी किया उसके सामने कि पार्कर और पारकर दोनों एक ही हैं । इसीलिये पारकर को वार्षिक श्राद्ध के वक्त पार्कर कंपनी के मालिकको भोजन का न्योता भेजना बिलकुल ज़रूरी है । यह बात मैंने क़ाफी जोर देते हुए कही ।

लेकिन उनका गप्प मारना बंद नहीं हुआ । उनके मुंह को ताला लगाना बड़ी मुश्किल बात है । एक बार तो मुझे वे समझाने लगे कि पुराने ज़माने के हमारे कोंकण के लोगोंने पश्चिमात्य लोगोंको एक देन दी है । यही वजह है कि वहाँ के लोग कंजी आँखवाले होते हैं ।

अब मुझे यक़ीन होने लगा कि इस बकबक को बंद करना हो तो तीसरे शख्स का कमरे के अंदर आना बिलकुल ज़रूरी है । मैं यह सोच ही रहा था कि तीसरा गाहक फौरन आ हाज़िर हुआ, मानों खुदा ने मेरी सुन ली थी ।

वह शख्स करीब ६ फुट ऊँचा था । गोरा और खूबसूरत भी । मजबूत बदनवाला । एक पैंजामा और ढीला सदरा पहने हुये था । पैंजामा और सदरा बनाने के लिये शायद चौबिस गज का पूरा कपड़ा लगा होगा । ब्याज के पैसे वसूल करने के लिये घुसनेवाले पठान की तरह वह कमरे में घुस आया । उसके हाथोंमें एक बड़ा सा संदूक था । वह चाहता तो फड़के को उस संदूक में डालकर मरघट को चल भी देता । इसीलिये उसको एक बारगी देखते ही धक्-सा हुआ । फड़के का दिल भी धड़कने लगा होगा । क्योंकि वे अपने नकली दाँत मुंहसे बाहर निकाले पोंछ रहे थे ।

उस शख्स ने अपना संदूक खटिया के नीचे रख दिया ।

"यह शख्स नाटक कंपनीका होगा–" नकली दाँत फिरसे मुंहमें बिठाते हुए वे धीरेसे बोले ।

"क्योंकर ?"

"बिलकुल सही–" उन्होंने बताया कि यह भी खोज की करामात है ।

इतनें में उस आदमी ने संदूक खोला । फौरन हम दोनों की आँखें उस संदूक की ओर मुड़ीं । हम जानना चाहते थे कि उसमें क्या भरा हुआ है । उस संदूक में अखबारों के कटे हुए कई टुकड़े थे । और अख़बारों का एक बंडल भी था वहाँ ।

"हमारी ही लाइन का शख्स होगा" फड़के फिर एक बार धीरेसे बोले ।

"क्योंकर ?"

"कटे टुकड़े देखिये । संशोधक ही होगा ज़रूर । मुझे भी यही शक था । इसलिये ज़रा अच्छा लगा । यह सोचकर मेरी जान में जान आयी कि अब वे दोनों बड़बड़ करते बैठेंगे और मैं अच्छी तरह सो सकूंगा ।

उस शख्सने अख़बार का एक बंडल खटियापर पटका और उनमें से कार्टून को वह ग़ौरसे काटने लगा ।

यह देखकर फड़के ने यह सोचा होगा कि यह भी कोई ईज़ाद का ही तरीका है और उसमें खुद को शामिल होना ही चाहिए । क्योंकि वे कुछ चुलबुलाये और अपनी जगह से उठ खड़े हुए–

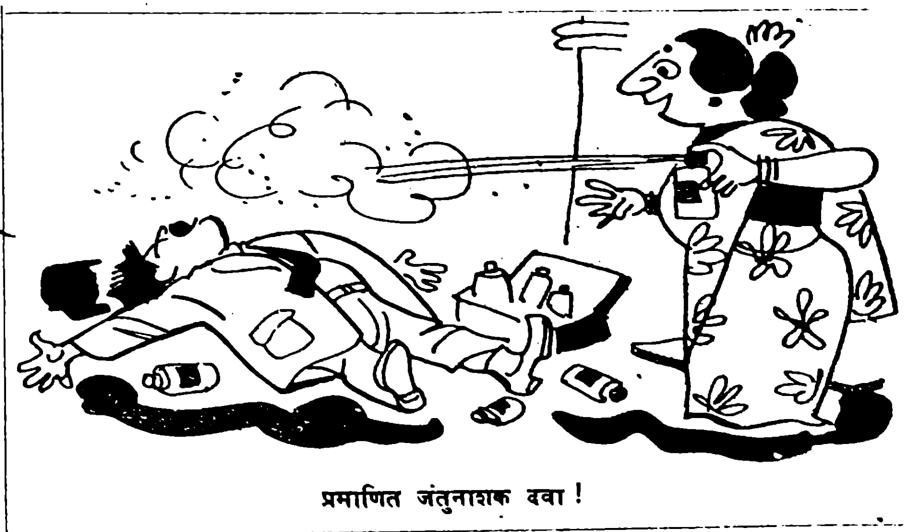
"मिस्टर, वॉट इज् योर नेम मिस्टर?" फड़के ने इसी तरीके से सवाल किया कि मानों मास्टरसाहब डिक्टेशन दे रहे हों ।

"वैशंपायन ? व्हाय्?" वह चिल्ला उठा ।

"नो–नो–नो! जस्ट लाईक दॅट" फड़के चकरा गया । उसने कभी यह ख्याल नहीं किया कि ऐसा सवाल उसके मुंहपर फेंका जायगा ।

वैशंपायन कैंचीसे व्यंग्य–चित्र काटने में मशगूल था ।

फड़के उसकी ओर ग़ौर से देख रहे थे । शायद वे मन ही मन कोई सवाल अंग्रेजी में तैयार करने की कोशिश कर रहे थे । ठीक ही था वह ! क्योंकि फ़ौरन ही वे ज़रा रुक रुककर एक सवाल पूछ ही बैठे —



प्रमाणित जंतुनाशक दवा !

अनुक्रमणिका

"वॉट् आर यू डुईंग, मिस्टर वैशंपायन?"

"नन् ऑफ योर फादर्स बिजनेस! कीप शट!" दुत्कारते हुए उन्होंने कहा।

'नो-नो-नो.... ''बड़ी मुसीबत फड़केजी पर टूट पड़ते देख वे फ़ौरन खटिया-पर धप से बैठ गये।

"छोड़िये भाई, आप क्यों टाँग अड़ाते हैं उनके काम में। मरने दीजिये उसे?" मैंने उनको सलाह दे दी। पता नहीं उनको मेरी यह सलाह जँची या नहीं। शायद जँची नहीं होगी। क्योंकि वे, वैशंपायन क्या काट रहा है यह बड़ी दिलचस्पी से देखने में मशगूल थे।

"ढर्रर्रर्र...''दफ्तर के कमरे से आवाज आई।

"उसके मुँहमें कोई ताला क्यों नहीं लगाता?" यह कहते मैं खाटपर जा लेटा।

वक्त बीत नहीं रहा था; इसलिये मैं मुंहसे सीटी बजाने लगा—गानेकी एक तर्ज गुनगुनाने लगा।—और—

"शट् अप्—''वैशंपायन आँखें लाल किये चिल्ला उठा।

मैं उठ बैठा, "व्हाय्? क्या हुआ?"

"सीटी बजाना छोड़ दो।"

"वट् क्यों?"

"कीप शट, आइ से—"

"लेकिन तुम कौन होते हो बोलनेवाले?" मैं चिल्लाया क्योंकि ऐसी बेइज्जती मुझसे बरदाश्त नहीं होती।

"कौन?" वैशंपायन ने कैंची नीचे रख दी और गुस्से से उसकी आँखों से अंगार बरसने लगे।

मैं चुप्पी साधे बैठा था, क्योंकि सोचा, मामूली बात के लिये कोई तामाशा न हो। लेकिन मैं यह महसूस कर रहा था कि इस तरह चुप रहकर मैं अपनी बेइ-ज्जती को बरदाश्त कर रहा हूँ। लेकिन अक्लमंद मला क्यों बेवकूफ़ के मुँह लगे। यही सोचते हुए मैं चुप रहा।

"यह देखो?" वैशंपायन अपनी जगहसे उठते हुए बोला और मेरे सामने उसने एक अखबार का कटा काग़ज धर दिया। वह ऐक चित्र था। उस चित्र में एक नौजवान सीटी बजा रहा था।

"देखा?"

"यह क्या है?" मैं तो कुछ मतलब ही समझ नहीं रहा था।

"देखा या नहीं, बोलो?"

"हाँ देखा!" मेरा सीना धड़कने लगा।

"सीटी बजाओगे तो तुम्हें यहाँसे मागना पड़ेगा। बता देता हूँ!" वैशंपायन इस रुख में यह बता रहा था कि मानों जगह उसकी है।

"क्यों"

"इस कार्टून से मुझे सब सूचना मिलती है।"

मेरे दिमाग़ में यह बात ही नहीं आ रही थी वह क्या कहना चाहता है। मैं अवाक् होकर फड़के के चेहरे की ओर देखता रहा। मगर वे खुद अपना मुँह खुला रखे ताक रहे थे।

"तुम मेरी औरत का एजंट है?"

"क्या?" मैं यकायक चिल्ला उठा। मेरी इस चिल्लाहट का अच्छा असर हुआ।

पलभर वह चुप बैठा। ठंडे दिमाग़से उसने अपनी सारी राम कहानी बतायी। उसकी औरतके किसीसे बुरे ताल्लुकात थे। उस आदमी के साथ शादी करनेकी ख्वाहिश थी उसकी; इसीलिये वह वैशंपायन की मौत चाहती थी। उस औरत के एजंट वैशंपायन को मौत के घाट उतारनेपर आमादा थे। और वैशंपायन के दोस्त कार्टूनों से उसे इशारा दे रहे थे ऐसा उसका ख्याल था।

"कार्टून से मला क्या मालूम होता है?" फड़के सवाल कर बैठे!

"ये कार्टूनवाले मेरे हिमायती हैं–" यह कहकर उसने अखबारों का बंडल फिर से बांधा और वह बाहर चला गया।

फड़के उसके पीछे पीछे दरवाजे तक गया। जब उसे इस बातका यकीन हुआ कि वैशंपायन ओझल हो गया तब वे धीरे से मेरे कानोंमें कहने लगे, "पागल है यह। इस बेवकूफ़को इन कार्टूनोंसे इशारा मला कैसे मिलेगा? खैर आप ज़रा संमलकर रहिये भई!"

"मैं भी वही कह रहा था। मुझे अब फ़ौरन तय करना चाहिये कि इस पागल-खानेमें रहूँ या नहीं। वर्ना सो जानेपर कोई गला दबा भी डाले।"

"वही तो। खुदके मरनेका पता भी नहीं होगा हमको?"

रातको हम बड़ी फिक्र में रहे। हमारे सोने तक वैशंपायन लौटा नहीं था। शायद यही कारण था कि हमें नींद नहीं आ रही थी। रात के क़रीब दो बज जब पानी पीने मैं उठा तब मैंने देखा कि वैशंपायन अपनी आँखें खुली रखे छत की कुछ जाँच-पड़ताल कर रहा था।

सोचा, जरा पूछ लूं कि उसे नींद क्यों नहीं आ रही है। मगर वह अगर कह बैठे, ''नन् ऑफ योर फादर्स बिजनेस्'' तो फिर हमारी इज्ज़त कहाँ बचेगी। इस-लिये मैं चुप रहा।

फिर भी रातभर मुझे नींद नहीं आयी, शायद इसी ख्यालसे कि वह सोया नहीं होगा। कहीं कोई जरासी आवाज हो जाती तो मैं आँखें खोले उस तरफ देखा करता था। यही नहीं तो मैं जरा भी करवट बदलूं तो शायद उसकी खटिया भी हिलेगी, इस डरसे मैं मुर्देकी तरह खटिया पर पड़ा हुआ था।

मालूम नहीं सवेरे मेरी आँख कब लगी सवेरे उठकर देखा तो वैशंपायन अपने सिर के बल खड़ा था। उसकी यह हालत देखकर मैं पहले तो सहम गया। मेरी यह घबराहट जब फड़केने महसूस की तब वे कहने लगे, "डरिये नहीं साहब इड से शीर्षासन कहते हैं?"

मैं हाथ मुंह धोकर कमरे में लौट आया, तो भी वैशंपायन सर के बल खड़ा ही था।

फिर फड़केने खिड़की के पास खड़े रहकर, सामने के होटल के छोकरे को पुकारा और दो चाय लानेका ऑर्डर दिया। चंद ही मिनटों में छोकरा दो कप चाय लिये कमरेमें हाज़िर हुआ। फड़केने फ़ौरन चाय गले में उतारी और छोकरे के हाथों में कप धर दिया। मैं आराम से चाय पी रहा था। वह छोकरा

वड़े अचरज के साथ वैशंपायन को देखते हुआ खड़ा रहा कि इतना मारी आदमी और सर के बल भला कैसे खड़ा रह सकता है।

इतने में वैशंपायन ने अपने पैर ज़मीनको लगाये और वह सीधा खड़ा हुआ।

खून नीचे की तरफ उतरने के कारण उसका चेहरा सुर्ख हो गया था। आँखें तो ऐसी दिखती थीं कि मानों खून से रंग गयी हों।

उन सुर्ख आँखोंसे वैशंपायन छोकरे की ओर ताकने लगा। छोकरा शरमा–सा गया।

"साले, माग जाव––" वैशंपयान चिल्लाया।

वह वेचारा छोकरा इतना डर गया कि डरके मारे उसके हाथों से खाली कप नीचे ज़मीनपर गिर पड़ा और टुकड़े-टुकड़े हो गया।

"तू माग जाव –"

"क्या हुआ, क्या?" फड़के खटिया से उठकर पूछने लगे।

'तुम चुप वैठो।"

फड़केने उस हुक्म की तामील की और चुप वैठ गये।

यह सारा तमाशा देखकर छोकरा दुम दवाकर भागा।

वैशंपायन ने एक कटा हुआ चित्र फड़केकी आँखों की सामने धरा।

"देखा ?"

"क्या है ?"

"वोलो मत, देखो ?"

"हाँ!"

"ये साला मेरी औरतका एजंट है।"

उस चित्र में एक होटल का छोकरा अपने हाथोंमें करीव पंद्रह-सोलह कप लिये जा रहा था।

वह चित्र देखकर मैं हक्का-बक्का रह गया। मैं यही सोच रहा था कि ये सारी बातें वन कैसे आती हैं। क्या सचमुच इसे ये सारे चित्र कोई इशारा करते हैं ?

हालत यह हो तो जय जगदीश लॉजमें रहना ही मुश्किल है। इसलिये आखिरी कोशिश करने के इरादे से मैं और फड़के दोनों मालिक के पास गये।

"मालिक साहव––"

"डर्रर्रर्र ..."

"वैशंपायन को फ़ौरन यहाँ से निकाल दीजिये, वर्ना हमें यहाँ से निकल जाना पड़ेगा।"

टाँगें फैलाये मालिक खड़े हुए।

मैंने सोचा अव वे वैशंपायन को निकाल देंगे। लेकिन वे अपनी जगहसे न हिले न डुले। अधखुली आँखोंसे उन्होंने एक वार देखा और फिर डकार ली।

"तो फिर क्या करना चाहते हैं आप, कहिये।"

"आपकी वात तो ठीक है, लेकिन फड़के कैसे जायेंगे ?"

"क्यों-क्यों?" फड़केकी जीभ तालुसे सट गयी।

"आपको तीन महिने का सारा किराया एक साथ देना पड़ेगा।"

फड़के चुप हो गये। अपने नकली दाँत निकाले वे पोंछने लगे।

"मगर वैशंपायन यहाँ से न जाय तो कमसे कम मुझे तो यहाँ से जाना ही पड़ेगा।" मैं गुस्से से वोला।

लेकिन मालिक का मुंह खुला नहीं। कुछ देर वाद वह मुंह खुला लेकिन डकार लेने के लिये।

हम यह सोचते हुए कमरे में आये कि किया भी क्या जाये। मैं खुद जगदीश लॉज छोड़नेकी तैयारी करने लगा।

फड़केने काग़ज लिया और पेन भी।

"वेटेको जरा लिख देता हूँ पैसे भेजने के लिये। कमाता है और अकेला खाता है–" यह कहते हुए उन्होंने खत लिखना शुरू किया।

स्याही निकालने के लिये उन्होंने अपना पेन झाड़ा। स्याही का एक दाग़ वैशंपायन की चादर पर गिरा।

"ए सुव्वर साला–"वैशंपायन चिल्ला उठा।

मैं डर रहा था कि शायद हाथापाई पर नौवत आ जायगी।

"तुम मेरी औरत का एजंट है !"

"अरे नहीं वावा ! क्या वोत––" इस वुढ़ापे में यह वेइज्ज़ती–मुझसे वरदाश्त नहीं हुई।

खट्–आवाज आयी। देखा तो फड़केके नकली दाँत खटियापर गिर पड़े। तमाचा लगनेके अफ़सोस से इस वात की खुशी उसे ज्यादा हुई कि नकली दाँत ज़मीन पर गिरकर टूटे नहीं, सिर्फ़ खटियापर ही गिर पड़े।

"अरे पर क्या ?" वोलते हुए उन्होंने नकली दाँत मुंहमें डाल लिये।

"देखा ?"

एक चित्र में एक आदमी स्याही की दवात अपनी औरतपर फेंक रहा था।

"देखा?"

वह चित्र देखकर मैं भी हैरान हो गया। मैं यही सोचने लगा कि ये सारी वातें वन कैसे आती हैं। पलभर के लिये मुझे शक जरूर हुआ कि शायद फड़के एजंट होगा।

मैंने शककी निगाह से फड़के की ओर देखा।

"आप देख क्या रहे हैं? पकड़ लीजिये उसकी गर्दन–" कहते हुए वे गुस्से से वाहर चले गये सीधे मालिक के पास।





वैशंपायन फिर एक बासर के बलर खड़ा हो गया। तब मैं भी मालिक के कमरे दाखिल हुआ।

फड़के वहाँ बड़े जोश से बोल रहे थे। बिलकुल ठीक था उनका वैसा बोलना, क्योंकि तमाचा उन्होंने खाया था।

"ढर्रर्रर्र...निभा लीजिये किसी तरह। भला इस बात पर कौन यकीन करेगा कि वह यूंही मारा करता है ? बात यह है तो फिर मुझे क्यों नहीं मारता वह ?"

"ढर्रर्रर्र..."बार बार डकार लेने लगे।

इतने में आँखें सुर्ख किये वैशंपायन वहाँ हाजिर हुआ। उसके हाथोंमें एक अखबार का कटा टुकड़ा था। उसको देखते ही मालिक ने दोस्तीकी मुस्कराहट मुंह पर दिखाने की कोशिश को मगर वैशंपायन मुस्कराया नहीं। वह पागलकी तरह ताकता खड़ा रहा।

अब मालिक यह समझ ही नहीं पा रहे थे कि मुंह कैसे खोलें।

"ढर्रर्रर्र....."

"यू शट् अप्—" वैशंपायन चिल्लाया।

मालिकका मुंह खुला का खुला रह गया; एक डकार भी नहीं निकली। यह देखकर मुझे गुस्सा आया। मुझे शक होने लगा कि शायद मालिक के दाँत खानेके और दिखानेके और होंगे। इस शख्स के मुंहसे सचमुच कोई डकार निकलती है या जवाब देनेकी नौबत को टालने के लिये वे इस तरह के बनावटी डकार लिया करते हैं। यही ख्याल मैं करता रहा। क्योंकि वैशंपायन ने "शट् अप्" कहा ही नहीं कि उनके डकार बंद हो गये। मुंह खुला ही रह गया।

वैशंपायन आग बबूला बनकर मालिककी ओर ताकता ही रहा।

हवलदार के बोलने के ढंग में उन्होंने अपना मुंह खोलकर पूछा, "क्या गड़बड़ है जी ?"

"चुप—"

"ढर्रर्रर्र...."

अरे वाह! मालिनेक तो डकार लेकर यह साबित करने की कोशिश की वे चुप नहीं बैठ सकते।

फ़ौरन वैशंपायन ने दूसरा चित्र मेरी आँखों के सामने धर दिया।

"ढर्रर्रर्र..."

उस चित्र में एक आदमी डकार ले रहा था। अब कहीं मेरे दिमाग़ में रोशनी फैली। याने यह डकार देनेवाला मालिक औरत का एजंट है"

"ढर्रर्रर्र...."

"चुप सुव्वर—"अपने दायें हाथ की मुठ्ठीसे मालिक को एक तमाचा जड़ दिया।

"पुलिस, पुलिस" फड़के पुकारने लगे मगर उनकी इस पुकार में डर भी था इसीलिये आवाज बड़ी धीमी हो गई थी।

फिर भी वैशंपायन गुस्से से मालिक की तरफ़ देखे जा रहा था। फैलायी हुई टाँगों का बैलेन्स चूक जाने के कारण मालिक लुढ़क गये। उनके मुंहसे खून टपक रहा था।

अब क्या करना चाहिये इसपर सभी सोच रहे थे कि वैशंपायन अपने कमरे में लौट गया। उसने संदूक उठाया और "इधर साले सब डांबिस एजंट हैं"—कहते हुए वह बेपरवाही से वहाँ से चला गया।

"चलो, अच्छा ही हुआ। बला तो टल गयी।" फड़केने गहरी साँस ली।

मालिक कुर्सीपर बैठ गये। फिर उन्होंने आँखें खोलीं मानों वे बेहोश हो गये थे।

"मालिक, पुलिस में रिपोर्ट करनी चाहिये। यूंही क्यों मारता है वह ?" फड़के का यह इरादा था कि दोनों के लिये एक ही मुकदमा पेश किया जाये।

"ढर्रर्रर्र..पुलिस की परेशानी नहीं चाहिये भई। दवासे बीमारी ही भली।"

"तो फिर मार खाओ और चुपचाप बैठो, यही बात हुई।"

अचरज की बात यह थी कि मार खाकर भी मालिक अपनी तोंद हिलाते हुए हँस रहे थे। हम दोनों उनकी ओर देखते ही रह गये। कितना अजीब शख्स है यह!! मार खाई, बेइज्जती हुई, तो भी खुशी से वह हँस रहा है!! मालिक तोंद हिलाये हँसे जा रहे थे।

"मार के कारण उनके मेजेपर कुछ असर हुआ होगा—"फड़के ने मेरे कान खाये। मालिक की आँखोंमें तो हँसी के मारे अश्रु नजर आ रहे थे।

"तो फिर अब क्या किया जाय ?"

"मुझे ही शायद अब लॉज की जिम्मेदारी लेनी पड़ेगी, क्योंकि मैं यहाँका बहुत पुराना मुसाफिर हूँ" वे मेरे कानों में कहने लगे।

"मालिक साहब..."

"ढर्रर्रर्र ..."

"तबीयत तो ठीक है न–"मैंने पूछा।

"उसने एक दिन का किराया डुबा दिया। डेढ़ रुपया चला गया आपका—" मालिक के होश ठिकानेपर हैं या नहीं यह देखने के लिये फड़केने सवाल किया।

"कोई बात नहीं।" मालिक के होश ठिकानेपर थे।

"क्यों ?"

मालिकने अपनी जीभ बाहर निकाली। उसपर एक दाँत था। उन्होंने खुशीसे हँसते हुए कहा, "इसी दाँत को उखाड़ने के लिये डॉक्टर पाँच रुपये माँग रहा था।"

"यह तो असल में पागलखाना है।" मैं साफ साफ बोलना नहीं चाहता था मगर मेरे मुंहसे लफ्ज अपने आप निकल आये।

"ढर्रर्रर्र...."

इतने में एक खूबसूरत औरत वहाँ हाजिर हुई। उसने पूछा —

"यहाँ वैशंपायन आये हैं ?"

"अभी अभी गये हैं।"

मालिक टाँगे फैलाये हुए खड़े हुए।

"क्या करें...।" वह नाउम्मीद हो गई। "अब कहाँ जाऊं? उनका दिमाग़ बिगड़ गया है—" यह कहते हुए वह जाने लगी।

"ओ बाईसाहब! उनका दो दिनका किराया, तीन रुपया बाकी है !"

उस औरत ने मालिक को तीन रुपये दे दिये और जल्दी से वहाँ से दफ़ा हो गई।

तीनं रुपये कमीजकी जेब में रख अपनी तोंद हिलाते वे हँसते रहे। तोंद जोरोंसे हिल रही थी, इसलिये उनसे खड़ा रहा नहीं गया। कुर्सी में बैठे वे हँसने लगे।

"चलिये जी!" फड़के नाउम्मीद होकर मुझसे कहने लगे, "मैंने ही मार मुफ्त में खाई।"

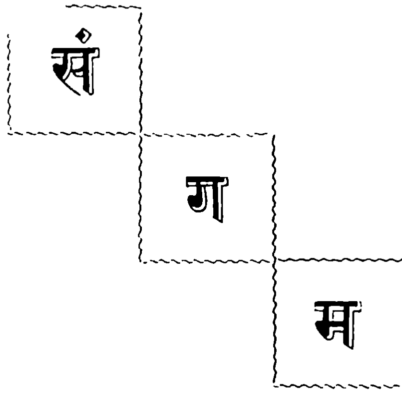
•••

रूपा. : अब्दुलकरीम अथणीकर





अनुक्रमणिका





मन के अरमान जो पंछी की भांति उड़ाने भरता,
इस डाल से उस डाल पर फुदकना चाहता,
सागर के किनारे चहकना चाहता,
नारियल की लचकदार छाया में बैठकर असम पलकों
को पलकों की ओट में छिपाना चाहता........

—ग. व्यं. जोशी

****

यह चिरस्मरणीय घटना जो जीवन में नया मोड़ लाई, जिसने जीवन में गति दी और जो मुझे सुसंस्कृत बना सकी, आज की नहीं, आज से पच्चीस वर्ष पूर्व की है। जब मुझे जीवन के प्रति आकर्षण था। यौवन में लालसायें थीं। मीठे सपने थे। मधुर कामनायें थीं। कल्पनाएं करता और उसकी साकारता के अनुमान से ही प्रसन्न था। किन्तु परिवार के प्रति बचपन से ही, न कोई लगाव था न आकर्षण। छुट्टियां आतीं मित्रों के घर बीत जातीं। कहीं स्नान, कहीं भोजन और कहीं शयन। पहाड़ी नदी की भांति प्रवाहमय पर कोई निश्चित राह नहीं, लक्ष्य नहीं। कभी गपशप, कभी विनोद, कभी सैर सपाटे और कभी पठन-पाठन। सब कुछ बेतरतीब किन्तु सब कुछ सरस।

दिन कटते रहे, भावनाएं विकसित होती रहीं। बचपन खिसक गया। यौवन महकने लगा। यौवन? वह यौवन क्या गुदगुदी और चंचलता न पैदा करे। वह बसन्त क्या जो कोकिल को पंचम राग न दे। बसन्त में ही सहकार बौराकर लता से सहकृत होने की कामना करता है। वह ग्रीष्म क्या, जो ब्राह्म-मुहूर्त में या रात के अन्तिम प्रहर में शान्त समीरण द्वारा कान्तालिंगन में समीरित न कर दे। वह शरद क्या जो चन्द्रिका से सुशोभित अट्टालिका पर रति सुख के लिए लालायित न कर दे। शिशिर हेमन्त क्या जो बूढ़ों में जवानी न ला सके। वह वर्षा क्या जो सरिताओं को उन्मत्त बनाकर हाहाकार करती हुई कगारों को काटते हुई, पेड़ों को गिराती, अपने प्रिय सागर से मिलने न दौड़ाए। वे बादल क्या, जो मयूर मानसों को झकझोर कर उन्मत्त नृत्य में प्रवृत्त न कर दे। जहां सारी जड़-प्रकृति अपने अपने यौवन में उन्मत्त होकर मस्ती से झूमती है। वहां मेरे जैसा सुसंस्कृत सभ्य मानव मदोन्मत्त हो जाय तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। किसी शायर ने कहा है—

किस काम का वो दरिया जिसमें नहीं रवानी,
जब जोश ही नहीं तो किस काम की जवानी,

जीवन के इस मदिर काल में सम्पूर्ण प्रकृति उन्मादपूर्ण लगने लगी। फिर भी मेरी कामनाएं प्राकृतिक होते हुए भी सांस्कृतिक थीं। किसी के अधिकार पर आक्रमण करना मेरे लिए शक्य न था। किसी की हरी भरी खेती कैसे उजाड़ता? मेरा मोह पवित्र था। जीवन का यह बसन्त, समूचे जीवन में केवल एक ही बार आता है किन्तु भरपूर मसृण मादकता, शीतल जलन और बेहोश धड़कने, एक ही साथ सब कुछ लेकर आता है। आंखों में खोज, मन में अभिलाषायें, दोनों का छद्म संगम। जीवन वरदान चाहने लगा, प्राप्ति दूर।

कामनाओं के फूल खिले, हृदय सौरभ से भींग गया। मन मधुकर गुंजन करता पर छूने को कौन कहे देखने का भी साहस न होता। संस्कारों के बन्धन थे। सामाजिक परिसीमायें थीं। विद्या की गंभीरता थी और जातीयता का आतंक था। मन में उमगें उठतीं, इच्छायें होतीं पर आपस में ही टकराकर चूर हो जातीं।

इसी प्रकार कुछ दिन बीत गए, बीतने लगे। कहते हैं भवितव्य को बांधकर नहीं रखा जा सकता है। अचानक एक दिन स्वप्न के समान वह समय भी आया, जिसकी अपने कल्पित मणि-माणिक्य के महलों में रत्न-दीप से आरती उतारता था। बड़े भाई के समान मेरे शुभेच्छु मित्र के सहज सहयोग से चर्चा चली। वे मुझे सुखी देखना चाहते थे। स्वयं गये और आत्म-विश्वास से बात पक्की कर आये।

मेरे पास क्या था? छोटी सी नोकरी, न घर, न गृहस्थी के साधन, न कोई आश्रय न

अनुक्रमणिका



आख़िर तुमने हमारे ऊपर मात कर ही दी !!

सहारा। पंछी का भी घोंसला होता है, मेरा न था, थीं केवल प्रवल किन्तु पवित्र कामनाएं और उसकी पूर्ति की ललक। जब विवेक समाप्त हो जाता है तव मनुष्य आंख रहते अन्धा वन जाता है।

पिताजी पढ़ने के समय में ही चल वसे थे, मां थी पर जीवन मुक्त। सगे वड़े भाई ने मुख मोड़ लिया, छोटे छोटे ही थे। मेरी उन अवोध भाइयों पर क्या जिम्मेदारी थी। वे मुझसे आशा कर सकते थे, मैं कैसे करता। व्यक्तिगत स्वार्थ से मनुष्य कर्त्तव्य को भूलकर अधिकारों का प्रयोग करता है। वही उसके पतन का कारण वनता है।

किन्तु, संसार विना किसी की उपेक्षा किये चलता रहता है। होनहार होकर रहता है। मेरे मित्र ने ख़र्च सम्हाला, था ही कितना? कुल नव्वे रुपये। इतना ही मेरे भाई सम्हाल लेते तो कर्त्तव्यनिष्ठ रहते। यही न करने में वे अपने उन अधिकारों को खो वैठे जो मेरे लिए गर्व का कारण होता। छोटे भाई की सहानुभूति ही उन्हें जेठ और मुझे वैसाख वनाये हैं।

विवाहमें दहेज का प्रश्नही न था। जब मेरा ही आधार कमज़ोर था तव सवाल ही कैसे उठता? मेरे पास था ही क्या? एक ही दिन में सारी रस्में पूरी हो गईं और मेरे नव-जीवन के नये पृष्ठ पर जीवन की सारी साधें अंकित हो गईं। विना किसी आडम्वर के, विना किसी धूम-धाम के ही दो जीवन इकाई में पूर्ण हो गये। मैं प्रसन्न था। मेरे सहयोगी प्रसन्न थे।

किन्तु आज भी जब कभी सोचता हूं तव हैरान रह जाता हूं कि मेरे सास ससुर ने मुझमें देखा क्या? न रूप न रंग न सौन्दर्य, न ही उसे छिपानेवाला धन। न समयानुकूल मेरी विद्या का मूल्यांकन। वह ऐसा ज़माना था, जव मेरी अर्जित संस्कृत विद्या घृणा की दृष्टि से देखी जाती। तथा कथित उस सभ्य समाज में मेरे जैसे व्यक्ति के लिए कोई स्थान न था। फ़िर भी आज ऐसा लगता है जैसे मेरी होनेवाली ने मेरा भविष्य आंक लिया था। मेरे एक गुरु-जन मुझे होनहार मानकर आदर करते, तारीफ़ करते और प्रोत्साहन ही नहीं, मेरे उज्जल भविष्य की कामना करते। आज मैं उन आशीर्वादों को सोचता हूं और मन ही मन प्रणाम करता हूं पर उस समय न जाने क्या क्या सोचता रहता था।

समय वदला, विचार वदले। अचानक एक दिन हम दोनों विना किसी पूर्व-पीठिका के ही वम्बई चले आये। यौवन के सुनहले प्रभात में प्रायः सभी लोग सोचते हैं कि अपने छोटे से घोंसले में अपने जोड़े के साथ रहें, दिन भर चारे चुगकर एक दूसरे की चोंच में दें हमारा यह सोचना भी केवल सोचना ही रहा। किसी प्रकार एक जगह मिली, उसकी भी शर्त बड़ी कठोर थी। मेरी सीता की रसोई में मकान मालिक और उनका भांजा भी शरीक होगा।

मन के अरमान जो पंछी की भांति उड़ाने भरते, इस डाल से उस डाल पर फुदकना चाहता, आकाश की नीलिमा में स्नान करना चाहता, सागर के किनारे चहचहाना चाहता, नारियल की लचकदार छाया में वैठकर असम पलकों को पलकों की ओट में छिपाना चाहता, और सागर की राग-रागिनियों से मुखर वेला की कोमल सेज पर पंख पसार कर विश्राम करना चाहता था। सब कुछ ताश के महल की भांति तितर वितर हो गया। पांच आदमियों का भोजन, चौका वरतन आदि दैनिक यथार्थता की कठोरता से कोमल भावनाएं मधुर मधुर कल्पनाएं टूक टूक हो जातीं। मैं देखता रहता, लेकिन पशु सामान्य धरातल से ऊंचा नहीं उठ सकता था। हमारी काम-केलियां चलती रहतीं। कभी कभी सोचता, कुछ समय पहले जो लड़की मां की गोद में प्यार से पली थी, गृहस्थी के सभी काम-काज से जिस के हाथ न काले हुए थे, न कठोर, वही मेरे लिए पांच सात वकासुरों का भोजन वनाती, फिर भी उसे प्रतिदान में मैंने भी वही दिया जो एक भारतीय पति देता है। कभी गालियां? कभी नाराजगी से चुप्पी साधकर परेशानी। इसके अतिरिक्त मेरे पास कुछ था ही नहीं।

घर में मेहमानों का तांता लगा रहता था। मंत्री से झाडूवाले तक, आचार्य से निरक्षर भट्टाचार्य तक, उत्तर काशी से दक्षिण काशी तक के मेहमान आते – सवका उचित आतिथ्य करना पड़ता। उसके ही वल पर मैं आतिथेय वना। लेकिन कभी भी मेरी देवी कि त्यौरियों पर वल न पड़े, भृकुटि में भंगिमा नहीं आयी, नित्य प्रसन्न–वदना, प्रशान्त मनसा। इतना होने पर भी न कोई शिकायत न शिथिलता का आभास। सम्भवतः भारतीय नारी का जन्म इसीलिए होता है। मेरी परिचर्या उसकी दिनचर्या थी। वर्ष की अवलि जो जीवन के अत्यंत सुनहले क्षण थे, क्षण के समान और वीत गये।

यौवन की लालिमा खिलने लगी। दाम्पत्य

जीवन का पुण्य अंकुरित होने लगा। पत्नी मातृत्व के बोझ से भारभूत होने लगी। खुशियां छाईं। ससुराल में उत्सव समारंभ हुआ। मेरे सत्कार के उपलक्ष्य में मेरा कंठ सुवर्ण की जंजीर से सजाया गया। किन्तु फिर मेरा घोंसला तितर–बितर हो गया। चमन उजड़ गया।

फिर गर्मी की छुट्टियां आईं, गांव जाने की तैयारी होने लगी। रास्ते में ही ससुराल था। वहीं मेरा सुख था। उड़कर पहुंचने की प्रबल इच्छा होने लगी। मैंने इसे अपना पाप समझा और ससुराल वाले महापुण्य का पर्व मानने लगे। पत्नी भारी पैरों से स्टेशन तक स्वागतार्थ आई। मन हरा भरा हो गया। एक दो दिन साथ रहा। दिन नजदीक थे। लाचार था, गांव चला गया। वहां फिर वही आनंद, वही रहन-सहन, वही गपशप। पर सूना सूना, खोया खोया सा। सप्ताह नहीं बीता, समाचार मिला कि मैं बाप बन गया हूं। मन उस आगन्तुक, अनजान शिशु को देखने के लिए तरसने लगा।

कन्या का आगमन मेरी गृहस्थी के लिए वरदान ही था। उसके बीजरूप आगमन के ज्ञात होने से पूर्व ही आर्थिक दशा सुधरने लगी। पत्नी के लिए सोने की चूड़ियां बनवायीं, गले का हार, और भी कुछ जेवर। तकदीर और तदबीर दोनों का सहयोग मिला। गृहस्थी की सारी चीजें खरीदीं। गांठ भरी थी। बिटिया के लिए भी सोने की चूड़ियां लीं, और अपनी प्रतिकृति नन्ही मुन्नी को देखने चला। सास ससुर ने फिर समारोह मनाया। सौ दो सौ लोगों को दावत दी। नामकरण संस्कार हुआ। सरिता के सरस सरल और मन्थर प्रवाह में एक कमल खिला। उसकी क्रीड़ाएं, उसका टुकुर टुकुर देखना, देखकर दुर्लभ सुख की अनभूति मिली। उसे अपने जन्म-प्रदाता की पहचान कराते देख मैं आश्चर्य चकित हो जाता।

मेरे ससुर विदेह थे। गृहस्थी से विरक्त थे। घर में बिटिया के आगमन से उनके वृद्ध शरीर में एक नये जीवन का दौर आया। वे विरागी से अनुरागी बन गये। सूखे हृदय में हरियाली लहराने लगी। जो अपनी सन्तान के लिए भूलकर भी खिलौने नहीं लाये, वह नित्य नये खिलौने लाने लगे। उसके साथ खेलने लगे। घण्टों रमने लगे। झूला झुलाते और अपना मन बहलाते। इससे मेरी सास बहुत प्रसन्न थीं। उसकी इस सांसारिकता से सबको अचरज होने लगा। वस्तुतः वे देवता थे। स्वार्थ उन्हें छू नहीं सका था। मुझे पुत्र-सा ही मानते थे। प्रचलित राजनीति से लेकर परिवार नियोजन तक के विषयों पर बहस करते और प्रसन्न होते। जे. सी. कुमारप्पा पर उनकी श्रद्धा थी। ग्रामोद्योग के बारेमें उनके मतों का प्रचार और प्रसार चाहते थे। इससे सम्बन्वित पुस्तकें देते, मैं पढ़ता, लेकिन चरखा संघ पर मेरी श्रद्धा न थी। यंत्रयुग के बारे में मैं राहुल का अनुयायी था।

छुट्टियां समाप्त होते ही मैं अकेला बम्बई आया। बिटिया एक माह की थी। बम्बई आने पर नौकरी के बावजूद मुझे काम मिलता गया, मैं मेहनत करता गया। एक छोटा सा घर मिला। उसमें छोटीसी गृहस्थी और–सब लोग आये –गृहस्थी स्वर्ग बन गई। मेरा गृहस्थ (किन्तु कुछ महीनों का एकाकी) जीवन। आमदनी होने लगी, गृहस्थी बढ़ने लगी। मैं, पत्नी और कन्या की सुख-सुविधा के लिये प्रति दिन सचेत रहता। यही मेरा आदर्श तब भी था आज भी है।

मैं आज भी यह चाहता हूं, पत्नी कुछ मांगे जिद् करे और मैं ला दूं। किन्तु आज पूरे पच्चीस वर्ष हुए, इस देवी ने कभी कुछ मांगा ही नहीं। भूषण, अलंकार स्त्रियों के प्रिय होते हैं, पर मैं अभिमान के साथ कह सकता हूं उसने कुछ भी नहीं मांगा। मैंने अलंकार-प्रिय नारियों के हठ की कई कहानियां सुनाईं, फिर भी वह न मांगती, इससे मैं और अधिक शर्मिन्दा हो जाता। इस भोलेपन और भलेपन पर मैं रीझ जाता। मेरी दृष्टि में उसका स्थान और ऊंचा होता गया। शायद अयाचित वृत्तिवालों को ही सभी चीजें सुलभता से प्राप्त हो जाती हैं।

परिस्थिति के अनुसार सभी चीजें घर में आयीं। घर छोटा है, पर सजा हुआ है। बिटिया की शैशव लीला से हम दोनों आत्मविभोर हैं। उसके और उसके भाग्य से सफलता मिली। सब कुछ उन्हीं का ही है। वे ही दोनों मेरी आशा हैं। आमदनी का शेष फल उसीके ही नाम से जमा करता गया। कुछ अधिक मिला तो पत्नी के नाम से। अपने नाम से कुछ भी नहीं जमा किया। गीता में लिखा है– "समत्वं योग उच्यते" किन्तु इस समत्व से मुझे प्रसन्नता न थी। मैं नूतन पथ का पथिक बनना चाहता था। इस चिर चिन्तना के अनन्तर मैंने सांख्यदर्शन का सिद्धान्त अपनाया, 'प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु निर्लेपः।' शैशव में पड़े हुए इस सिद्धान्त ने मेरे सांसारिक जीवन में सरसता और सरलता ला दी, संसार को तटस्थता से उदासीनता से दर्शन करने का दृष्टिकोण दिया, 'कर्तापि, अकर्ता, भोक्तापि अभोक्ता।'

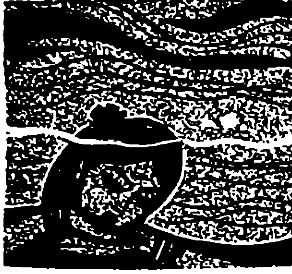
बीच बीच में उसे कुछ कष्ट भोगना पड़ा। इस समय मेरी हालत बहुत अच्छी थी। अच्छे से अच्छे डाक्टरों द्वारा चिकित्सा करवा सकता था, किन्तु भी वैसे ही। घर में पूरे समय का नौकर है। आवश्यकतानुसार महाराज भी रखा। काफी सोच विचार के बाद हम लोग आधुनिक विज्ञान की शरण में गये। सफलता भी मिली। आज तक मुझे कुछ थोड़ा सा यश मिला प्रगति मिली, प्रसार हुआ, सब पत्नी की देन है। इससे ही मैं सुखी हूं। जीवन का तीन चौथाई सफर समाप्त हो गया है। यह मेरा चाह है कि पत्नी और बिटिया को कोई दुःरी न हो। मुझसे ऐसा कोई काम न हो जो उन्हें क्लेश या कष्ट दे। परमात्मा भी मुझसे ऐसा कोई कार्य न कराये, यही मेरी प्रार्थना है।

मेरा हृदय साफ़ है। मैंने किसी को दुःख नहीं दिया है, किसी के अनिष्ट की चिन्तना नहीं की है। मैंने यथाशक्ति अपनी शक्ति के अनुसार बहुत से लोगों की सहायता की। कुछ लोगों को अच्छे स्थान पर बैठाया, उनकी प्रगति देखकर हम दोनों आनन्दित हुए। हमेशा किसी न किसी के लिए कुछ न कुछ करता हूं। कभी विश्रान्त एवं कभी श्रान्त मेरे मानस को उसने प्रोत्साहित किया। विद्याध्ययन में प्रवृत्त कराया। परीक्षा कार्य में सहायता दी। मेरा ऐसा कौन सा कार्य है, जिसमें मेरी सह-धर्मिणी का प्रतिबिम्ब न हो। सारे घर का काम काज देखकर २-३ वर्ष के अथक परिश्रम से सीने-पिरोने की परीक्षाएं दीं, उनमें सफल रही। सचमुच वह मेरी सहधर्मिणी रही। मैं उसके प्रति कृतज्ञ हूं।

● ●.●

अनुक्रमणिका

भारतीय संस्कृति का दर्शन सृष्टि के कण-कण में होता है। हमारी सरिताएं इस से अछूती नहीं हैं। उत्तर भारतमें सिंधु, गंगा, यमुना, सरस्वती एवम् दक्षिण में नर्मदा तथा गोदावरी ये सरिताएं उच्च तथा उदात्त भारतीय संस्कृति की प्रतीक हैं ....



छलके स्तन्य वसुन्धरां का....

-आनंद साधले

ते ज स्वि नी सिं धु

भारत-भूमि भगवान की दुलारी है इसीलिये उसे सिंधु की देन का वर-दान प्राप्त है। भगवान ने जब आलेख लेखन में पूरा ज्ञान प्राप्त किया तब ही भारत का आलेख बना। संसार का सारा तौल मानों भारत ही सँभाले हुए है। और यह तौल समान हो इस दृष्टिसे जगदाधार समझे जानेवाले हिमनग ने सिंधु और ब्रह्मपुत्रा के रूपमें अपने दोनों करोंसे भारत को अपने हृदय से लगाकर अपने बाहुपाश में समेट लिया है।

सिंधु का उद्गम तिब्वत में हुआ। भारतभूमि को इसे पाकर धन्य न होना होता तो, इतनी बाधाओं को लाँघते हुए, इतनी दूरी से, इतने टेढ़े-मेढ़े मार्ग से वह भारत की ओर क्यों मुड़ती? पिन्हाई गाय अनेक बाधाओं को लाँघते हुए रंभाते जाती है, हिरकणी माता बुर्जोंकी ऊँचाई घटाकर उनको लांघने के लिये समर्थ होती है, उसी प्रकार सिंधु समस्त बाधाओं को लांघकर अपने स्तनों की धारा छलकाती हुई भारत की ओर दौड़ी। यही समुचित था कि कैलास के मानस से सिंधुके रूपमें प्रवाहित प्रीति-धारा कैलास की संतान के पास आये।

समस्त संसार में जो कार्य किसी जलौघसे न बना वह कार्य सिंधु से होना था। विश्व-वंद्य संस्कृतिका उसीकी कोख में जन्म होना था। दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों से जन्मी हुई यह नवसंस्कृति सर्वसंग्राहक, परमसहिष्णु और उदात्त भावना से परिपूर्ण ही थी। श्रीरामचन्द्र की देह कौसल्यामाता की कोख में जन्म ले सकती है। भगवान श्रीकृष्ण को यशोदा ही जन सकती है। यह ऐरे-गैरे का काम नहीं। उदात्तता के कारण जगद्वंद्य बननेवाली जिस संस्कृति का जन्म भारतमें होनेवाला था उस संस्कृति की देह को वहन करने के लिये उदात्त ही गर्भकोष की आवश्यकता थी। यह महान ऐति-हासिक कार्य पूर्ण होने के लिये भारत को सिंधु का वरदान प्राप्त हुआ। इस वरदान की पूर्ति में सिंधु ने आर्योंको नष्ट किया और हिन्दुओं को जन्म दिया।

उत्तर ध्रुव में जन्मी आर्य जाति, प्रगति के मार्गपर अग्रसर हो रही थी। उसे अपनी नग्नता का ज्ञान प्राप्त हुए सहस्र वर्ष व्यतीत हो चुके थे। स्त्री और पुरुष इस नाते की परिणति पिता-पुत्री, पति-पत्नी, भाई-बहन इस रूप में हुई थी। नारी के लैंगिक बल पर आधारित समाज की रचना विकृत होकर पुरुष के बाहुबल पर नयी रचना स्थिर हो रही थी। दाँत और नाखून इन शस्त्रोंकी महत्ता अब लुप्त हुई थी और धातुके शस्त्र बन रहे थे। अपरिमित बर्फ़ को अपेक्षा भग-वान ने अन्य वस्तुएं भी निर्माण की हैं और श्वेत अश्वलोंकी अपेक्षा अधिक प्रिय भी कुछ है, इस ज्ञान से निर्मित आर्यों का संक्रमण शीत से धूप की ओर, अंधेरे से प्रकाश की ओर, तथा स्थिति से प्रगति की ओर चालू था।

सहस्त्रों वर्षो को अकुंठित प्रगति से आर्योंको श्रेष्ठत्व का ज्ञान हुआ। आत्म-विश्वास बढ़ा। '''कृण्वंतो विश्वमार्यम्'' यह घोषवाक्य बना। यह घोषणा ईरान तथा गांधार को गुंजारित करती हुई कुभा (काबुल) नदी पर से लुढ़कती अटक तक आ पहुँची और यहीं उसे स्थिरता प्रदान की गई। यह रोक, स्थिरता, बल की नहीं थी किन्तु उदात्तता की थी, भव्यता की थी; पराजय की नहीं प्रेम की थी। मानों भगवान ने अपना आशीर्वाद रूपी कर मध्यमें ही डालकर यहीं, इसी स्थानपर रोकने का आदेश दिया है। यात्रिक की यात्रा का अंत विश्वेश्वर के चरणों में हो; वारकरी की इच्छा पूर्ति पंढरपुर के पंढरी के दर्शन से हो; मुमुक्ष को साक्षात्कार में शांति का लाभ हो; वैसी ही भावना आर्यों में सिंधुके दर्शन से निर्माण हुई। पाँच-पाँच मील चौड़ा सिंधुका पाट देखकर चकित आर्योंने इस जलौघका नामकरण अपनी भाषाका उचित शब्द 'सिंधु' के





अनुक्रमणिका

नाम से किया। चकित वृत्ति से गति कुंठित हुई । जहाँ गमनागमन को पूर्णविराम प्राप्त होता है वह परमधाम यही सिंधु है इस भावना के कारण मन प्रसन्न हुआ। अन्य भूमि को पार करके जो आर्य यहाँ तक आये हुए थे उनका गति प्रवाह इस स्थान पर रुक गया। यहीं स्थिर हुआ।

यह घटना कोई साधारण घटना नहीं थी । सिंधु के दर्शन से आर्यो के भ्रमण में रोक निर्माण होना एक महान क्रांति थी । सिंधु और उसकी उपनदियों द्वारा सींची भूमि को समृद्धि में आर्यो का मन स्थिर हुआ तभी आर्यो के जीवन में आमूल परिवर्तन हुआ। "जीतो, लूटो और अग्रसर हो" यह भूमिका अब बदल कर उन्होंने "बचाओ, संवर्द्धन करो और सुखशांति से उपभोगो" इस भूमिका को स्वीकार किया था। समन्वय उदित हुआ। सहकार की भावना जन्मी। संकर भी निर्माण हुआ। 'सब कष्ट करें तथा सब खायें' की प्रगति और विस्तार पाने लगी। श्रमविभाग की निर्मिति हुई । चातुर्वर्ण्य का संचलन हुआ। राजसंस्था का अस्तित्व-निर्माण हुआ। पुरोहित-संस्था दृष्टिगोचर होने लगी। कल तक जो हिंदूसमाज का स्वरूप दृष्टिगोचर होता था उसकी रूप रेखा सिंधु के गर्भ से प्रकट हुई । आर्योंने अपने को हिंदू समझकर सिंधु को पार किया। आर्यो को यहाँ इस बात का साक्षात्कार हुआ कि समस्त संसार में जो सर्व श्रेष्ठ है, जो मनोरम है, जो उदात्त है वह सारा यहीं है । यह साक्षात्कार उन्हें सिंधु के कारण हुआ । आर्योंको भारत में रोकने की उन्हें चिरस्थायी करने की, भारत का इतिहास निर्माण करने की, संस्कृति को जन्म देने की शक्ति सिंधुमें थी । वर्तमान में, भारत की अजेय तथा अतुलनीय संस्कृति निर्माण करनेवाली के रूप में सिंधु को संसार के इतिहास में अतुलनीय स्थान प्राप्त है । संभव है उसके पानी में यमुना का विलास न हो, गंगा की पाप-विनाश शक्ति न हो किंतु पर्णविलास उपभोगने के लिये तथा पाप करने के लिये जिस समाज की आवश्यकता है, उस समाज की संस्कृति बनाने की शक्ति सिंधु में है। इसीलिये भारत की आदरणीय सप्तसिंधुओं में वह अग्रगण्य है। उसके तीरों पर भले ही काशी और प्रयाग जैसे तीर्थस्थान न बने हों तथापि तीर्थस्थान ही जहाँ पूर्णत्व प्राप्त करते हैं उस भगवान की विशालता की कल्पना का आभास प्रदान करनेवाला सागर ही उस माता सिंधुसे एकरूप बना हुआ है। ●

विलासिनी यमुना

गंगा तथा यमुना दोनों ही सगी बहनें हैं। एक तपस्विनी है तो दूसरी विलासिनी, गंगा लोकसेवा करते हुए, तप का आचरण करते हुए अपने मार्गपर अग्रसर होती है तो यमुना राजविलास का उपभोग करते हुए प्रवाहित होती है ।

यमुना का जन्म ही तालेवारी में होता है । धूप तप रही है और उससे हिम द्रवित होकर उसका रूपांतर प्रवाह में हो रहा है। यही यमुना का उद्गम है। चंचल राजकन्या कभी क्रोधित होती है तो कभी हर्षित। उसी की भाँति यह यमुना कभी हिमशीत बनती है तो कभी वाष्पोष्म । अपनी दुलारी पुत्री के ये सारे चोंचले पिता अविरत पूर्ण किया करता है । इस प्रकारके वातावरण में पली हुई यमुना तालेवार न हो तो क्या?

गंगामाई के पानी ने हरद्वार, प्रयाग, बनारस, बेलूर जैसे तीर्थस्थानों को पुष्ट बनाया तो यमुना के पानी से हस्तिनापुर, दिल्ली, आगरा, मथुरा जैसे राजविलासमय नगरोंका उदय हुआ । गंगा के आसपास के भागों में वेदमंत्र गाये गये तो यमुना के आसपास का भाग गोप-गोपियोंके रासगीत, अनारकली के प्रीति निःश्वास तथा अर्जुमंदबानू के कामसीत्कारों से मुखरित हो उठा। सितार के तार - झंकारों से स्वरमेघों पर स्वरमेघ जिस भाँति छलक पड़ते हैं वैसा ही यमुना की तरंग तरंग से विलास-विभव विस्तरित हुआ। यमुना के तीरपर ऐसा कोई स्थान नहीं जहां प्रणयी युगलों के हाथ एक-दूसरे के गले में न पड़े हों और अधर अधरोंको स्पर्श न करते हों। यमुना के निकट पहुँचते ही बाँसुरी के स्वर कानों में गूंजने लगते हैं । प्रेमियोंकी विरहातुर आर्त्त पुकारें, हृदय चीरकर वातावरण में लय हो जाती हैं । क्षणभर वर्तमान विस्मृत होकर अतीतका दृश्य लोचनों के सम्मुख नाच उठता है । कामिनी के चरणों के नूपुरों की ध्वनि सुन पड़ती है । कुंजों की उस ओर जाने के लिये मन उद्यत नहीं होता क्योंकि संभव है वहाँ कोई कामसमाधि में लीन हुआ होगा ! यमुना के पानी का घूंट लेने को जायें तो उससे कामिनी के कस्तुरीलेप की सुगंध निकलती है । उनके अधरों का गुलाबी रंग यमुना के पानी में प्रतिबिंबित दृष्टिगत होता है । प्रति पर्ण तथा मौज की सरसराहट, कामिकोंकी चाटुक्ति कानों में अमृत संवेदना उँड़ेल देती है । ये वसंत के स्वर हैं, हिंडोल के स्वर हैं, तो ये हैं जयजयवंती के स्वर जो तनुको रोमांचित कर देते हैं । नयनों के सम्मुख कमल-दलोंके शयनागार, वे जातिलताओं के कुंज तथा वे छायावह कदंब डोल उठते हैं । मार्ग-मार्गपर गिरे हुए उत्तरीय, निकल पड़े हुए मुखराग, बालों से गिरे हुए फूलों में पाँव उलझ जाते हैं और हमारी गति को रोक देते हैं । समस्त संसार की विस्मृति सी हो जाती है और मोहित मन आतुरित हो जाता है, खिल उठता है । आगे चाँदनी खिलती है । यमुना के दह में मृदुमृदुल मखमलों के आस्तरों से सुखद बनी क्रीड़ानौका दृष्टिगत होने लगती है और उसमें परों के शयनागार में लोटने वाली कामिनी के मृणाल कोमल अधरोंसे, खुरंभे के आलिंगन के आवेगों के पाश्वंकी सुखद वेदना में से

अनुक्रमणिका





प्रस्फुरित होनेवाले कामतृप्ति के सीत्कार इन्द्रधनुष्यपर आरोहित होकर मन को व्याकुल करते हुए ताजमहल के रूप में ईश्वरी साक्षात्कार करानेवाली उदात्तता के अनुरूप उच्च बनते हैं। प्रणय ईश्वरीय जादू है और प्रणयपूर्ति का आनंद ईश्वरीय साक्षात्कार के समान ही उच्चश्रेणी का है यह बताते हुए ताजमहल का सपना साकार होता है।

इस प्रकारके विलास भोगनेवाली यमुना उन विलासोंको अपनी ओर खींच लेती है। वह सुखांगिनी प्रमदा बनती है। उस के अंग अंगसे वैभव चू पड़ता है। वह पुष्ट नितंबिनी, घनस्तनी तथा अलसगमना बनती है। मैं धन्य हूँ। मैं तृप्त हूँ। मुझे कोई अभाव नहीं यही एक विचार उसको है। इसी विचार में वह प्रयाग तक आती है और फिर अन्य मार्ग को अपनाने के कारण वियोगिन बनी गंगाका दर्शन उसे होता है और एक नय साक्षात्कार का आभास होता है।

इस साक्षात्कार में भारत के जीवन मूल्य का सही तत्व समूर्त्त हुआ है। गंगा-यमुना के दर्शन के बिना भारतीय जीवन की पूर्तता कहाँ? भारतीय अध्ययनकी पूर्तता इस संगम की तीर्थयात्रा से ही हो सकती है। धनसंपत्ति, भोगविलास इनसे जीवन भले ही परिपूर्ण हो तथापि इस राजस-सात्विक संपत्तिके तेज के सम्मुख वह पाण्डु पड़ जायेगा। तपःतेज के सम्मुख राजतेज कदापि कम श्रेणी का ही होगा। श्रीरामचन्द्र भले ही अयोध्यानाथ हों किन्तु उसे वसिष्ट के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा। देवों की सभाका अध्यक्षस्थान सुशोभित करनेका मान वेदमूर्ति ऋषि को प्राप्त होता है चाहे वह बालवयस् हो या कुरूप। विद्वानोंसे भेंट होनेपर राजा उन्हें स्वयं हटकर मार्ग बना देता है। इन बातों के पार्श्व में जो जीवनमूल्य तथा विचारधाराएं स्थित हैं वही धाराएं तथा भावनाएं इस संगम में साकार हुई हैं। विलास सुंदरा यमुना जब तपःसुंदरा गंगा के निकट आती है तो एकाएक थम जाती है, उसके प्रवाह में रुकावट आ जाती है। अपना वैभव भले ही अमूल्य हो; भले ही साक्षात् श्रीकृष्ण अपने उदरमें नीलवर्ण के रूप में वास करता हो; भले ही साकार प्रणय ताजमहल के रूप में रति का स्वप्न अपने तीरपर सत्यता जताता हो, जगज्जेता सम्राटों के भूषण अपनी देह पर हों तो भी तपःपुनीत, धवलवसना गंगा के सामने स्वयं को विनम्र बनना चाहिए यह यमुना अनुभव करती है और इसीलिए यकायक थम जाती है। किंतु गंगाका यहाँ ध्यान ही कहाँ। 'निःस्पृहस्य तृणं जगत' को न्यायबुद्धिसे यमुना जो भुवनभांडार तुल्य जलराशि की खंडनी लाती है उसकी ओर ध्यान दिये बिना गंगामाता अपने तपोज्वलित जीवन के मार्गपर अग्रसर होती रहती है। किन्तु सुसंस्कृत यमुना इसमें कदापि अपमान नहीं मानती। तपस्विनी के शुभ चरणोंपर जिस प्रकार कुलांगना अर्घ्य देती है उसी प्रकार वह अपनी अथाह जलराशिको आदरांजलि के रूप में समर्पित करती है। अपना सर्वस्व गंगार्पण करके अपने जीवन को उसीकी जीवन धारामें सम्मिलित कर देती है। यहीं से वह यमुना न रहकर गंगा बन जाती है। अपने सफल जीवन का सफल अंत करने में वह सफल बनती है। मृत्यु ही सच्चा जीवन है, क्योंकि मृत्यु से नए जीवन का आरंभ होता है और इसीका दर्शन यमुना यहाँ कराती है। यही भारतीय जीवन का तत्वज्ञान है और इस तत्वज्ञान को आचरण में लानेवाली यमुनाने ही प्रयाग को तीर्थस्नान का स्वरूप दिया है।

ऐसा बताया जाता है कि इस संसार में सबकुछ क्षणभंगुर है। इस पर विश्वास कैसे करें? गंगा-यमुना संगम का उदात्त ईश्वरीय सौंदर्य अपना साक्षात्कार युगों-युगोंसे करा रहा है और भविष्य में भी युगों-युगों तक कराता रहेगा। वह चिरंतन है।

त प स्वि नी गं गा

गंगा हमारी माता है। माता यह शब्द सुनने के बाद हमारे मन में अनेक भावनाएं उमड़ आती हैं किंतु इससे कुछ अधिक भावना गंगा शब्द सुननेके उपरांत उमड़ आती हैं। इस प्रकारकी भाग्यवती गंगा, भारतीय संस्कृति का एक सुरम्य आश्चर्य है। गंगा यह शब्द सुनतेही उसका दर्शन करनेकी अभिलाषा उत्पन्न होती है। उसके प्रवाही स्त्रोतका दर्शन हो, उसके पुण्यपावन प्रवाह में स्नान करने का अवसर प्राप्त हो, कमसे कम जीवन-मुक्ति प्रदान करनेवाले उसके पानीकी एक बूंद मुखमें पड़े यही जीवनकी इतिकर्त्तव्यता मानकर भारत की अनेक पीढ़ियोंने अपने भावनिष्ठ जीवनका अंत किया है। ऐसे स्थानपर स्नान करते समय गंगा-प्रेमसे ओतप्रोत होकर जब उसके मुखसे "गंगेऽगंगेऽ" ऐसी भावकरुण आर्त पुकारें निकलती हैं तब गौमातासे बिछड़े हुये बछड़े के आर्त स्वर की स्मृति जागृत होती है।

गंगामाता ने हमारे मनोंपर विशेष प्रभाव डाला है। मानों स्वयं जन्मदात्री माता है, इसी भावनाको लेकर अत्यंत वत्सलता से अपनी ममतामयी गोदमें अनेक पीढ़ियों की भारतकी अस्मिताको उसने आश्रय दिया है। जो इस संसारसे ऊब गये हैं, जो दुःखोंसे झुलस गये हैं, उनके दुःखोंको भुला देनेकी शक्ति, उनमें निर्माण करनेका सामर्थ्य गंगाके ममतामयी स्पर्श में है। गंगा मानों साक्षात् माता की ममता है। भगवानकी मूर्त करुणा। सारे जीवन में गंगा माता का दर्शन न हो सका तो कमसे कम मृत्युके उपरान्त हरद्वारमें उसकी गोदीमें चिरनिद्रा प्राप्त करने की हमारी तीव्र अभिलाषा होती है। इस माता के स्पर्श में दुःखका रूपांतर सुखमें, पापका पुण्यमें तथा नर्कका स्वर्गमें करने का एक जादू है। इसके सुखको लूटनेके लिये किसीको रोक नहीं है। किसीसे पक्षपात वह नहीं करती। इस ईश्वरीय सृष्टीमें कोई धनी है तो कोई निर्धन है, किन्तु गंगा के शीतल स्पर्श में धनी और निर्धनी को समान ममता की प्राप्ति होती है। वस्तुतः

अनुक्रमणिका

भगवानकी हम भारतीयों पर यह एक कृपा ही है कि गंगामाता उसे स्वर्गमें त्यागकर इस भूमिपर उतर आयी है। देवोंका देवत्व उसी समय नष्ट हुआ, स्वर्ग मरुभूमि बन गयी और भारतने नंदनवनका रूप धारण किया।

गंगामाता इस भूमिपर अवतरित हुई। हिमालयपर इसका उद्‌गम हुआ। तिब्बतकी देवभूमि में चौकड़ी भरनेवाली इस गिरिकन्याके सम्मुख यत्नोंकी परिसीमा बनाकर, रघूके जनकल्याणनिरत पूर्वजोंने लगातार अनेक पीढ़ियों से तपस्या की; भारत के आर्यों के जीवनको समृद्ध तथा पावन करने की दृष्टिसे गंगा के मार्गपर अपने जीवनको समर्पित करके उन्होंने गंगामाताके प्रवाहमार्ग को मोड़ लिया; तब उनकी निस्पृह तथा निरलस तपस्यासे प्रसन्न बनी हुई गंगामाता अपना स्वर्गलोक का सुखसाम्राज्य त्यागकर हिमालय से उतरनेके लिये उद्यत हुई। रघू के पूर्वजों की तपस्या इतनी सामर्थ्यशाली थी कि उनकी तपस्यासे प्रसन्न बनी हुई गंगामाता आज भी शतशत पीढ़ियों के चले जाने पर भी हम राघवों पर वैसी ही प्रसन्न है। दीनों का उद्धार तथा दुःखोंका परिहार करनेकी अपनी व्रतसाधना वह सतत कर रही है। देवभूमिमें जब वह अप्सरा स्वरूप थी तब उसकी जीवननिष्ठा क्या थी यह हमें अज्ञात है, तथापि, भारतभूमिमें अवतरित होनेपर 'लोककल्याण'ही उसकी जीवननिष्ठा बनी है। मातृत्व प्राप्त होते ही विभ्रम लुप्त होकर जैसा वात्सल्यका वैभव खिल उठता है, इसी प्रकार लोकमाता बनकर भारत में उसका आगमन होनेपर जो वात्सल्य बाढ़के रूपमें गंगामाताके हृदय में छलक पड़ा वह आजभी घट नहीं रहा है। भविष्यमें भी वह वात्सल्यरसकी बाढ़ नहीं घटेगी।

माताको अवकाश नाममात्र के लिये भी प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार गंगाका दर्शन जहाँ कहाँ होता है, वह उतावलीमें होता है। कर्तृत्वशाली तथा पुण्यसे परिपूर्ण गंगामाता का यह प्रचंड प्रवाह! किन्तु, दीनों के दुःखोंको हरण करने का कार्य इतना अपरिमित है कि उसके लिये अपनी पूरी पुण्याई भी उसे अल्प ज्ञात होती है। संसारके अनन्त प्रवाहके प्रतिक्षणमें अपने अपार जलप्रवाह की प्रत्येक बूंदबूंद से दुःखितों के झुलसे हुए मनोंपर शीतलताका लेप लगाते हुये अपने मार्ग पर वह अग्रसर होती है। एक क्षणका भी उसे अवकाश नहीं। यही कारण है कि यमुना जब उसे आ मिलती है तब उससे बोलने के लियेभी उसके पास अवकाश नहीं। मार्गपर चलते समय केवल एक भ्रूकटाक्षसे वह देख लेती है। अपनी कन्याका उदात्त गंभीर तपोजीवन निकटसे देखने के हेतु प्रत्यक्ष कैलासनाथ विश्वेश्वर काशीमें आता है तो भी पिताके पवित्र चरण पूजनेके लिये जितने समयकी आवश्यकता है उतने ही क्षण उस स्थानपर रुककर गंगामाता दुःखनिवारण का व्रत अविरत रखने के लिये अग्रसर होती है।

जब कोई दुःखसे उसे पुकारकर उसकी गोदीमें अपना समस्त जीवन समर्पण कर देता है तब कहीं गंगामाताको अवकाश प्राप्त होता है। उसकी पीठ सहलाकर उसके दुःखका निवारण करने तक वह वहाँ रुकती है। कुंतीने जब अपने पाप कर्मके फलको चर्मण्वती द्वारा गंगामाताके पास भेजा तब उसे अपनी गोदमें लेकर पावन किया और भारतभूषण कर्ण के रूपमें संसारके सामने रखा। जगन्नाथ पंडितने संसार-तापोंसे झुलसकर काचाती को आर्त स्वरमें पुकारना आरंभ किया तब भी गंगामाता एक क्षणभर रुकी और उसने जगन्नाथ को शांति प्रदान की। इस प्रकार कोटि-कोटि जीवों के दुःखों का हरण करने के लिये जो समय उसे आवश्यक होता है वही उसका अवकाश है। अपनी गृहस्थीमें अविरत कार्यमें संलग्न माता जब बालक को स्तनपान कराती है तभी उसे कार्यसे अल्प अवकाश प्राप्त होता है।

सतत चलनेवाली गंगा की श्वासों से जो संगीत प्रतिक्षण वातावरण में अंकित होता है उसका उदात्त चित्र सात सौ वर्ष पूर्व के एक संतकी वाणीमें प्रकटित होता है।

"हे प्रभू तुम्हारी, कृपाकी अविरत धारा मेरे जीवनमें प्रवाहित होने दो। तुम्हारी कृपासे मेरे हाथों ईर्षाका रूपांतर प्रीतिमें होने दो, जहाँ दुःख है वहाँ शीतलता होने दो, जहाँ संशय है वहाँ श्रद्धा फैलने दो, अंधकारसे प्रकाश द्युतिमान होने दो दुःखसे आनंद प्रकटित होने दो।"

"हे प्रभू, मेरी सान्त्वना कौन करेगा इसका विचार करने के लिये मुझे अवकाश न मिले, किन्तु अन्य प्राणियोंका सांत्वन करनेके लिये मुझे अवकाश मिले। दूसरों के मनके भावोंको मैं ज्ञात कर सकूं भले ही अन्य मेरे भावोंको ज्ञात करनेको प्रयत्नशील न हों। मैं दूसरोंके प्रेम की गणना न करूँ किंतु दूसरोंको मैं प्रीति प्रदान करते रहूँ।"

"हे प्रभू, मेरे सर्वस्वका दान मेरे हाथों संपन्न होने दो तथा मुझे प्रीतिका दान प्राप्त होने दो। मेरा जीवन क्षमाशील बनने दो और उसमेंसे तुम्हारी क्षमाका दर्शन मुझे होने दो। मेरी अंतिम साँसमें मेरा चिरजीवन खिलने दो।"

शुभांगिनी सरस्वती

महाभारतने सरस्वती को अतिशुभा कहा है। वैसे तो केवल शुभा यह विशेषण कोई किसी भी नदीको तीर्थस्वरूप प्रदान कर सकता है। किंतु सरस्वती अतिशुभा होने के हेतु वह शुभातीर्थ बनी है इसमें आश्चर्य नहीं।

यह शुभांगिनी परमपावन सरिता गुप्त है। चर्मचक्षुओंको उसका दर्शन नहीं हो सकता। क्योंकि उसकी उत्पत्ति अन्य साधारण नदियों की भांति किसी मिट्टी-पत्थर के बने पर्वत से नहीं हुई है। रासायनिक पृथक्करण करने योग्य जलराशि उसके प्रवाह में प्राप्त नहीं होती। ज्ञान के अधिष्ठान वेदमूर्ति ब्रह्मदेव की साँसमें ही उसका उगमस्थान है। याज्ञवल्कल धारण कर चिंतन-तपस्या करने के उपरांत ॐकार को अपने सम्मुख रखकर स्वर तथा व्यंजनों के निनाद से मुखरित लहरों का





अनुक्रमणिका

रूप धारण कर वह प्रवाहित हुई है। मति, स्मृति, प्रज्ञा, मेधा, बुद्धि तथा वाणी इन से वह प्रकट हुई है। उसका जाल ही वाङमय है।

ज्ञान की कक्षाएं जब सीमित थीं तब निसर्ग चमत्कारों के स्तोत्र गाकर अध्यात्मिक जिज्ञासापूर्ति होती थी। किन्तु जब जीवन को स्थिरता प्राप्त हुई तब अध्यात्मिक अतृप्ति वृद्धिगत होने लगी।" "एक सद्विप्राः बहुशा वदन्ति" इस प्रकार के अस्फुट विचारोंको पुरातन काल के ऋषियों ने प्रतिपादित किया था और आज उनके अर्थ का बोध होने लगा है। कोऽहं? यह प्रश्न खटकने लगा। कर्पास-धवल, दाढ़ी, मूंछें तथा आतुर जिज्ञासा इनमें अविरत ज्ञानचर्चाएं होने लगीं। उपनिषदों के ज्ञानगंध से खोजे हुए वन उपवन स्थान स्थान पर प्रकट होने लगे। इन उपवन के सुमनों के कणकण एकत्रित ज्ञानमधु को लूट-लूटकर यात्रिक रूपी मधुमक्षिकाएं उसे प्रयाग की पुण्यभूमि में ले जाने लगीं।

प्रतिमावान ऋषियों ने गंगायमुना के संगम को पृथ्वीका जघन भाग कहा है। ऋषियों की कल्पना है कि प्रयाग-तीर्थ पृथ्वीका उपस्थ है।

गंगायमुनयोर्मध्यं पृथ्वियां जघनं स्मृतम्।
प्रयागं जघनस्थानमुपस्थमृषयो विदुः॥
म. भा. व. ८६।७६.॥

ऋषियों के आश्रमों के आसपास के मार्गोंसे जो ज्ञानामृतका दोहन तथा मंथन अविरत चलू था उससे निर्मित नवनीत ने जब उपस्थ में प्रवेश किया तब उसमें से दिव्य देहिनी, शुभांगिनी, शुभस्मिता कन्या प्रकट हुई। वही कन्या सरस्वती नदी है। वही विद्याकी देवी है।

पृथ्वीवासियों के, स्वर्ग को ज्ञात करने की अभिलाषा स्वरूप, संपन्न प्रयत्नों में ही नदी का उद्‌गम है। इस के जन्म से स्वर्गधाराका अंतर घट गया है। मानव की प्रतिमा अज्ञात के मेघपटल पर प्रतिस्थापित होकर सत्यब्रह्म से समीपता का अनुभव करने लगी है। असाध्य बात साध्य हुई थी। सरस्वती को अपूर्व अलौकिकता प्राप्त हुई थी। गंगा-यमुना के पवित्र जल में स्नान करके उदित होनेवाली ज्ञानरूपी उषाको अपने मनोभावों का अर्घ्य अर्पण करनेवाले कविवर ऋषि सरस्वती के मनोहर दर्शन करके धन्य हो गये।

इस दर्शन के साक्षात्कार का वर्णन भला कैसे किया जाय? यह धवलवर्णा अवश्य है, किंतु किसकी भांति धवल? कुंदकलियों की भाँति? नहीं, नहीं, यह उपमा तो प्राकृत हुई। सरस्वती के रूप में प्रकटित धवलवर्णा की स्वर्गीयता के प्रकटीकरण के लिये यह उपमा सार्थक नहीं। तो फिर उसको उपमा किसकी दें? चंद्रमा के सुधा की। इंदुतुषारों की। किंतु यद्यपि इंदुतुषारों की उपमा से सरस्वती की स्वर्गीयता प्रकटित होती है तथापि पृथ्वीकी निकटता का आभास उस उपमा से प्रकट नहीं होता क्योंकि इंदुतुषार पी कैसे सकते हैं? उन इंदुतुषारों को क्या अंजुलिमें धर सकेंगे? उसके लिये भी उपाय है। कुंदकलियों तथा इंदुतुषार की एक माला बनायी जाए। ऐसा करनेपर इंदुतुषारों में नहलायी हुई कुंदकलियों का जो वर्ण होगा वही धवलिमा सरस्वती का। उस सरस्वती का केवल वर्ण ही धवल नहीं तथापि वसन भी धवल है। धवल पद्म के मृदुमृदुल केसर ही इसका आसन है। उसका वाहन है प्रत्यक्ष परमहंस परब्रह्म। नितांत सत्य भगवान के धवलवर्ण में इस सरस्वती के वाहन का धवलवर्ण अलग दृष्टिगत होना कठिन ही है। दोनों एक दूसरे में मिल गये हैं। उसके हाथ में वीणा है, उसमें से "सोऽहं, सोऽहं" के स्वरों का सरगम निकल पड़ता है। उस वीणा में से वेदोपनिषदों के झंकार निकल रहे हैं। सारा वातावरण मंगलमय होता है। सारा सच्चिदानंदमय। सारा धवल तथा शुचिभूत है।

सरस्वती का यह रूप इतना मनोहर होता है कि जो इसका दर्शन करता है वह उसपर लुब्ध हो जाता है, जिसे विद्यारुचि का लाभ हुआ उसे जीवन का धन प्राप्त हुआ। विद्याकी भाँति रुचिकर सहवास अन्य किसका हो सकता है? जिसके श्वास से सरस्वती जन्मी वह ज्ञानारंभरूपी ब्रह्मदेव भी उसके सहवास में रममाण हुआ। उस सरस्वती का दर्शन हो ;वह अपनी गोपनीयता को त्यागकर-प्रकट हो इस दृष्टिसे जिन जिन व्यक्तियों ने तपस्या की उन्हें एक बार उसका दर्शन होनेपर उसके सहवास को त्यागना असंभव-सा बना।

सरस्वती शुभा है। अतिशुभा है। वह ब्रह्मचारिणी है। उसे वासना का कलंक नहीं। उसके अकलंक, अलांछित सहवास में जो रममाण हुए वे भी अकलंक बन गये। वासना की तृप्ति हुई और ज्ञान तथा अनुभव एकत्रित बनकर अंतमें जो कुछ रह गया वह था निष्कलंक धवलिमा। एकमात्र कैवल्यानंद, सच्चिदानंद। •

प्र म द्व रा न र्म दा

भारत की गढ़न में सिन्धु, गंगा, तथा यमुना को जो स्थान प्राप्त है वही स्थान दक्षिण की गढ़न में नर्मदा, गोदावरी तथा कृष्णाको प्राप्त है। नर्मदा के तीरपर एक भव्य सांस्कृतिक परिवर्तन हुआ है। गोदावरी दक्षिण गंगाका तैथ्यिक पावित्र्य लिये हुए है और कृष्णा के तीर ने साम्राज्यों के वैभव देखे हैं।

नर्मदा का वैभव यही है कि वह दक्षिण की माता है। आज भी प्रत्येक दक्षिणवासी अपना स्थाननिर्देश करते समय 'नर्मदायाः दक्षिण तीरे" इस प्रकार किया करता है। नर्मदा ही दाक्षिणात्य संस्कृति की जनित्री तथा संरक्षिका है। सिंधु को लांघकर आये हुए आर्यों के दक्षिण के वैभव-विस्तार में बाधा नर्मदाने ही डाली। अपनी गोद में बसी हुई भील, शबर, गोंड इन आदि दाक्षिणात्य जातियों का नाश न हो इस

अनुक्रमणिका





के लिये वह जागृत रही। आदि दाक्षिणात्योंकी संस्कृति उपेक्षणीय न थी। संस्कृति के संकर काल के पूर्व अंतिम दाक्षिणात्य सम्राट रावण ने दीर्घकाल तक आर्यों को नतमस्तक कर रखा था। कुछ समय पूर्व तक गोंड की रानी दुर्गावती का मदन महल इस संस्कृति का साक्षात्कार करा रहा था।

सिंधु के तीर से उतरा हुआ हिंदु-संस्कृति का प्रवाह नर्मदा के रोकने पर उसीके तीर का आधार लेकर पूर्व दिशा में प्रवाहित हुआ। नर्मदाके पिता विंध्य तथा भ्राता सतपुड़ा इन समर्थ पिता-पुत्रोंने उसे अतुलनीय सहायता प्रदान की। पूर्व दिशा में मुड़े हुए इस संस्कृति के प्रवाह को सीधे अमरकंटक तक पुनश्च दक्षिणकी ओर मुड़ना साध्य नहीं हुआ। नर्मदाकी प्रदक्षिणा करने की यह नैसर्गिक आवश्यकता जीवन में इतनी सन गई कि अंतमें वह नर्मदा परिक्रमा से संबोधित होने लगी।

नर्मदा के उत्तर में प्रगत संस्कृतिमें पुरोहित सत्ता तथा राजसत्ता इनकी कक्षाएं स्पष्ट थीं। पुरोहित अग्रसर होकर त्यागदर्शी जीवन के आदर्शों से संस्कृति के विस्तार के लिये अपनी मनोभूमि को तैयार करते तथा उसके उपरांत राजसत्ता मनोजय प्राप्त करके वह विस्तार दृढ़ करती। यह पद्धति मूल भारतीय पद्धति है। सर्वप्रथम अगस्ती ऋषि नर्मदा लांघकर आये। उन्होंने दाक्षिणात्य संस्कृतिका महासागर पीकर, उसे नवसंस्कृत करके पुनः उसे मुक्त किया। तदनंतर श्रीरामने सांस्कृतिक लेन-देन का मार्ग रामेश्वर तक सुलभ बना दिया। पूर्वकाल में जिस प्रकार सिंधुतीर पर संस्कृति संगम हुआ उसी प्रकार अब भी संगम हुआ। उत्तर की संस्कृति के लिये रामेश्वर तक का मार्ग मुक्त मिला उसी भाँति नर्मदाने दाक्षिणात्य संस्कृति को हिमालय तक का मार्ग मुक्त करा दिया। नर्मदाको लांघकर आये हुए आर्योंको दाक्षिणात्य संस्कृतिसे अपने आपको जोड़ लेना पड़ा और अपनेको दाक्षिणात्यों में समा लेना पड़ा। रामेश्वर तक आर्योंको जिन दाक्षिणात्यों ने प्रवेश प्रदान किया उन्होंने आर्योंके इंद्रवरुणादि देवों को पाँवों तले तुड़वाया और अपने लिंगदेव शंकर को उमासे विहार करने के लिये अमरनाथ से लेकर बदरीनाथ तक सारा मार्ग खुला कर दिया। कृष्ण को वास के लिये भीमा के किनारे अल्पसा स्थान प्रदान किया तो लिंग को बनारस में विश्वेश्वर का स्थान दिलाया। राजविलासी विष्णुको जोगी महादेव के साथ समानता का व्यवहार करना पड़ा। इतना ही नहीं तो कुछ प्रसंगों में उसके पाँव भी धरने पड़े तब कहीं दक्षिण के किवाड़ आर्यों को लिये खुले। एक हनुमान हो तो दस राम प्रकटित होंगे किंतु इसके विपरीत एक राम हों तो दस हनुमान आ नहीं सकेंगे, इसी भूमिकाको लेकर राम की सेना प्रत्यक्ष युद्ध कर रही थी। इस बात के लिये रामायण में प्रमाण उपलब्ध हैं। उत्तरी संस्कृति के मानदंड हिमालयकी कन्या गिरिजा से खंडनी, दाक्षिणात्य संस्कृति के मानदंड विंध्य तथा रीढ़ सह्याद्रि, इनके नाथ शंकर को जब मिली, तब ही संस्कृति-संगम सुकर हुआ। इस बात के अनेक प्रमाण आज भी चारों ओर बिखरे पड़े हैं। जिस प्रकार शेरनी अपने बच्चों की रक्षा के लिये बड़ी सावधान तथा दक्ष रहती है उसी भाँति नर्मदा दाक्षिणात्यों की रक्षा के लिये सतत सावधान रही है। हर्ष जैसे सम्राट को उसने अपने पुत्र पुलकेशी द्वारा पराजय दिलाई है। दंडसत्ता की लहर अपवादात्मक रुपमें उत्तर आ जाये तो उसका प्रतिकार करने के लिये भीमथड़ी के घोड़ोंको अटक तक जाने की शक्ति प्रदान की है। आज भी हिंदी साम्राज्यवादियों को अपना गर्व दर्शाकर निडरतासे इतिहास की ओर उनको आकर्षित कर लेती है। नर्मदाका रक्त गोंड का रक्त है, शबरों का निडर रक्त ही है—"

भले तरी देऊँ सोडोनी लंगोटी,
नाठाळाचे माथीं सोटे मारूँ ।

यह इसकी आवाज है। स्वतः जीओ और दूसरोंको जीने दो यही उसका धर्म है।

उसकी देह ही नर्मदा है। नर्म का अर्थ है विलास, क्रीड़ा, शृंगार। इनका दान करनेवाली यानें नर्मदा। समस्त शांति विराजमान होनेपर वह अमरकंटक की वन-उपत्यकाओं में आँख-मिचौली खेलती है। धुआंधार प्रपातमें वह उच्छृंखल नृत्य करती है। मयसभा को भी लज्जित करनेवाले संगमर्मरी रंगमहल में सुधांशु को आलिंगन में बद्ध करके उसके चुम्बन लेते हुए मत्त प्रमदाकी भाँति अलसाई, तथा उन्मत्त बनी पड़ी रहती है। किन्तु यह सारा करते हुए दक्षिण के बालोद्यान में क्रीड़ा में लीन अपनी संतान की ओर उसका ध्यान अवश्य होता है। उनकी पुकार कानों में पड़ते ही वह रणरागिणी दुर्गावती बनकर अपना खड्गहस्त ऊपर उठाकर उन संतानोंकी रक्षा के लिये सिद्ध हो जाती है। मदन महल जिस भाँति दुर्गावती का प्रतीक है उसी भाँति दंडसत्ता पर दबाव डालनेवाला इतिहास भी उसका प्रतीक है। नर्मदा दुर्गावती की माता है। जैसी माता वैसी पुत्री। जैसी पुत्री वैसी ही माता। ●

ती र्थ रू पा गो दा व री

माते मज या उष्ण धुळीच्या कर्मभूमितुनि चटसरशी ।
उचलुनि देवि ब्रह्मगिरीवर गोदेसन्निध ठेव कशी ।।

हे माता, मुझे उष्ण धूलिकी कर्मभूमिसे निकालकर तुरंत ब्रह्मगिरीपर गोदावरीके सान्निध्य में रख दो।

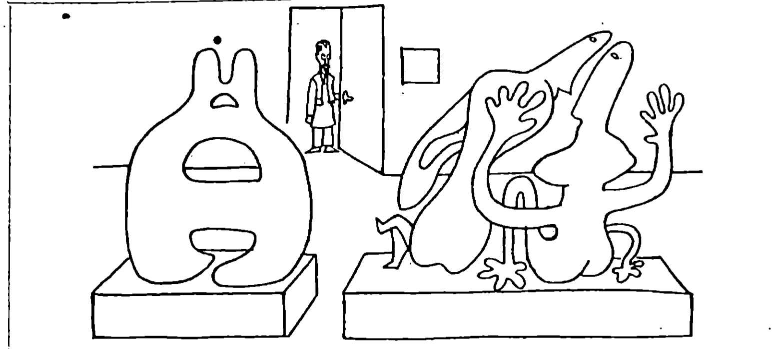
इस अर्थ में निकले हुए महाराष्ट्रीय कवि चंद्रशेखर के उद्गारों के पार्श्व में महाराष्ट्रीय हृदयों की तड़पन प्रकटित

अनुक्रमणिका

हुई है। जैसे कन्या को मैकेका आकर्षण उसी भाँति महाराष्ट्रीय मन को गोदावरी का आकर्षण है। गोदावरी मराठोंकी माता है। यह भाग्यशालिनी समस्त संसार की सरिताओं में परम धन्य सरिता है। तीर्थ-स्थानोंमें श्रेष्ठ तीर्थ स्नान ऐसी गंगामाता को भी गोदावरी के भाग्य से ईर्ष्या होती है। गुहकी नौका से यात्रा करते समय गंगामाता को जो अल्पसा दर्शन श्रीराम-चंद्रका हुआ उसीपर वह संतोष मान लेती है। उस क्षणिक सहवाससे गंगामें अभि-मान की बाढ़ आयी। तो फिर जिस गोदा-वरी के तीर पर अनेक वर्षोंका श्रीराम का निवास रहा उस गोदावरी के अभिमान तथा भाग्य का वर्णन भला कौन करेगा ?

जीवनभर दुःख में डूबी सीता को इसी महाराष्ट्रने तथा गोदावरी सरिता ने सुख प्रदान किया। अगस्ति मुनीने जब श्रीराम को वनवास के लिये स्थान निर्देश किया तब गोदावरी तीरका वर्णन इन्हीं शब्दों में किया गया था, "मैथिली तत्र रम्यते"–वहीं सीता को सुख प्राप्त होगा। अत्यंत अल्प तथा एक ही बार बोलने-वाले श्रीराम ने गोदावरी तीरका वर्णन 'इदं रम्यं इदं पुण्यं'—यह सौंदर्यशाली यह पुण्यशाली—इन शब्दोंमें किया है। श्रीराम अन्यत्र आसपास के स्थानों के संबंध में कहते हैं–'यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बंधवो मे'—यहां वृक्ष–पाषाण तथा पशुपक्षियों ने भी मुझे बंधुभाव प्रदान किया –। श्रीराम के इस भाँति के वर्णन में आश्चर्य कहाँ ? जटायू जैसे गिद्ध ने भी रामसीता के भावमय जीवन को विकसित करने के लिये सहकार्य देकर यहाँ जो भव्योदात्त महाकाव्य निर्माण किया उसका वर्णन और किस भाँति किया जा सकेगा ?

बटवारा करके सीमा निश्चित करने में प्रवीण तेलगु बांधव यह मानते हैं कि गोदावरी यह नाम, गोदे याने सीमा इस तेलगु शब्द से प्रचलित हुआ है। किंतु प्रीति का सौंदर्य विकसित करनेवाला मराठी मन इसको नहीं मानता। जलदेवी, गोस्वरूप कल्पित है। जलदेनेवाली यही गोदावरी और सभी गोदाओं में श्रेष्ठ वही



गोदावरी यह मराठी अर्थ अधिक सुरम्य तथा भावरम्य प्रतीत होता है। प्रत्येक गोदाकी ओर अपनी अपनी दृष्टि से देखता है। तेलंगना में वह गोदा तमाकू तथा चावल उगानेवाली तथा व्यापार सुकर करनेवाली व्यापक नदी मानी जाती है। तो मराठी मन उसके तीर पर त्रिंबकेश्वर नासिक, नेवासें, पैठण, नांदेड, जैसे भक्ति-रसमय साम्राज्य बसाता है। अमृत से भी सामना करनेवाली मराठी बोली यहीं जन्म लेती है, पलती है। भक्ति रस में उफ़ान लानेवाले अनेक संत तथा महान पुण्यात्मा यहीं जन्म लेते हैं। स्वर्ग से लूट लाकर अपनी भाषा तथा संस्कृति के मंदिर को समृद्ध बना देते हैं। धनी-निर्धन के भेदभाव को विस्मृत कर प्रेमानंदमें मग्न हो जाते हैं। "स भवति दरिद्रो यस्य तृष्णाविशाला मनासिच परितुष्टे कोऽर्थवान को दरिद्र :।"–जो लालची है वह दरिद्र है। जो तोषी उसे सब समान है। इन भर्तृहरी की काव्यपंक्तियों की भाँति यहाँ प्रेममद में तथा भक्ति वैभव में संतुष्ट बने हुए कलंदर गोदागौरव में ही समस्त वैभव का उपभोग लेते हैं।

गोदावरी के सौंदर्य के स्वरूप अनेक हैं। कहीं वह ढाई-तीन मील चौड़ी है तो कहीं भद्राचलकी भाँति ढाई–तीन सौ फुट संकरे स्थान से अपने प्रचण्ड जलौघ को ले जाती है। कहीं वह नहरों से भरी हुई है तो कहीं वनश्रीसे। किंतु मराठी मन को गोदावरी के एक ही रूप का दर्शन होता है। वह रूप है सीतामाता की गोदीमें शीश रखकर शीलापर लेटे हुए श्रीराम का, मराठी संस्कृति के प्रवाह के उद्गम स्थान का तथा अंजन–कांचन पारिजात, मौलसिरी तथा शीलामयदेश को स्तन्यपान करानेवाली गोदावरीका।

श्रीराम को यहाँ स्नान करने का अवसर प्राप्त हुआ तथा इस जल को पावित्र्य की देन मिली। यह देश मंगल, विमल तथा सफल हुआ। सीताकी देह की सुगंध यहाँ के फूलोंमें समा गयी। यहाँ, गिद्धोंमें भी मानवता निर्माण हुई। मराठी संस्कृति तथा चारित्र्य यहाँ उदित हुआ-और यहीं बना। टूटूंगा पर झूकुंगा नहीं परस्वका अपहार नहीं करूँगा; नारी की पूजा करूँगा; वचन का पालन करूँगा; स्नेह के अतिरिक्त अन्य किसी का ऋण नहीं रखूंगा; समस्त जीवन यद्यपि अग्नि-कुंड बन जाये तो भी स्वाभिमान नहीं त्यागूंगा; इस प्रकार की संस्कृति को श्रीराम ने इस स्थान पर बोया।

यहाँ की धूल में राम–सीताके चरण अंकित हुए। यहाँ के वृक्षों ने उनको छाया प्रदान की। यहाँ की शीलाएं उनकी शैय्या बनीं। यहाँ की वनश्रीने उनके नयनों को सुख प्रदान किया। यहाँ सीताने किसलय तोड़कर मानवता के बीज बोये। यहाँ लक्ष्मण ने निरपेक्ष सेवा का उच्च आदर्श निर्माण किया। रामसीता का भावबंध अधिक दृढ़ करनेवाला वह दिव्य विरह भी यहीं घटित हुआ।

उस समय पुरुषोत्तम श्रीराम के उस समर्थ पुरुष के दिव्य अश्रु गोदावरी में घुल गये, वही उस गोदावरीकी सार्थकता, वही उसकी तीर्थता, वही उसका सामर्थ्य। इसी सामर्थ्य के बलपर गोदावरीने मराठी अस्मिता का नीरांजन सतत जलाए रखा है और भविष्य में भी वह जलाए रखने--वाली है।

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥

- रूपा : सुलभा साठे

अनुक्रमणिका

४०

वर्षों से
लाखों लोगों की
सेवा में तत्पर

यह दिवाली हमारे ग्राहकों को
और हितचिंतकों के लिए सुख-समृद्धि और आनंद प्रदान करे!

वस्तीराम नारायणदास महेश्री | चांडक ब्रदर्स
सिन्नर (नासिक)

TOM & BAY

BNM/M-5 62

HINDI ANNUAL
Regd. No. BN. 8283/57

अनुक्रमणिका

